CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत में संघटित जीवन

CORPORATE LIFE IN ANCIENT INDIA

मूल लेखक :
डा॰ रमेशचन्द्र मजूमदार

अनुवादक :
प्रो॰ कृष्णदत्त वाजपेयी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

31·

3757

क्रमः — [illegible]
भारतीय विद्या प्रकाशन,
पोस्ट बक्स १०८ कचौड़ी गली
वाराणसी (यू० पी०)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत में संघटित जीवन

CORPORATE LIFE IN ANCIENT INDIA

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत में संघटित जीवन

CORPORATE LIFE IN ANCIENT INDIA

•

मूल लेखक :

डा० रमेशचन्द्र मजूमदार

•

अनुवादक :

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

•

सागर विश्वविद्यालय

सागर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

©
भारत सरकार

प्रथम संस्करण
वर्ष 1966

प्रस्तुत पुस्तक वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की मानक ग्रन्थ-योजना के अन्तर्गत शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार के शतप्रतिशत अनुदान से प्रकाशित हुई है

९०९.९५4
म प

मूल्य :

आठ रुपये

राज्य संग्रहालय ... लखनऊ
State Museum, Library, Lko.
3757
27/9

मुद्रक :
सिंघई प्रिंटिंग प्रेस,
मढ़ाताल, जबलपुर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रंथ अधिक से अधिक संख्या में तैयार किए जाएँ। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ में सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से प्रारम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करता रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नए साहित्य में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है, ताकि भारत की सभी शिक्षा-संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

'प्राचीन भारत में संघटित जीवन' नामक पुस्तक सागर विश्वविद्यालय द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक डा० रमेशचन्द्र मजूमदार और अनुवादक प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी हैं। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जाएगा।

निहालकरण सेठी

अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राक्कथन

1918 ई० के आरम्भ में मैंने कलकत्ता विश्वविद्यालय की डाक्टर आफ फिलासफी उपाधि के लिए 'कार्पोरेट लाइफ इन ऐंश्यंट इंडिया' शीर्षक मुद्रित निबन्ध प्रस्तुत किया। निबन्ध के स्वीकृत होने पर उसकी लगभग तीन सौ प्रतियां, जो मेरे पास बची थीं, बिक्री के लिए दे दी गईं। यही इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का संक्षिप्त इतिहास है।

जनता द्वारा ग्रन्थ का समादर तथा विद्वानों से प्राप्त उत्साहजनक आलोचनाओं तथा पत्रों ने मुझे प्रेरित किया कि पुस्तक का संशोधित संस्करण निकाला जाए। ऐसा करने में मुझे कुछ परिवर्द्धन तथा परिवर्तन करने पड़े, परन्तु इनके कारण ग्रन्थ के साधारण विषय-वस्तु तथा स्वरूप परिवर्तित नहीं हुए। मुझे यहाँ मुख्यतः दक्षिण भारत के अभिलेखों का उल्लेख करना है, जिनका उपयोग पहले और दूसरे अध्यायों में किया गया है। दूसरे अध्याय का अंतिम भाग, जिसमें दक्षिण भारत की ग्राम-संस्थाओं का विवरण है, संशोधित कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त मैंने ग्रन्थ में आए हुए अधिक महत्व के जर्मन और संस्कृत-उद्धरणों के अंग्रेजी अनुवाद भी बढ़ा दिए हैं।[1]

मेरा कर्तव्य है कि मैं उन विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर दूं जिन्होंने पुस्तक के संबंध में अनुकूल विचार व्यक्त किए हैं और उसे अधिक उपयोगी बनाने के लिए व्यक्तिगत पत्रों तथा प्रेसों के माध्यम द्वारा उपयोगी सुझाव दिए हैं। इन विद्वानों में दिवंगत श्री वी० ए० स्मिथ, श्री एफ० पार्जीटर, डॉ० ए० बी० कीथ, डॉ० ई० डब्ल्यू० हाप्किंस तथा डॉ० एल० डी० बार्नेट के नाम आते हैं।

---

1. लेखक ने हिंदी-संस्करण को विशेष उपयोगी बनाने के लिए मूल ग्रन्थ में आवश्यक परिवर्धन कर दिए हैं—अनुवादक।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन सबसे अधिक मैं सर आशुतोष के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जो कलकत्ता विश्वविद्यालय के संरक्षक-अधिदेव हैं। उन्हीं के कारण मुझे अवकाश तथा सुयोग प्राप्त हो सके, जिससे मैं प्राचीन भारतीय इतिहास के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य कर सका। मैं अपने को भाग्यवान् समझता हूँ कि उन्होंने मेरे प्रथम प्रयास के इस फल को अपने प्रतिष्ठित नाम के साथ संबंधित करने की आज्ञा प्रदान की।

अंत में मैं इस अवसर पर प्रोफेसर डी० आर० भण्डारकर, एम० ए०, राधागोविन्द बसाक, एम० ए०, रामप्रसाद चंदा, बी० ए० तथा डॉ० आइ० जे० एस० तारापुरवाला, बी० ए०, पी० एच० डी० को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मुझे समय-समय पर सहायता प्रदान की, जिसका उल्लेख ग्रंथ में यथास्थान कर दिया गया है। इम्पीरियल लाइब्रेरी के अध्ययन-कक्ष के सुपरिटेंडेंट श्री सुरेन्द्रनाथ के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने कृपापूर्वक उन ग्रन्थों तथा पत्रिकाओं को मेरे लिए सुलभ किया जिनकी मुझे इस ग्रन्थ के लिए आवश्यकता थी।

रमेशचन्द्र मजूमदार

कलकत्ता,
28 अगस्त, 1920

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

	पृष्ठ
भूमिका	3–11
संकेत-सूची	12
1 अध्याय : आर्थिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ	13
2 अध्याय : राजनीतिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ (१)	94
3 अध्याय : राजनीतिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ (२)	208
4 अध्याय : धार्मिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ	273
5 अध्याय : सामाजिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ	313
विशिष्ट शब्दावली (Glossary)	376

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन सबसे अधिक मैं सर आशुतोष के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जो कलकत्ता विश्वविद्यालय के संरक्षक-अधिदेव हैं। उन्हीं के कारण मुझे अवकाश तथा सुयोग प्राप्त हो सके, जिससे मैं प्राचीन भारतीय इतिहास के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य कर सका। मैं अपने को भाग्यवान् समझता हूँ कि उन्होंने मेरे प्रथम प्रयास के इस फल को अपने प्रतिष्ठित नाम के साथ संबंधित करने की आज्ञा प्रदान की।

अंत में मैं इस अवसर पर प्रोफेसर डी० आर० भण्डारकर, एम० ए०, राधागोबिन्द बसाक, एम० ए०, रामप्रसाद चंदा, बी० ए० तथा डॉ० आइ० जे० एस० तारापुरवाला, बी० ए०, पी० एच० डी० को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मुझे समय-समय पर सहायता प्रदान की, जिसका उल्लेख ग्रंथ में यथास्थान कर दिया गया है। इम्पीरियल लाइब्रेरी के अध्ययन-कक्ष के सुपरिटेंडेंट श्री सुरेन्द्रनाथ के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने कृपापूर्वक उन ग्रन्थों तथा पत्रिकाओं को मेरे लिए सुलभ किया जिनकी मुझे इस ग्रन्थ के लिए आवश्यकता थी।

कलकत्ता, **रमेशचन्द्र मजूमदार**

28 अगस्त, 1920

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

•

	पृष्ठ
भूमिका	3–11
संकेत-सूची	12
1 **अध्याय** : आर्थिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ	13
2 **अध्याय** : राजनीतिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ (१)	94
3 **अध्याय** : राजनीतिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ (२)	208
4 **अध्याय** : धार्मिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ	273
5 **अध्याय** : सामाजिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ	313
विशिष्ट शब्दावली (Glossary)	376

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भूमिका

सभ्यता की वर्तमान अतिविकसित स्थिति में जो बात सबसे अधिक प्रभावोत्पादक रही है वह है सहकारिता की भावना। जनतंत्रीय शासन की दिशा में किए गए विशाल प्रयोग और सारे संसार में फैली हुई बड़ी आर्थिक संस्थाएं, जिन्हें आज हम अपने चारों ओर देखते हैं, वर्तमान युग के निर्माण के लिए उत्तरदायी हैं। उनका उद्भव जिस संघटित प्रणाली से हुआ है उसे और सफलता के वर्तमान उच्च स्तर को यदि आज की संस्कृति का विशिष्ट तत्व माना जाए तो युक्तिसंगत कहा जाएगा। ऐसा ठीक ही समझा जाता है कि कोई भी राष्ट्र, जिसमें संस्कृति का यह सारभूत तत्व विद्यमान नहीं है, संसार की प्रगति के साथ चलने में समर्थ नहीं हो सकता।

किसी राष्ट्र में संघटित जीवन के इस महत्व का विचार करते हुए मुझे प्रस्तुत विषय का चुनाव करने के संबंध में किसी प्रकार के औपचारिक क्षमा-याचन की आवश्यकता नहीं। संस्कृति के इस पक्ष में वर्तमान भारत बहुत पिछड़ा हुआ है, परन्तु, जैसा कि अगले पृष्ठों में दिखाया जाएगा, प्राचीन काल में परिस्थिति बिलकुल भिन्न थी। सहकारिता की भावना प्राचीन भारत के प्रायः सभी क्षेत्रों में बहुत स्पष्ट रूप में विद्यमान थी और सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में ही नहीं, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन में भी वह व्याप्त थी। जीवन के प्रथम दोनों क्षेत्रों में प्रख्यात जाति और संघ (बौद्ध भिक्षुओं का संगठन) इस भावना के उल्लेखनीय परिणाम हैं। यही भावना राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में भी विद्यमान थी, जिसके परिणाम गण (राजनीतिक निगम) तथा श्रेणि के रूप में देखे जा सकते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राचीन भारत की संघटित प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त एक दूसरी दिशा में भी हमारे दृष्टिकोण को व्यापक बनाने का प्रयास किया गया है। प्राचीन भारत के लोगों ने जीवन के विविध क्षेत्रों में जो उल्लेखनीय सफल उद्योग किए उनके विवरण से प्राचीन जीवन की प्रवृत्तियों का एक सच्चा चित्र हमारे सामने खिंच जाएगा। इससे निस्संदेह यह बात प्रमाणित हो जाएगी कि धर्म जन-मानस के समग्र अथवा उसके एक बड़े भाग पर नहीं छाया हुआ था और इस दिशा में संघटित प्रवृत्तियाँ, जो प्राचीन भारत में विद्यमान थीं, एकाकी रूप में न होकर केवल उस भावना का एक अंग थीं जो जन-जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में ओतप्रोत थी।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है, किसी लेखक ने अभी तक इस विषय का सांगोपांग विवेचन नहीं किया है। कुछ विद्वानों ने संघ, गण-जैसे प्रकरणों पर अलग-अलग लेख लिखे हैं, परन्तु उन सबका पारस्परिक संबंध, उस दृष्टिकोण से जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, किसी के द्वारा प्रदर्शित नहीं किया गया। इन एकाकी विषयों के संबंध में भी बहुत कम लिखा गया है। प्राचीन श्रेणियों का संक्षिप्त, किन्तु उपयोगी, विवरण हॉप्किंस ने अपनी नई पुस्तक India, Old and New में दिया है। परन्तु इस संस्था का विस्तृत ऐतिहासिक विवेचन, संभवतः पहली बार, अगले पृष्ठों में किया गया है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, प्रथम अध्याय में वर्णित आर्थिक जीवन में संघटित प्रवृत्तियों के अन्य रूपों का विवेचन किसी अन्य विद्वान् ने नहीं किया। दूसरे अध्याय में उपलब्ध विभिन्न सूचनाओं के प्रासंगिक उल्लेखों का उपयोग मैंने किया है, जिनके बारे में विस्तृत निर्देश टिप्पणियों में दे दिए गए हैं। विषय का व्यवस्थित विवेचन, विशेषतः दक्षिण भारत की ग्राम संस्थाओं का अध्ययन, पूर्णतया नया और मौलिक है। अराजतंत्रीय राज्यों का साधारण परिचय, जो हमारे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तीसरे अध्याय का विषय है, श्री रीज डैविड्स तथा श्री के० पी० जायसवाल के द्वारा दिया गया है । मैंने पाद-टिप्पणियों में इन विद्वानों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है । परन्तु मैंने प्राचीनतम काल से लेकर अंतिम युग तक इन संस्थाओं के उदय और विकास का ऐतिहासिक विवरण देने का प्रयास किया है ।

बौद्ध संघ की विशेषताओं की ओर कई विद्वानों, मुख्यतः ओल्डेनबर्ग, का ध्यान गया । परन्तु इस संस्था का विवरण, मुख्यतः उसके संघटित स्वरूप तथा प्राचीन भारत के धार्मिक संघटनों का साधारण परिचय, जो चौथे अध्याय में दिया गया है, किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता । जाति-प्रथा के उद्गम के संबंध में बहुत लिखा जा चुका है और इस विषय पर अनेक मतों की स्थापना की गई है, जिन सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता, परन्तु सामाजिक निगम के रूप में जाति का अध्ययन और इस दृष्टि से उसके उद्भव, वृद्धि तथा विकास का ऐतिहासिक परिशीलन इस ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में पहली बार किया गया है । इस विषय पर उस मौलिक ग्रन्थ-संग्रह से मैंने पर्याप्त सहायता ली है जो निम्नांकित विद्वानों के ग्रन्थों में संगृहीत है : वेबर के Indische Studien (collectanea über die Kasten-verhältnisse in den Brāhmaṇa und Sūtra) की दसवीं जिल्द; सेना का विद्वत्तापूर्ण लेख Les castes Dans l'Inde तथा इस ग्रन्थ पर जॉली और ओल्डेनबर्ग की दो जर्मन आलोचनाएं, जो ZDMG की जिल्द संख्या 50 और 51 में प्रकाशित हुई हैं । मेरा आभार इन विद्वानों द्वारा प्रदत्त विषयगत सामग्री तक ही सीमित है, क्योंकि मेरे निष्कर्ष भिन्न हैं और विषय का विवेचन, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, बिलकुल नया है । इसी प्रकार बौद्ध-काल-विषयक मूलभूत सामग्री के लिए मैंने फ़िक के ग्रन्थ Die Sociale Gliderung Im Nordosttichen Indien Zu Buddha's

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Zeit का भी उपयोग किया है। परंतु मैंने नई सामग्री भी ढूँढ़ निकाली है और जाति-विषयक बौद्ध उद्धरणों का संग्रह, जो ग्रन्थ के अंतिम अध्याय में मिलेगा, अपने ढंग का सर्वाधिक व्यापक कहा जा सकता है। ब्राह्मण-वर्ण की उत्पत्ति के संबंध में मेरी मान्यता कुछ मानों में विचित्र कही जा सकती है, और यद्यपि मैं उसे अंतिम मानने का दावा नहीं कर सकता, वर्तमान उपलब्ध प्रमाणों की स्थिति में वह मुझे सबसे ठीक जँचती है। इस मत की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति से विषय के साधारण विकास पर, जो अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक है, कोई असर नहीं पड़ता। जाति-प्रथा के गुणों या अवगुणों के संबंध में सभी प्रकार के विवादों से मैंने अपने को बचाया है, क्योंकि ऐसा न करने में मुझे आधुनिक युग की एक अत्यंत विवादग्रस्त समस्या में उलझ जाना पड़ता। मैंने इससे अपने को यथाशक्ति दूर रखा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जाति-प्रथा के कारण लोगों को संघटित जीवन के लाभ प्राप्त हो सके, यद्यपि जिस रूप में जाति-प्रथा आज विद्यमान है उसे उचित ठहराना कठिन लगता है। इस प्रथा में सुधार के संबंध में मैंने कोई सुझाव नहीं दिए न मैंने सिद्धांततः इस ग्रन्थ में किसी प्रकार के दार्शनिक विवादों को ही स्थान दिया है। मेरा उद्देश्य रहा है कि तथ्यों को क्रमबद्ध उपस्थित कर दिया जाए जिससे यथासंभव प्राचीनतम काल से लेकर अंतिम समय तक का विभिन्न संस्थाओं का क्रमिक विकास दिखाया जा सके। ऐसा करते समय मैंने सदा अपनी सूचनाओं के स्रोत प्रकट कर दिए हैं, जिससे उन लेखकों के संदर्भ में, जिनके आधार पर उन्हें लिखा गया है, मेरे निष्कर्षों की परीक्षा की जा सके।

उन विभिन्न साहित्यिक ग्रन्थों की रचना-तिथि के संबंध में कुछ कहना आवश्यक है जिनसे इस ग्रन्थ में सामग्री ली गई है। मैंने ग्रन्थ के अन्दर इस विषय पर चर्चाएँ नहीं कीं, क्योंकि इससे वहाँ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्णित विषय-वस्तु की समरसता भंग हो जाती । जैसा कि पता चलेगा, मैंने मुख्यतया दो वर्गों के ग्रन्थ आधार रूप में लिए हैं : एक ब्राह्मणधर्म संबंधी और दूसरे बौद्ध । वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रथम वर्ग के अंतर्गत अन्य ग्रन्थ धर्म-सूत्र और धर्म-शास्त्र आते हैं । पहले प्रकार के ग्रन्थों के लिए ऐसी निश्चित तिथियाँ नहीं दी जा सकतीं जो सब लोगों को स्वीकार हों । पर मोटे तौर पर उनका रचना-काल ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी माना जा सकता है । दूसरे प्रकार के ग्रन्थों के निर्माण-काल के संबंध में मैं पूर्णतया जे० जॉली के उस अंतिम विचार से सहमत हूँ जिसका प्रति-पादन उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Recht und Sitte में किया है । इस विषय पर उनके विचारों को निम्न तालिका द्वारा समझा जा सकता है :

प्राचीनता के क्रम से ग्रन्थ का वर्गीकरण		अनुमानित तिथि	Recht und Sitte का सन्दर्भ
धर्मसूत्र	1. गौतम	पाँचवीं या छठी शती ई० पूर्व	पृष्ठ 5–6
	2. बौधायन		पृष्ठ 4
	3. आपस्तंब	चौथी या पाँचवीं शती ई० पूर्व	पृष्ठ 3
	4. वसिष्ठ		पृष्ठ 7
धर्मशास्त्र	5. मनुस्मृति	ई० दूसरी या तीसरी शती के पश्चात् की नहीं	पृष्ठ 16
	6. विष्णु-स्मृति	ई० तीसरी शती से पहले की नहीं	पृष्ठ 7
	7. याज्ञवल्क्य	ई० चौथी शती	पृष्ठ 21
	8. नारद	पाँच सौ ईस्वी	पृष्ठ 23
	9. बृहस्पति	ई० छठी या सातवीं शती	पृष्ठ 27
	10. कात्यायन		पृष्ठ 28

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रन्थ-रचना का यह तिथिक्रम प्रायः मान्य है[1] और प्रस्तुत ग्रन्थ में इसे अपनाया गया है। मैंने केवल मनुस्मृति की तिथि के संबंध में कुछ हेर-फेर किया है। इस ग्रन्थ का रचना-काल मैंने बूलर के मतानुसार ई० पू० दूसरी शती तथा ई० दूसरी शती के बीच का माना है (**सं० बु० ई०**, जिल्द, 25, पृ० 117)।

अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में से बृहदारण्यक-उपनिषद् का रचना-काल ई०पू० 600 के[2] पहले माना गया है और अर्थशास्त्र को अधिकारी समीक्षक चंद्रगुप्त मौर्य के समय[3] (ई० पू० 320) का मानते हैं। रामायण का मुख्य अंश ई० पू० 500 के पहले रचा गया, यद्यपि अधिक नवीन भाग संभवतः ई० पू० दूसरी शती या उसके बाद तक नहीं जोड़े गए[4]। वर्तमान रूप में महाभारत ग्रन्थ 350 ई० के लगभग विद्यमान था[5]। पाणिनि के संबंध में डा० भण्डारकर से मैं सहमत

---

1. श्री के० पी० जायसवाल ने अपनी टैगोर-विधि भाषणमाला में बिलकुलभिन्न तिथि-प्रणाली दी है। उनके अनुसार गौतम, बौधायन तथा वसिष्ठ के ग्रन्थ, जो इस समय उपलब्ध हैं, क्रमशः ई० पूर्व 350, ई० पू० 200 और ई०पू० 100 में निर्मित हुए। जायसवाल इन ग्रन्थों का प्रारम्भिक मूल रूप ई० पू०500 में रचित मानते हैं। उनके उक्त भाषण अभी प्रकाशित नहीं हुए और न मुझे अभी तक ऐसा अवसरमिला है कि जायसवाल के मत की विस्तार से समीक्षा कर सकूं।

2. मैकडानल, **हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर**, पृ० 226।

3. दे० जॉली का लेख, **जेड० डी० एम० जी०**, **जिल्द** 67, पृ० 49–96 (विशेषतः पृ० 95–96)।

4. मैकडानल, **वही**, पृ० 309।

5. वही, पृ० 287; बूलर के अनुसार यह रचना-काल 300 और 500 ई० के बीच में है (**हिस्ट्री आफ दि महाभारत** में बूलर तथा क्रिस्टे के लेख)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हूं जिनके अनुसार पाणिनि ई० पू० सातवीं शती में हुए[1]।

बौद्ध ग्रन्थों में से जातक-कथाओं का अधिक उपयोग किया गया है। उनमें राजनीतिक तथा सामाजिक दशाओं के जो संदर्भ मिलते हैं उनके आधार पर फिक उन्हें बुद्धकालीन मानते हैं। रीज डेविड्स उनका समय इसके भी पहले का अनुमान करते हैं[2]। इन दोनों विद्वानों के आधार पर मैंने जातकों के युग को ई० पू० सातवीं और छठी शती में रखा है। विनय तथा सुत्तपिटक-जैसे सिद्धान्त-संबंधी बौद्ध ग्रन्थों को ओल्डेनबर्ग तथा रीज डेविड्स लगभग ई० पू० चौथी शती का मानते हैं[3]। मैंने यहाँ उन प्रमाणों को उद्धृत करना आवश्यक नहीं समझा जो इन मतों की पुष्टि के लिए दिए गए हैं। मैंने केवल निष्कर्ष को ग्रहण किया है,जिससे अधिकांश विद्वान् सहमत प्रतीत होते हैं[4]।

मैं अपने पाठकों को याद दिला देना चाहता हूँ कि इस पुस्तक के विभिन्न प्रकरण केवल एक ही दृष्टिकोण से लिखे गए हैं और वह यह है कि प्राचीन भारत के संघटित जीवन पर वे क्या प्रकाश डालते हैं। उदाहरण के लिए जाति और संघ-जैसी संस्थाओं के अनेक महत्वपूर्ण लक्षण हैं, जो इस ग्रन्थ में उल्लिखित लक्षणों के अतिरिक्त हैं। परन्तु उनके संबंध में कोई विचार इसीलिए नहीं किया गया

---

1. **बम्बई गजेटियर** (1896), जिल्द 1, भाग 2, पृ० 141।
2. फिक, पृ० 6–7; **बुद्धिस्ट इण्डिया** पृ० 207।
3. **सै० बु० ई०**, जिल्द 23; **वही**, जिल्द 11, पृ० 10।
4. डा० ए० बी० कीथ ने कृपापूर्वक मुझे यह सूचित किया है कि मेरे द्वारा अर्थशास्त्र और जातकों के लिए जो समय निर्धारित किया गया है उससे वे सहमत नहीं हो सकते। जातकों के संबंध में डा० हॉप्किंस ने भी ऐसा ही सूचित किया है, परन्तु अर्थशास्त्र की तिथि के संबंध में उनका मन आग्रहरहित है। (शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि वे विषय-वस्तु पर कोई प्रकाश नहीं डालते। ऐसे ही कारणों से ध्यान देने पर पता चलेगा कि दूसरी अनेक बातों को भी इस ग्रन्थ में नहीं दिया गया।

अंत में मैं यह निवेदन कर दूँ कि पादटिप्पणियों में मैंने सभी पूर्ववर्ती लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट कर दिया है। यदि इस संबंध में कोई चूक हो गई है तो वह भ्रमवश हुई होगी। सिद्धांततः मैंने निम्नांकित ग्रन्थों के टकसाली अनुवादों का उल्लेख नहीं किया, यद्यपि मैंने अक्षरशः (अथवा प्रायः अक्षरशः) उनसे उद्धरण दिए हैं। यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि इन ग्रथों के वाक्यांशों के अंग्रेजी अनुवाद, जब तक कोई बात अन्यथा न लिखी गई हो, उन ग्रथों के विद्वान् अनुवादकों से लिए गए हैं। ये ग्रंथ इस प्रकार हैं :

1. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित विभिन्न विद्वानों द्वारा किया गया जातकों का अनुवाद।
2. आपस्तम्ब, गौतम, वसिष्ठ, बौधायन, मनु, नारद तथा बृहस्पति संहिताओं के अनुवाद (सैक्रेड बुक्स आफ दि

सारे प्रश्न पर मैंने बड़ी सावधानी के साथ पुनः विचार किया है और मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि इस संबंध में मतभेद की गुंजायश है। यह विचार कि जातकों या अर्थशास्त्र की रचना वास्तव में मेरे द्वारा निर्धारित समय में हुई थी युक्तिपूर्वक अमान्य ठहराया जा सकता है, परन्तु मैं समझता हूँ कि इतना तो माना जा सकता है कि इन ग्रंथों में जिस समाज और शासन का चित्रण मिलता है वह उन युगों से मेल खाता है जो मेरे द्वारा प्रस्तावित तिथियों से अधिक दूर नहीं। बूलर, रीज डेविडस् और फिक द्वारा जातकों के संबंध में दिए गए तर्क और अथशास्त्र के विषय में जर्मन विद्वानों के उस दृष्टि से किए गए विवेचन, जिसका मैंने अभी निर्देश किया है, आसानी से असंगत नहीं ठहराए जा सकते।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ईस्ट सीरीज में प्रकाशित क्रमश: जिल्द 2, 14, 25 तथा 33) ।

3. विनय-ग्रंथों तथा बौद्ध सूत्रों के अनुवाद (सें० बु० ई०, जिल्द 13, 17, 20 तथा 11) ।
4. आर० शामशास्त्री, बी० ए० द्वारा कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अनुवाद ।

प्रस्तुत ग्रंथ में लिप्यन्तरण का ढंग वही है जो इंडियन ऐंटिक्वेरी में अपनाया गया है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संकेत-सूची

A. L. (ए० एल०)	—	Altindisches Leben (ज़िमर कृत, बर्लिन, 1979)
अभि०	—	अभिलेख
इंडि० ऐंटि०	—	इंडियन ऐंटीक्वेरी
ई०	—	ईस्वी
एपि० इंडि०	—	एपिग्राफिया इंडिका
ज० बि० उ० रि० सो०	—	जर्नल आफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी
ज० रा० ए० सो०	—	जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी
ज० ए० सो० बं०	—	जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी, बंगाल
जा०	—	जातक
जि०	—	जिल्द
दे०	—	देखिए
पा० टि०	—	पाद-टिप्पणी
पृ०	—	पृष्ठ
बिब्लि० इंडि०	—	बिब्लिओथिका इंडिका
मि०	—	मिलाओ
लूडर्स	—	लूडर्स द्वारा संकलित ब्राह्मी अभिलेख (एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 10 का परिशिष्ट)
श्लो०	—	श्लोक
सं०	—	संख्या
सै० बु० ई०	—	सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट सीरीज

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत में संघटित जीवन

१ अध्याय

आर्थिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियां

§ १

संघटित भावना एक मानवीय वृत्ति—मानव में सहकारिता की भावना एक सामाजिक वृत्ति है। बहुत आदिम काल से, जहाँ तक हमारी जानकारी जाती है, यह वृत्ति किसी न किसी रूप में मनुष्य-समाज में विद्यमान रही है। साथ ही, मनुष्य की प्रकृति और उस वातावरण के अनुसार, जिसमें वह अपने को पाता है, वह वृत्ति विशेष सक्रिय होकर किसी प्रबुद्ध संगठन का रूप धारण कर लेती है। वातावरण का प्रकार ही संगठन का स्वरूप निर्धारित करता है, परन्तु उसके विकास का रूप प्रायः उस समाज की स्वाभाविक प्रतिभा पर निर्भर रहता है जिसमें उसका पोषण होता है। इसीलिए हम प्रायः सब कालों और सब देशों के मनुष्यों की गतिविधि के विभिन्न क्षेत्रों–सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक—में सहकारी संगठन का अस्तित्व देखते हैं, चाहे वह कितने ही अविकसित रूप में क्यों न हो। हाँ, इस संगठन का विकास संसार के विभिन्न भागों में अलग-अलग ढंग का मिलता है।

भारत में इसका प्रारम्भिक स्वरूप—प्राचीन भारत में संघटक प्रवृत्ति सर्वप्रथम आर्थिक क्षेत्र में स्पष्ट रूप में विद्यमान मिलती है। बृहदारण्यक उपनिषद् के एक उद्धरण[1] को शंकराचार्य

1. "स नैव व्यभवत्, स विशमसृजत्, यान्येतानि देवजातानि गणशः आख्यायन्ते" १।४।१२। (शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की टिप्पणी के साथ देखने से ऐसा आभास मिलता है । उसमें बताया गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—मानवीय समाज के इन चार वर्णों के अनुरूप ब्रह्मा ने देवताओं में भी वैसे वर्गों का निर्माण किया । परन्तु केवल प्रथम दो वर्गों के निर्माण से ब्रह्मा संतुष्ट नहीं हुए, क्योंकि वे दोनों सम्पत्ति का अर्जन नहीं कर सकते थे । अतः वैश्यों की उत्पत्ति की गई जो 'गणशः' कहलाए, क्योंकि व्यक्तिगत प्रयास से नहीं अपितु सहकारिता के द्वारा वे सम्पत्ति उपार्जित करने में समर्थ थे ।

बृहदारण्यक उपनिषद् का यह प्रसंग परवर्ती वैदिककालीन आर्थिक जीवन में सहकारिता के पर्याप्त विकसित रूप का स्पष्ट परिचय देता है । यह और भी ध्यान देने योग्य है कि उपनिषद्कार वैश्यों में ही गण या संघटक व्यवस्था की चर्चा करता है, और वह भी इस रूप में कि दोनों उच्च वर्गों को निश्चय रूप से प्रथक् किया गया है । इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों में संघटित व्यवस्था, जो क्रमशः धार्मिक तथा राजनीतिक प्रकार की थी, उतना अधिक महत्व नहीं प्राप्त कर सकी थी जितना कि आर्थिक क्षेत्र में ।

व्यापारियों का संगठित स्वरूप—यह आसानी से समझा जा सकता है कि प्राचीन भारत में व्यापारियों में एक प्रकार की सहकारिता

शंकराचार्य की व्याख्या में इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार दिया है :
"क्षात्र सृष्टोपि स नैव व्यभवत् । कर्म्मणे ब्रह्म तथा न व्यभवत् वित्तोपार्ज्जयितुरभावात् । स विशमसृजत् कर्म्मसाधनवित्तोपार्ज्जनाय । कः पुनरसौ विट् यान्येतानि देवजातानि, स्वार्थे निष्ठा य एते देवजातिभेदा इत्यर्थः गणशः गणं गणं आख्यायन्ते कथ्यन्ते गणप्राया हि विशः । प्रायेन संहता हि वित्तोपार्ज्जनसमर्थाः नैकैकशः ।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तत्कालीन असुरक्षा के परिणामस्वरूप आवश्यक थी । प्रायः लम्बी दूरियों और असुरक्षित सड़कों को पार करने के लिए, जबकि व्यापारी-गण वैयक्तिक रूप से लुटेरों और लड़ाकू कबीलों का सामना करने में असमर्थ थे, एक निकाय में संगठित होने पर वे उनका सफल प्रतिरोध कर सकते थे । इस प्रकर के संकटों की स्थिति का उल्लेख परवर्ती साहित्य में विशेष रूप से मिलता है । यथा: एक जातक कथा में एक वयोवृद्ध नेता के अधीन पाँच सौ लुटेरों वाले गाँव की चर्चा है । इन[1] लुटेरों के संगठन का प्रतिरोध व्यापारियों के ऐसे ही संगठन द्वारा किया गया, जिसका उल्लेख कई जातक-कथाओं में मिलता है[2] । यह युक्तिसंगत ही है कि उसी रीति से व्यापारियों के वर्गों का संगठन भारतीय इतिहास के अन्य प्राचीन कालों में भी अस्तित्व में आया हो । इसके समर्थन में प्रमाणों का नितान्त अभाव नहीं है ।

'पणि' शब्द ऋग्वेद में कई बार आया है । इसकी व्याख्या अनेक विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है[3] । सेंट पीटसबर्ग कोश उसे 'पण्' (परिवर्तन करना) धातु से उद्भूत मानता है और उसकी व्याख्या 'व्यापारी या वणिक' करता है । जिमर[4] और लुडविग[5] भी इस शब्द को व्यापारी के ही अर्थ में लेते हैं ।

एक ऋचा में देवताओं से पणियों पर आक्रमण करने को कहा जाता है । पणियों के परास्त होने तथा उनके संहार का भी उल्लेख किया गया है[6]। लुडविग का अनुमान है कि पणियों के साथ

1. सत्तिगुम्ब जातक, **जातक,** जिल्द 4, पृ० 430 ।
2. जरुदपन जातक, **जातक,** जिल्द, श्री पृ० 294 ।
3. द्रष्टव्य **वेदिक इंडेक्स,** पृ, हूँ और पथ ब्राह्म ।
4. शान वान, **यास्क** प्रियुक्त हुआ है पृ० 257 ।
5. **ऋग्वेद** 3, 213–शि, 'गण' शब्द
6. **वेदिक इंडेक्स,** कॅड बुक्स आफ दी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संघर्षों के इन उल्लेखों का आशय यह है कि वे आदिम व्यापारी थे, जो अरब और उत्तरी अफ्रीका की भांति काफिलों में चलते थे। वे आवश्यकता पड़ने पर अपनी वस्तुओं की उन आक्रमणों से रक्षा करने के लिए जिन्हें आर्य स्वभावत: न्यायोचित समझते थे युद्ध के हेतु तैयार रहते थे। यदि हम इस व्याख्या को स्वीकार करते हैं तो हमें निश्चय ही व्यापारियों के उस संघटन का अस्तित्व मानना पड़ेगा जो अपने विरोधियों को विफल बनाने और उनके विरुद्ध संघर्ष जारी रखने में पर्याप्त सबल था। इस प्रकार जातकों में उल्लिखित इस संस्था को उस काल तक ले जाया जा सकता है जिसका प्रतिनिधित्व ऋग्वेद की ऋचाएं करती हैं।[1]

शिल्पियों का संघटित स्वरूप—उसी वर्ग के अन्तर्गत शिल्पियों का संगठन आता है, यद्यपि उसका स्वरूप और उद्भव कुछ भिन्न लगते हैं। निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है कि ये संस्थाएँ, जो मध्यकालीन यूरोप की श्रेणियों से मिलती–जुलती हैं, प्रारम्भिक वैदिक काल में विकसित हो चुकी थीं। इस संबंध में मुख्य प्रमाण वैदिक साहित्य में श्रेष्ठि[2] तथा गण[3] शब्दों के प्रयोग हैं।

यह भलीभांति ज्ञात है कि परवर्ती साहित्य में 'श्रेष्ठिन्' शब्द श्रेणि-प्रधान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। डा० मैकडानल[4] का मत

---

1. पर जैसा पहले कहा गया है, इस शब्द का अर्थ जो यहाँ दिया गया है सर्वमान्य नहीं है।
2. **ऐतेरेय ब्राह्मण**, 3, 30, 3 ...त्। ...षीतकी 28, 6। **तैत्तिरीय ब्राह्मण**, 3, 1,4, 10; द्रष्टव्य ...शमसृजत् ...डेक्स, पृ० 403।
3. **पञ्च० ब्राह्मण**, 6, 9, 25; देवजातानि, ...2; वाजसनेयी संहिता, 16, 25, **तैत्तिरीय संहिता** 1, ...ं गणं आख्यायन...
4. **वैदिक इंडेक्स**, पृ० 403। वित्तोपार्ज्जनसमर्था: ...

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है कि वैदिक साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है[1]।

'गण' से अभिप्राय किसी नैगम संगठन से है, यद्यपि परवर्ती साहित्य में उसका प्रयोग केवल राजनीतिक एवं धार्मिक संस्थाओं के प्रसंग में हुआ है। रॉथ[2] का कहना है कि इसका प्रयोग वैदिक साहित्य में श्रेणि के अर्थ में हुआ है। ऊपर उद्धृत बृहदारण्यक उपनिषद् के अंश को देखते हुए रॉथ और मैकडानल के विचार यदि पूर्ण सही नहीं, तो भी बहुत युक्तिसंगत दिखाई देते हैं। इस प्रकार हम कुछ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि भारतीय समाज के आर्थिक जीवन में संघटित प्रवृत्ति संभवतः प्रारम्भिक वैदिक काल से, तथा निश्चित रूप से परवर्ती वैदिक काल से, विद्यमान रही है। यदि हम इसके विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं को ईसा पूर्व 800 के पहले मानें तो आपत्तिजनक न कहा जाएगा।

§ २

उत्तर-वैदिककालीन भारत की आर्थिक व्यवस्था में यह संघटित प्रवृत्ति व्याप्त दिखाई देती है। इस काल के साहित्य का गंभीर अध्ययन यह स्पष्ट बताता है कि समान आजीविका वाले मनुष्य प्रायः अपने मार्गदर्शन के लिए निश्चित नियमों वाले निगम का संगठन कर लेते थे। यथा, हम गौतम धर्मसूत्र[3] में वैश्य के ये अतिरिक्त व्यवसाय पाते हैं—कृषि, व्यापार, पशु-पालन एवं धन को सूद पर उधार देना।

---

1. डा० राधाकुमुद मुकर्जी (**लोकल गवर्नमेण्ट इन ऐंश्यंट इंडिया, पृ० 41 तथा आगे**) यह मत प्रतिपादित करते हुए प्रतीत होते हैं कि वैदिक साहित्य में 'श्रैष्ठ्य' शब्द सदैव श्रेणि के प्रधान पद का परिचायक है। मैं यह मत मानने में असमर्थ हूँ और यह विशेष रूप से दर्शाना चाहूँगा कि अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण से उद्धृत अंशों में इस अर्थ में यह शब्द शायद ही प्रयुक्त हुआ होगा।
2. सेन्ट पीटसबर्ग कोश, 'गण' शब्द।
3. 10, 49; **सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट सीरीज**, 2, पृ० 237।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रेणियों का प्रकार, संगठन और महत्व—इस सूची से यह आभास मिलता है कि उसमें जनसाधारण के प्रायः सभी आवश्यक व्यवसायों का समावेश था जो लेखक की दृष्टि में थे। यह बात और भी महत्वपूर्ण बन जाती है जब ग्रंथ के अगले ही अध्याय में ग्रंथकार कहता है कि कृषकों, व्यापारियों, चरवाहों, सूदखोरों और कारीगरों को अपने-अपने वर्गों के लिए (नियम बनाने का) अधिकार है। उनसे (वस्तु-स्थिति) ज्ञात होने पर (वह) न्याय के संबंध में निर्णय देगा। इसका अर्थ है कि उपर्युक्त व्यवसाय की प्रायः सभी शाखाओं का कोई एक निश्चित संगठन था। इस संगठन को महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिए, विशेषकर उस स्थिति में जब उसके नियमों को वैधानिक मान्यता प्राप्त थी और उसके प्रतिनिधि को यह अधिकार था कि उससे संबंधित किसी भी विषय में राजा उनसे परामर्श ले।

'श्रेणि' वह विशिष्ट शब्द है जो व्यापारियों या शिल्पियों के संगठन का परिचायक है। इसकी परिभाषा इस प्रकार की जाती है—समाज या भिन्न जाति के, परंतु समान व्यापार और उद्योग अपनाने वाले लोगों का निगम। यह संगठन मध्यकालीन यूरोप के गिल्ड्स से साम्य रखता है और उस शब्द के द्वारा उसका बोध हो सकता है। प्राचीन साहित्य—बौद्ध तथा ब्राह्मण—और प्राचीन अभिलेखों में श्रेणियों के प्रायः उल्लेख मिलते हैं और उनसे गौतम की उस विचारधारा की पुष्टि होती है कि लगभग सभी महत्वपूर्ण व्यावसायिक शाखाएँ श्रेणियों के रूप में संगठित थीं। इन श्रेणियों की संख्या न केवल विभिन्न युगों में बल्कि अलग-अगल स्थानों पर भी एक-दूसरे से बहुत भिन्न रही होगी। मूगपक्ख जातक[1] में आया है कि एक राजा ने अपने सम्पूर्ण राजकीय वैभव के साथ यात्रा करते हुए चार वर्णों, अठारह श्रेणियों और अपनी सम्पूर्ण सेना को एकत्रित

1. जातक, 6।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया । इससे मालूम होता है कि राज्य में विभिन्न श्रेणियों की परम्परागत संख्या अठारह निर्धारित की गई थी[1] । यह निश्चित करना संभव नहीं है कि ये 18 श्रेणियाँ क्या थीं, पर साहित्य और अभिलेखों में उपलब्ध उल्लेखों को इकट्ठा करने पर हमें श्रेणियों की बहुत बड़ी संख्या मिलती है । इस प्रकार संगृहीत निम्नांकित सूची इस संगठन के व्यापक रूप को सूचित करती है :

1. लकड़ी का काम करने वाले (बढ़ई, जिनमें पेटिका-निर्माण, चक्र-निर्माण, गृहनिर्माता तथा सभी प्रकार के वाहन बनाने वाले ग्रदि सम्मिलित हैं।[2])
2. सोना, चाँदी आदि धातुओं का काम करने वाले[3] ।
3. पत्थर का काम करने वाले ।
4. चर्मकार[4] ।
5. दन्तकार ।
6. ओदयंत्रिक (पनचक्की चलाने वाले)[5] ।
7. वसकर (बाँस का काम करने वाले)[6] ।
8. कसकर (ठठेरे)[7] ।
9. रत्नकार (जौहरी) ।
10. बुनकर या जुलाहे[8] ।

---

1. जातक, 6, पृ० 427 से भी मिलाइए ।
2. जातक, 6, पृ० 427 ।
3. वही ।
4. वही ।
5. नासिक अभिलेख, लूडर्स, 1137 ।
6. जुन्नर अभि०, लूडर्स, 1165 ।
7. वही ।
8. नासिक अभि०, लूडर्स, 1133 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

11. कुम्हार[1] ।
12. तिल-पिषक (तेली)[2] ।
13. फूस का काम करने वाले और डलिया बनाने वाले ।
14. रंगरेज ।
15. चित्रकार[3]।
16. धंञ्जिक (धान्य के व्यापारी)[4]।
17. कृषक ।[5]
18. मछुए ।
19. कसाई ।
20. नाई तथा मालिश करने वाले ।
21. मालाकार (माली)[6]।
22. नाविक[7] ।
23. चरवाहे[8] ।
24. सार्थ सहित व्यापारी[9] ।
25. डाकू तथा लुटेरे[10] ।
26. वनआरक्षी, जो सार्थों की रक्षा करते थे[11] ।

---

1. वही, 1137 ।
2. वही ।
3. जातक, 6 । पृ० 427 ।
4. जुन्नर अभि०, लूडर्स, 1180 ।
5. गौतम, 11,21 ।
6. जातक, 3, पृ० 405 ।
7. जातक, 4, पृ० 137 ।
8. गौतम, 11,21 ।
9. वही और जातक, 1, पृ० 3, जातक, 2, पृ० 295 ।
10. जातक, 3, पृ० 388; 4, पृ० 430 ।
11. जातक, 2, पृ० 335 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

27. महाजन[1] ।

सामग्री की अल्पता के कारण उक्त श्रेणियों का विस्तृत इतिहास जानना संभव नहीं । हम केवल भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों में उनके विकास की एक मोटी रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत कर सकते हैं।

§ ३

जातक-काल में श्रेणियाँ—जातक-कथाओं में जिस प्रारम्भिक काल (ई० पूर्व ७वीं-६ठी शती) की जानकारी मिलती है उसके संबंध में रिचर्ड फिक ने विवेचन किया है । उनका कथन है कि जहाँ तक संगठन का संबंध था, एक ओर व्यापारी-व्यवसायी तथा दूसरी ओर शिल्पी—इन दोनों के बीच स्पष्ट अंतर था । जहाँ तक पहले का प्रश्न है, निस्संदेह विशेष प्रकार की व्यापारिक शाखाओं को चलाने वाले परंपरागत परिवार एक जेट्ठक (प्रमुख) के नेतृत्व में निगम का संगठन करते थे । पर जातकों में ऐसा कुछ नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि उनका बहुत विकसित संगठन था । इससे नितान्त भिन्न शिल्पियों की अवस्था थी । उनके व्यवसाय की पैतृक परंपरा व्यापारियों एवं व्यवसायियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप में विद्यमान थी । लड़के को बचपन से ही अपने पिता का धंधा सीखना पड़ता था । इस प्रकार किसी खास धंधे के लिए व्यावसायिक कुशलता और प्रतिभा परिवार को उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त थी । जातकों में अपने पैतृक व्यवसाय के अतिरिक्त किसी अन्य व्यवस्था को अपनाने का उल्लेख नहीं मिलता, जबकि उनमें किसी शिल्पी के पुत्र द्वारा अपने पिता के ही व्यवसाय को अपनाने की चर्चा प्रायः मिलती है । इस संदर्भ में उद्योग के स्थानीकरण की चर्चा

1. गौतम 11, 21 । उन उदाहरणों का आधार जिनमें हवाला नहीं दिया गया है रीज डेविड्स कृत बुद्धिस्ट इंडिया (पृ० 90 और आगे) में दी गई सूची है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महत्वपूर्ण है । नगर की सड़कों तथा खास वीथियों में तथा समूचे गाँव में एक ही वर्ग के शिल्पियों को बसाया जाता था[1] । कोई-कोई गाँव काफी बड़े होते थे । उदाहरण के लिए महाबड्ढकि ग्राम में लकड़ी का काम करने वाले 1,000 परिवार श्रौर कम्मार ग्राम में उतने ही लुहार बसते थे । शिल्पियों में जेट्ठक भी होता था[2] । डा० रिचर्ड फिक की मान्यता है कि व्यवसाय की पैतृकता, उद्योग की विभिन्न शाखाओं का स्थानीकरण श्रौर जेट्ठक का पद, ये तीनों बाते उस संगठन के अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण हैं जिसकी तुलना यूरोप की मध्यकालीन श्रेणियों के साथ की जा सकती है ।

कुछ जातक कथाएँ श्रेणियों के संगठन के संबंध में श्रौर भी रोचक जानकारी देती हैं । समुद्द वाणिज जातक[3] से हमें ज्ञात होता है कि बनारस के समीप एक हजार परिवारों वाला बढ़इयों का एक बड़ा नगर था । इन परिवारों में से दो प्रधान कारीगर थे, जिनमें से प्रत्येक पाँच सौ के ऊपर था । एक साथ उन्होंने अपना नगर छोड़ा श्रौर अपने परिवारों सहित वे एक द्वीप में बस गए । इस कथा से श्रेणियों की भ्रमणशीलता का पता चलता है, जिसकी पुष्टि परवर्ती काल के अभिलेखों से होती है । इससे यह प्रमाणित होता है कि कभी-

1. मि० दन्तकारवीथी, **जातक**, 1, पृ० 320; 2, पृ० 197; रजक वीथी **जातक**, 4, पृ० 81; 'ओदनिक घरवीथियं,' **जातक**, 3, पृ० 48; 'महावड्ढकिगामो', **जातक**, 2, पृ० 18; **जातक**, 4 पृ० 159, 207, 'कम्मारगामो', **जातक**, 3, पृ० 281 ।
2. कम्मारगामो, **जातक**, 3, पृ० 281 ।
   द्रष्टव्य 'कम्मकार जेट्ठक', **जातक**, 3, पृ० 281; **जातक**, 5, पृ० 282; 'मालाकार जेट्ठक,' **जातक**, 3, पृ० 405; 'वड्ढकि-जेट्ठक', जातक, 4, पृ० 161 । कभी-कभी 'पमुख' शब्द 'जेट्ठक' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है, देखिए **जातक**, 2, पृ० 12, 52 ।
3. **जातक**, 4, पृ० 158 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कभी एक स्थान के शिल्पियों के एक ही वर्ग में एक से अधिक संगठन होते थे । यह विचार उठ सकता है कि दुहरा संगठन केवल शिल्पियों की बड़ी संख्या के कारण था, पर जातक-कथाओं में एक ही संगठन के अंतर्गत रहने वाले एक हजार जनों के उदाहरण पाए जाते हैं ।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि ज्येष्ठ-जन (जेट्ठक) का पद कभी-कभी परंपरागत होता था । क्योंकि एक स्थान पर कहा गया है कि जब प्रधान नाविक मर गया तब उसका पुत्र नाविकों का नेता बना ।[2] इन श्रेणियों के संगठन का महत्व इस बात से भलीभांति प्रमाणित हो जाता है कि कभी-कभी श्रेणियों के प्रधान लोग राज्य के उच्च पदों पर आसीन होते थे और राजाओं तथा धनिकों के प्रिय पात्र तथा बड़ी हस्ती वाले होते थे[3] । इन जेट्ठकों के आपसी झगड़े और प्रतिद्वन्द्विता के भी उल्लेख मिलते हैं और दो जातकों के प्रारम्भिक उपाख्यानों में इस विषय की रोचक कथाएँ हैं कि किस प्रकार महात्मा बुद्ध कभी-कभी उनमें समझौता कराते थे । संभवतः ऐसे झगड़े होते रहते थे, जिससे उनका निपटारा करने के लिए विशेष न्यायाधिकरण[4] नियुक्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई । एक जातक कथा एक राजकीय अधिकारी भाण्डागारिक (भंडार का कोषाध्यक्ष) का उल्लेख करती

---

1. जातक, 3, पृ० 281 ।
2. जातक, 4, पृ० 136 ।
3. जातक, 2, पृ० 12 ।
4. श्रीमती रीज डेविड्स का मत है कि काशी राज्य के प्रसंग में बनारस की राज्यसभा में सभी श्रेणियों के ऊपर सर्वोच्च अधिकारी की, जिसे कोषाध्यक्ष के भी अधिकार प्राप्त थे, प्रथम नियुक्ति की चर्चा हुई है । संभव है दो बार उल्लिखित कोसल में सावत्थी की श्रेणियों के बीच होने वाले झगड़े बनारस में भी उत्पन्न हो गए हों, जिसके परिणामस्वरूप यह नियुक्ति हुई हो । (ज० रा० ए० सो०, 1901, पृ० 865) ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है, जिसके पद के साथ सभी व्यापारिक श्रेणियों[1] के न्यायाधीश का पद भी संलग्न था। यह स्पष्ट कहा गया है कि पहले ऐसा कोई पद नहीं था, परन्तु बाद में वह बराबर बना रहा।

जैसा पहले कहा गया है, दो जातक अठारह श्रेणियों[2] का उल्लेख करते हैं, और यद्यपि यह संख्या बिलकुल रूढ़ कही जा सकती है तो भी इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि इन संस्थाओं का व्यापक संगठन था। इन दोनों जातक कथाओं में दो महत्वपूर्ण अवसरों पर राजकीय जलूस में अठारह श्रेणियों की विद्यमानता बताई गई है। इससे यह बात और भी प्रमाणित होती है कि प्राचीन भारत की राजनीति में उन्होंने एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था।

§ ४

प्रारम्भिक धर्मसूत्र-काल में श्रेणि-संगठन का विकास—अब हम उस काल में आते हैं जिसका प्रतिनिधित्व प्रारम्भिक धर्मसूत्रों (५वीं शती ई० पूर्व से तीसरी शती ई० पू०) द्वारा होता है। पूर्वोद्धृत गौतम धर्मसूत्र के ११वें अध्याय का इक्कीसवाँ श्लोक कृषकों, व्यापारियों, चरवाहों, महाजनों और शिल्पियों को अपने-अपने समूहों के लिए नियम निर्धारित करने का अधिकार देता है। यह भी कहा गया है कि राजा "उन लोगों से वस्तुस्थिति की जानकारी प्राप्त करने पर जो (प्रत्येक समूह में बोलने का) अधिकार रखते हैं, कानूनी निर्णय देगा[3]।"

यह श्रेणि-संगठनों के विकास की अगली अवस्था का परिचायक है। अब व्यापारियों तथा शिल्पियों के निगम संविधान द्वारा राज्य के एक आवश्यक अंग मान लिए गये और उन्हें अपने कानून बनाने

1. 'सब्ब सेणिणं विचारणारहं भंडागरिकट्ठानं (जा०, 4, पृ० 37)।
2. **जातक**, 6, पृ० 1, 427।
3. **सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट सीरीज**, जिल्द 2, पृ० 234।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अत्यंत महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किया गया । उनका नेता, जो संभवत: जातकों के जेट्ठक के समकक्ष था, एक मुख्य व्यक्ति माना गया, जो राज-दरबार में अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व कर सकता था ।

इस काल में श्रेणि का अपने सदस्यों पर कितना प्रभाव था, इसका अंदाजा विनयपिटक में उल्लिखित अनुशासन-संबंधी दो नियमों से स्पष्ट है । इनमें से एक नियम के अनुसार[1] श्रेणि को यह अधिकार था कि वह अपने सदस्यों तथा उनकी भार्याओं के बीच कुछ अवसरों पर मध्यस्थता का काम कर सकती थी । दूसरे नियम के अनुसार[2] श्रेणि के किसी भी सदस्य की पत्नी को दीक्षा-ग्रहण करने के पहले श्रेणि की आज्ञा लेना आवश्यक था ।

इसी ग्रंथ के एक उद्धरण से हम यह कह सकते हैं कि उस समय श्रेणियों को कुछ शासकीय अधिकार प्राप्त हो गए थे । यथा, यह नियम था कि चोर-स्त्री (चोरि) को संबंधित अधिकारियों की अनुमति के बिना भिक्षुणी न बनाया जाए—"राजानं वा संघं वा गणं वा पूगं वा सेणिंपवा अन लोकेत्वा" । प्राचीन व्याख्याकार ने इस उद्धरण पर यह टिप्पणी दी है—"राजा नाम, यत्थ राजा अनुसासति राजा अपलोकेतब्बो, सेणि नाम, यत्थ सेणि अनुसासति सेणि अपलोकेतब्बो[3]।" निश्चित रूप से इससे श्रेणि के शासकीय एवं न्यायिक अधिकारों का आभास मिलता है और श्रेणि का राजा तथा अन्य राजनीतिक निगमों के साथ अधिकार-साम्य प्रकट होता है ।

---

1. **विनय टेक्स्ट्स**, 4, 226 । मिलाओ **ज० रा० ए०सो०**, 1901, पृ० 865 ।
2. **सुत्त विभंग**, एकॉनॉमिक जर्नल, 1901, पृ० 313 पर उद्धृत ।
3. जहाँ राजा शासन करता है, उसकी सम्मति लेनी ही पड़ेगी, जहाँ श्रेणि शासन करती है, उसकी सम्मति लेनी ही पड़ेगी ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कौटिल्य के समय श्रेणि की स्थिति—कौटिल्य का अर्थशास्त्र,[1] जो अब अधिकांश विद्वानों द्वारा विवेच्य काल का माना जाता है, इस काल की श्रेणियों के संगठन पर बहुत मनोरंजक प्रकाश डालता है। उसमें कहा गया है कि लेखाध्यक्ष को नियमित रूप से निर्धारित रजिस्टरों में निगमों[2] की प्रथाओं के इतिहास, व्यवसाय और लेन-देन संबंधी बातों को भरना पड़ता था। श्रेणियों के विश्वासपात्र तीन आयुक्त या मंत्री शुल्क एकत्रित करने के लिए नियुक्त किए जाते थे। यह एकत्र निधि संकट काल में वापस ली जा सकती थी[3]। व्यापारिक श्रेणियों[4] के बीच अर्थ-विवादों के उपस्थित होने पर उन्हें विशेष छूट दी जाती थी और किसी व्यापारिक श्रेणि से संबद्ध व्यवसायी को अतिरिक्त सुविधाएँ प्रदान की जाती थीं[5]। उस काल में श्रेणियों का महत्व इस तथ्य से और भी स्पष्ट हो जाता है कि एक आदर्श नगर-योजना में श्रेणियों और श्रमिकों[6] के निगमों के लिए स्थान सुरक्षित होते थे और उनके द्वारा दिए गए करों की गणना आय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधनों में की जाती थी[7]। ग्राम-श्रेणियों की इस नियम के अंतर्गत रक्षा होती थी कि स्थानीय सहकारी श्रेणियों[8] के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की श्रेणियाँ गाँव में प्रवेश न पाएँगी। श्रेणियों की प्रख्यात सम्पत्ति का और कभी-कभी लोभी राजाओं द्वारा इन श्रेणियों

1. कौटिल्य का **अर्थशास्त्र**, आर० शामशास्त्री द्वारा सम्पादित।
2. **अर्थशास्त्र**, आर० शामशास्त्री का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० 69।
3. वही, पृ० 253।
4. वही, पृ० 190।
5. वही, पृ० 128।
6. वही, पृ० 61।
7. वही, पृ० 66।
8. 'सामुत्थायिकादन्यस्समयानुबन्धः।' वही, पृ० 54।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को हानि पहुँचाने का पता अर्थशास्त्र (5,2) में उल्लिखित मकियवली नीति से लगाया जा सकता है । वहाँ कहा गया है कि यदि राजा अत्यंत आर्थिक संकट का अनुभव करे और उसे धन की आवश्यकता हो तो वह ऐसे गुप्तचर का उपयोग करे जो निगमों से सोने की सिलें और स्वर्णमुद्राएँ उधार ले और उसी रात अपने को लुट जाने का बहाना कर दे[1] ।

कौटिल्य ने श्रमिकों या दिन में मजदूरी करने वालों की श्रेणियों के संबंध में कुछ विशेष[2] नियम भी बनाए हैं । उन्हें कुछ विशेष सुविधाएँ भी प्रदान की जाती थीं । यथा, अपनी नियुक्ति के बाद अनुबन्ध पूर्ण करने के लिए स्वीकृत समय के अतिरिक्त सात रातों की विशेष अवधि । जब तक श्रेणि के नियमों में विशेष छूट न हो उसकी सारी कमाई को श्रेणि के सदस्यों में बराबर-बराबर बाँटा जाता था । यदि कोई व्यक्ति कार्य प्रारम्भ होते ही श्रेणि को छोड़ देता तो उसे जुर्माना देना पड़ता था । जो व्यक्ति अपने हिस्से के काम की उपेक्षा करता तो पहली बार उसे क्षमा कर दिया जाता था, पर यदि वह अपनी इस अवांछनीय आदत को न छोड़ता तो उसे श्रेणि से निष्कासित कर दिया जाता था । और यदि कोई सदस्य अक्षम्य अपराध का दोषी होता तो वह व्यक्ति अपराधी समझा जाता था । हम कह सकते हैं कि साधारण रूप से श्रेणियों में इस प्रकार के नियम विद्यमान थे ।

इस समय श्रेणियों की शक्ति और प्रभाव का पता एक उद्धरण से स्पष्ट मिलता है, जिसमें इस बात पर गंभीरता के साथ चर्चा की गई है कि श्रेणि के द्वारा या उसके प्रधानों के द्वारा दिए गए क्लेश अधिक भयंकर होते हैं । कौटिल्य अपने पूर्वगामियों का विरोध करते हुए पिछले को अधिक भयंकर कहता है, क्योंकि उसके अनुसार

1. वही, पृ० 305 ।
2. वही, पृष्ठ 234 और आगे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नेता सहयोग का बल पाकर दूसरों के जीवन और सम्पत्ति को हानि पहुँचाते हुए अत्याचार कर सकता है[1]। फिर इस प्रश्न का विवेचन किया गया है कि क्या बेकार भूमि पर श्रेणियों–जैसी संगठित संस्थाओं वाली आबादी को बसाना चाहिए अथवा इसके विपरीत आबादी को। बिना संगठित संस्थाओं वाली आबादी को इस कारण उपयुक्त समझा गया कि श्रेणियों और अन्य संगठित संस्थाओं को आपत्तियाँ असह्य होती हैं और उनमें क्रोध तथा अन्य बुराइयों का संचार भी हो जाता है[2]। अर्थशास्त्र के इन तथा इसी प्रकार के अन्य वाक्यों[3] से शंका के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता कि ईस्वी पूर्व चौथी शती में श्रेणियाँ शासन-सूत्र का एक महत्वपूर्ण अंग बन गई थीं।

सैनिक शक्ति के रूप में श्रेणि—कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यत्र-तत्र पाए जाने वाले उल्लेखों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय की श्रेणियाँ प्रभूत सैनिक शक्ति वाली थीं। अर्थशास्त्र के नवें अधिकरण के दूसरे प्रकरण में कौटिल्य ने उन सैनिकों के अन्तर्गत, जिन्हें राजा नियोजित करता है, श्रेणि--बल को भी रखा है[4]। कभी-कभी श्रेणि-बल रक्षा एवं आक्रमण, इन दोनों कार्यों के लिए पर्याप्त होता था। जब कभी शत्रु की सेना में इस वर्ग के सैनिक अधिक होते तो राजा को अपनी सेना में इसी प्रकार के सैनिकों को भरती करना पड़ता था[5]। अर्थशास्त्र के पाँचवें अधिकरण के तीसरे प्रकरण में, जहाँ शासकीय लोगों के वेतन की चर्चा की गई है, श्रेणिमुख्यों

1. वही, पृ० 403।
2. वही, पृ० 363।
3. उदाहरणार्थ दे० वही, पृ० 380।
4. अर्थशास्त्र, पृ० 340।
5. वही, पृ० 341।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(श्रेणियों के प्रधानों) का वेतन हस्ति, अश्व और रथ के प्रधानों के वेतन के तुल्य ही निर्धारित किया गया है और उसके बाद यह लिखा है कि यह वेतन उन लोगों को अपने वर्गों से अच्छी संख्या में अनुगामी प्राप्त करने के लिए पर्याप्त होगा[1]। आगे सातवें अधिकरण के 16वें प्रकरण मं कौटिल्य, विरोधी दल को नीचे रखने के लिए अपनाई जाने वाली गर्हित रीतियों का उल्लेख करते हुए, कहते हैं कि श्रेणिबल को जमीन का एक ऐसा टुकड़ा दे देना चाहिए जो शत्रु द्वारा निरंतर झगड़े का कारण बना हो। इसका फल यह होगा कि श्रेणिबल के सैनिक उसी झगड़े में उलझे रहेंगे और उन्हें राज्य के मामलों में दखल देने का मौका न मिल सकेगा।

अर्थशास्त्र के सातवें अधिकरण के प्रथम अध्याय में श्रेणि को सैनिकों के उस वर्ग के साथ रखा गया जो शत्रु के आक्रमण को रोकने के लिए होता था।

कौटिल्य ने क्षत्रिय श्रेणियों के उस वर्ग का भी उल्लेख किया है जो व्यापार तथा युद्ध-उपजीवी था––"काम्बोज-सुराष्ट्र-क्षत्रिय-श्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः[2]।" निश्चय ही ये विशेष प्रकार की श्रेणियां थीं और वे प्रायः कम्बोज तथा सुराष्ट्र जनपदों में उपलब्ध थीं।

श्रेणियों के द्वारा युद्ध-कार्य का अपनाया जाना पहले कुछ विचित्र-सा लगता है, परन्तु जब हम नीचे दिए गए विचारों को देखते हैं तब उक्त निष्कर्ष सही ठहरता है और यह भी ज्ञात होता है कि परवर्ती युगों में भी यह स्थिति जारी रही।

महाभारत के कुछ श्लोकों[3] से स्पष्ट है कि राजा श्रेणिबल का

---

3. वही, पृ० 245।
4. वही, पृ० 376।
5. नीचे उद्धृत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नेता सहयोग का बल पाकर दूसरों के जीवन और सम्पत्ति को हानि पहुँचाते हुए अत्याचार कर सकता है[1]। फिर इस प्रश्न का विवेचन किया गया है कि क्या बेकार भूमि पर श्रेणियों–जैसी संगठित संस्थाओं वाली आबादी को बसाना चाहिए अथवा इसके विपरीत आबादी को। बिना संगठित संस्थाओं वाली आबादी को इस कारण उपयुक्त समझा गया कि श्रेणियों और अन्य संगठित संस्थाओं को आपत्तियाँ असह्य होती हैं और उनमें क्रोध तथा अन्य बुराइयों का संचार भी हो जाता है[2]। अर्थशास्त्र के इन तथा इसी प्रकार के अन्य वाक्यों[3] से शंका के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता कि ईस्वी पूर्व चौथी शती में श्रेणियाँ शासन-सूत्र का एक महत्वपूर्ण अंग बन गई थीं।

सैनिक शक्ति के रूप में श्रेणि—कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यत्र-तत्र पाए जाने वाले उल्लेखों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय की श्रेणियाँ प्रभूत सैनिक शक्ति वाली थीं। अर्थशास्त्र के नवें अधिकरण के दूसरे प्रकरण में कौटिल्य ने उन सैनिकों के अन्तर्गत, जिन्हें राजा नियोजित करता है, श्रेणि--बल को भी रखा है[4]। कभी-कभी श्रेणि-बल रक्षा एवं आक्रमण, इन दोनों कार्यों के लिए पर्याप्त होता था। जब कभी शत्रु की सेना में इस वर्ग के सैनिक अधिक होते तो राजा को अपनी सेना में इसी प्रकार के सैनिकों को भरती करना पड़ता था[5]। अर्थशास्त्र के पाँचवें अधिकरण के तीसरे प्रकरण में, जहाँ शासकीय लोगों के वेतन की चर्चा की गई है, श्रेणिमुख्यों

1. **वही**, पृ० 403।
2. **वही**, पृ० 363।
3. उदाहरणार्थ दे० **वही**, पृ० 380।
4. **अर्थशास्त्र**, पृ० 340।
5. **वही**, पृ० 341।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(श्रेणियों के प्रधानों) का वेतन हस्ति, अश्व और रथ के प्रधानों के वेतन के तुल्य ही निर्धारित किया गया है और उसके बाद यह लिखा है कि यह वेतन उन लोगों को अपने वर्गों से अच्छी संख्या में अनुगामी प्राप्त करने के लिए पर्याप्त होगा[1]। आगे सातवें अधिकरण के 16वें प्रकरण मं कौटिल्य, विरोधी दल को नीचे रखने के लिए अपनाई जाने वाली गर्हित रीतियों का उल्लेख करते हुए, कहते हैं कि श्रेणिबल को जमीन का एक ऐसा टुकड़ा दे देना चाहिए जो शत्रु द्वारा निरंतर झगड़े का कारण बना हो। इसका फल यह होगा कि श्रेणिबल के सैनिक उसी झगड़े में उलझे रहेंगे और उन्हें राज्य के मामलों में दखल देने का मौका न मिल सकेगा।

अर्थशास्त्र के सातवें अधिकरण के प्रथम अध्याय में श्रेणि को सैनिकों के उस वर्ग के साथ रखा गया जो शत्रु के आक्रमण को रोकने के लिए होता था।

कौटिल्य ने क्षत्रिय श्रेणियों के उस वर्ग का भी उल्लेख किया है जो व्यापार तथा युद्ध-उपजीवी था––"काम्बोज-सुराष्ट्र-क्षत्रिय-श्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविन:[2]।" निश्चय ही ये विशेष प्रकार की श्रेणियां थीं और वे प्राय: कम्बोज तथा सुराष्ट्र जनपदों में उपलब्ध थीं।

श्रेणियों के द्वारा युद्ध-कार्य का अपनाया जाना पहले कुछ विचित्र-सा लगता है, परन्तु जब हम नीचे दिए गए विचारों को देखते हैं तब उक्त निष्कर्ष सही ठहरता है और यह भी ज्ञात होता है कि परवर्ती युगों में भी यह स्थिति जारी रही।

महाभारत के कुछ श्लोकों[3] से स्पष्ट है कि राजा श्रेणिबल का

---

3. वही, पृ० 245।
4. वही, पृ० 376।
5. नीचे उद्धृत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपयोग कर सकता था। यह श्रेणिबल भृतं (भाड़े के सैनिक) के समान ही महत्व वाला कहा गया है। रामायण[1] में भी 'सयोध श्रेणि' का जिक्र मिलता है। श्रेणि द्वारा सैनिक कार्य किए जाने का स्पष्ट उल्लेख मन्दसौर-शिलालेख में उपलब्ध है। नारद स्मृति (10,5) में श्रेणियों तथा दूसरे संकायों के संबंध में मिलता है कि राजा गोपनीय संगठनों,[2] बिना उचित कारण हथियार चलाने तथा पारस्परिक आक्रमणों[3] को बर्दाश्त न करे।

इसमें संदेह नहीं कि श्रेणिबल से तात्पर्य युद्ध करने वाली शक्तियों के वर्ग से है। क्योंकि जैसा पहले कहा गया है, कौटिल्य से ज्ञात होता है कि यह कभी-कभी रक्षा तथा आक्रमण दोनों के लिए पर्याप्त होता था। परंतु यह मानते हुए भी विरोधी विचारों के लिए गुंजायश है। श्री शामशास्त्री ने श्रेणि-बल का अनुवाद 'सैनिकों का समुदाय' किया है और इस प्रकार श्रेणि शब्द का भाव बिलकुल भुला दिया है। प्रोफेसर डी० आर० भण्डारकर इसका अर्थ 'श्रेणि द्वारा प्रतिपालित सैनिक' करते हैं। मेरे विचार में इस शब्द का सही अर्थ कौटिल्य के उपर्युक्त क्षत्रिय-श्रेणि में निहित है। मैं समझता हूँ कि इसका तात्पर्य उन श्रेणियों के वर्ग से है जो कोई न कोई व्यवसाय करती थीं और जो साथ ही युद्ध-विषयक कार्य भी करती थीं। यही युक्तिसंगत लगता है और इसकी पुष्टि निश्चित रूप से मन्दसौर अभिलेख से होती है, जिसकी विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी। इस

---

1. **रामायण** (गोरेजिओ द्वारा संपादित), 2, 123, 5।
2. 'मिथः संघातकरणम्।' जॉली के द्वारा इसका अनुवाद 'मिश्रित एकत्रीकरण' किया गया है (**सै० बु० ई०**, 33, पृ० 154)।
3. जॉली इसका अनुवाद 'उन लोगों के मध्य पारस्परिक आक्रमण' करते हैं। संदर्भ से यह स्पष्ट है कि यहाँ समुदायों की ओर, न कि व्यक्तियों की ओर, संकेत है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मनोरंजक लेख से ज्ञात होता है कि रेशम-बुनकरों की श्रेणि वाले कुछ सदस्यों ने शस्त्रों को अपना लिया था और ये बहादुर सैनिक, जो युद्ध-विजयी थे,"अब भी अपने शत्रुओं का बलपूर्वक संहार करते हैं।"

यह कम आश्चर्यजनक नहीं कि रेशम-बुनकरों की यह श्रेणि सुराष्ट्र देश की सीमा से लगे हुए लाट जनपद की मूल निवासिनी थी। कौटिल्य के अनुसार सुराष्ट्र में ऐसी क्षत्रिय श्रेणियों की प्रचुरता थी। जो भी सही हो, हमें यह मनोरंजक जानकारी मिलती है कि अपनी मुख्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कुछ प्राचीन श्रेणियाँ असाधारण महत्व के सैनिक साधन भी रखती थीं और प्राचीन भारत की आन्तरिक राजनीति में उनका उल्लेखनीय योग रहता था। इनसे मध्ययुगीन यूरोप में इटली की श्रेणियों की याद आ जाती है।

कौटिल्य द्वारा उल्लिखित क्षत्रिय श्रेणियाँ बहुत समय तक कायम रहीं, कम से कम दक्षिण भारत में। दसवीं और ग्यारहवीं शती के वेलयिक्कार इस बात के अच्छे उदाहरण हैं। इस समुदाय में अनेक कार्यशील वर्ग थे—यथा, वलंगै, इडंगै आदि। इनका उल्लेख चोल-शासक राजराज प्रथम और राजेन्द्र चोल प्रथम के तंजौर-अभिलेखों में चोल सेना की विभिन्न टुकड़ियों की संज्ञाओं के रूप में मिलता है। वे लंका भी गईं और चोल-काल में सिंहल-नरेशों के द्वारा सैनिकों के रूप में उनकी वहाँ भर्ती की गई। पोलन्नरुव के एक लेख से ज्ञात होता है कि देवसेन नामक सरदार के द्वारा राजा विजयवाहु की आज्ञा से भगवान् तीर्थंकर के पवित्र दाँत के लिए एक स्तूप का निर्माण कराया गया और उसकी रक्षा का कार्य वेलैक्कार सेना के सदस्यों को सौंपा गया। वे लोग अपने सैन्य-संचालकों के साथ इकट्ठे हुए और उन्होंने मंदिर की देखरेख तथा उसकी सामग्री की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। पारिश्रमिक के रूप में इस सेना के सदस्य को भूमि का एक भाग (वेलि) दिया गया और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सब लोगों ने उसे यह कहकर स्वीकार किया—"हम लोग मंदिर से संबंधित गाँवों की रक्षा का भार लेते हैं। इसके कर्मचारियों की सम्पत्ति की और पुजारियों की हम रक्षा करेंगे, चाहे इसमें हम लोग बरबाद ही क्यों न हो जाएँ और चाहे हमें किसी प्रकार का नुकसान भी क्यों न उठाना पड़े। जब तक हमारा संगठन है, मन्दिर की सभी आवश्यकताओं की हम पूर्ति करते रहेंगे। उसके जो हिस्से समय-समय पर टूट-फूट जाएँगे उनकी हम मरम्मत करेंगे। अपने इस शर्तनामे की पुष्टि करके हम पाषाण और ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण कराते हैं, जिससे वह तब तक बना रहे जब तक कि चंद्र और सूर्य रहें।"

§ ५

श्रेणि-व्यवस्था में विकास की अगली अवस्था धर्मसूत्रों के काल (ई० पू० दूसरी शती से ई० चौथी शती तक) में दिखाई पड़ती है। मनुसंहिता में गौतम के उस विचार का प्रतिपादन तो मिलता ही है जिसका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। साथ ही साथ मनु कानून की शक्ति के रूप में श्रेणिधर्म का स्पष्ट कथन करते हैं। मनुसंहिता में आगे कहा गया है—यदि कोई मनुष्य, जो ग्राम या देश-संघ से संबंधित है, शर्त स्वीकार करके लोभवश उसे तोड़ देता है तो राजा उसे अपने राज्य से निकाल दे[2]।

याज्ञवल्क्य-संहिता में भी निर्देश है कि यदि कोई पुरुष किसी

---

1. "जातिजानपदान् धर्म्मान् श्रेणीधर्म्मांश्च धर्म्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्म्मांश्च स्वधर्म्मं प्रतिपादयेत्॥"

2. 8,219। अगले श्लोक (8,220) में यह कहा गया है कि इस प्रकार के दोषी के ऊपर जुर्माना किया जाए और उसे कैद कर लिया जाए। यदि ये दोनों श्लोक एक-दूसरे से संबंधित माने जाएँ तो उनका अभिप्राय व्यक्ति के राज्य-निष्कासन के पहले निकलता है (या दूसरा दंड वैकल्पिक माना जाए ?) मेधातिथि और कुल्लूक भट्ट दोनों व्यापारिक श्रेणियों को देश-संघ के अंतर्गत मानते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रेणि या अन्य किसी निगम की जायदाद चुराए या उनसे हुए अनुबंध को तोड़े तो उसे देश-निष्कासित किया जाए, उसकी सभी जायदाद को छीन लिया जाए[1]।

इसी प्रकार का आदेश विष्णु-स्मृति में भी मिलता है[2]। एक के बाद दूसरी स्मृति में इस प्रकार के व्यादेशों से इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि ईस्वी सन् के शीघ्र बाद ही श्रेणि-संगठन राज्य की राजनीति में एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग के रूप में विकसित हो गया। न केवल वह राज्य के ढांचे के एक निश्चित अंग के रूप में माना जाने लगा अपितु उसका अधिकार शासन द्वारा स्वीकृत किया गया और उसका सम्मान तथा स्तर राज्य की इस नीति की घोषणा से बहुत बढ़ गए कि उसे सभी सामयिक आवश्यकता तथा सहायता प्रदान कर उसके अस्तित्व को सफल बनाया जाएगा।

इस सुन्दर व्यवस्था का फल यह हुआ कि ये संस्थायें एक ओर अधिक विकसित हुई और दूसरी ओर उनकी लाभकारिता में जनता का विश्वास बढ़ा। इसका सम्यक् प्रमाण अनेक अभिलेखों में प्राप्त होता है, जिस संबंध में अधिक विस्तार से चर्चा अपेक्षित है।

इस काल के कम से कम सात अभिलेख ऐसे हैं जो श्रेणियों तथा उनके कार्यों का उल्लेख करते हैं। आरंभ में इनमें से प्रत्येक का विवरण देना उपयुक्त होगा :

(1) संभवतः श्रेणि की प्राचीनतम अभिलेखीय चर्चा मथुरा से प्राप्त हुविष्क के 28वें वर्ष (106 ई०) के लेख में प्राप्त होती है। उसमें एक 'अक्षय-नीवि' (अक्षय दान) का उल्लेख है, जो दो श्रेणियों में से प्रत्येक को 550 'पुराण' के रूप में दिया गया

1. 2, 187–192।
2. 'गण द्रव्यापहर्त्ता विवास्यः।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। इनमें से एक श्रेणि आटा बनाने वालों की थी[1]।

(2) नासिक[2] का एक लयण-लेख, जिसपर संवत् 42 (120 ई०) दिया है, शकराज नहपान के जामाता उषवदात द्वारा तीन हजार कार्षापण के दान का उल्लेख करता है। यह दान लयण-निवासी बौद्ध भिक्षुओं के उपयोग के लिए दिया गया और सम्पूर्ण धनराशि को गोवर्धन की श्रेणियों में इस प्रकार जमा किया गया—जुलाहों की श्रेणि में दो हजार, जिसके व्याज की दर 1 प्रतिशत प्रति मास थी। जुलाहों की दूसरी श्रेणि में एक हजार, 3/4 मासिक प्रतिशत ब्याज की दर से। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जमा किए गए कार्षापण लौटाए न जाएँगे, केवल उनका ब्याज मिलेगा। इस दान का उद्देश्य इस प्रकार बताया गया—दो हजार कार्षापण एक प्रतिशत प्रतिमाह की दर से वस्त्र-मूल्य के लिए। इनमें से बीस भिक्षुओं में से प्रत्येक को, जो लयण में वर्षावास करते थे, वस्त्र-व्यय के लिए 12 कार्षापण थे, शेष एक हजार में से कुषण-व्यय के लिए (?)।

अंत में बताया गया है कि यह सब नगर के मुख्य भवन तथा लेखा दफ्तर में नियमानुसार घोषित तथा पंजीकृत कर दिया गया[3]।

(3) नासिक का एक दूसरा अभिलेख,[4] जिस पर तीसरी शताब्दी में शासन करने वाले राजा ईश्वरसेन का नवाँ वर्ष अंकित है, गोवर्धन की श्रेणियों में इसी प्रकार के बेमियादी धर्मदाय का उल्लेख इस प्रकार करता है—कुलरिकों (संभवतः कुम्हारों) की श्रेणियों में एक हजार कार्षापण, ओदयंत्रिकों (संभवतः वे कर्मचारी जो जलगति विद्या-संबंधी इंजिन या जल-घड़ियाँ आदि बनाते थे) की श्रेणियों

1. एपि० इंडि०, जिल्द 21, पृष्ठ 60।
2. लूडर्स, संख्या 1133।
3. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 8, पृ० 82–86।
4. वही, पृ० 88।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में दो हजार कार्षापण। अभिलेख का अंतिम भाग टूटा हुआ है, परन्तु उससे इतना भासित होता है कि कुछ धन तेलियों की श्रेणि में तथा 500 कार्षापण किसी दूसरी श्रेणि में जमा किए गए। धर्मदाय का उद्देश्य त्रिरश्मिपर्वत के संघाराम में रहने वाले भिक्ष-संघ के रोगियों की दवा का प्रबंध करना था।

(4) जुन्नर के एक अभिलेख में यह अंकित है कि कोणाचिक की श्रेणि पर करंज वृक्ष और केले के वृक्षों को लगाने के लिए दो खेतों से प्राप्य आय लगा दी गई[1]।

(5) जुन्नर के दूसरे अभिलेख[2] में बाँस का काम करने वालों तथा पीतल का काम करने वालों की श्रेणियों में धर्मदाय का उल्लेख है।

(6) जुन्नर के तीसरे अभिलेख[3] में अनाज के व्यापारियों द्वारा

---

1. अभिलेख में इस प्रकार का वर्णन है--
"कोणचिके सेणिय उवसको आड़थुम सको वडालिकायां।
करजमुल निवतनानि विस कटपुतके वडमुले निवतननि (न)व।"
बूलर तथा बर्जेस आर्केलाजिकल सर्वे वेस्टर्न इंडिया (जि०4) में इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं:
शक अड़युम, जो कोणाचिकों की श्रेणि का उपासक था, के द्वारा (दान के रूप में) वडलिक में करंज वृक्ष के निकट और कटपुतक में 20 निवर्तन, केले के वृक्ष के निकट 9 निवर्तन दिए गए। पिशेल ने बताया है कि बडमूल और करंजमूल का वास्तविक अर्थ इन वृक्षों को लगाने की कीमत है। (Nacher Gott Ges WissPhil. Hist, Kl.) 1895, पृ० 216) लूडर्स का अनुमान है कि यह व्यय किसी श्रेणि द्वारा किया गया था, न कि श्रेणि के किसी सदस्य द्वारा (**एपि० इण्डिका**, 10, परिशिष्ट, पृ० 132)।
2. **लूडर्स**, सं० 1165।
3. **वही**, सं० 1180।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक गुफा और एक कुंड का दान अंकित है ।

(7) नागार्जुनीकोंडा के 333 ई० के एक अभिलेख में एक स्थायी दान का उल्लेख है, जो एक व्यक्ति द्वारा स्थापित धार्मिक संस्थान के निर्वाह के लिए दिया गया था । इस दान के अंतर्गत एक श्रेणि के पास 70 दीनार तथा अन्य तीन श्रेणिमों में से प्रत्येक के पास 10–10 दीनार जमा किए गए थे, जिनके ब्याज से विशेष कार्य संपादित किए जाने थे । इनमें से केवल दो श्रेणियों के नाम पढ़े जा सकते हैं : 'पनिक' (सम्भवत: पान उगाने या बेचने वाले) तथा 'पुवक' (मिठाइयाँ बनाने वाले[1]) ।

इनके अतिरिक्त कितने ही अन्य खंडित अभिलेखों[2] में विभिन्न श्रेणियों में इसी प्रकार के धर्मदायों का उल्लेख मिलता है, किन्तु क्योंकि उनका अभिप्राय स्पष्ट नहीं है अत: उनका कोई उल्लेख यहाँ नहीं किया जाता ।

ऊपर उल्लिखित सातों अभिलेखों सें प्राचीन श्रेणियों के कार्य और संगठन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । इस प्रकार संख्या 1–4 निश्चित रूप से सिद्ध करते हैं कि प्राचीन समय की श्रेणियाँ जनता का धन जमा करती थीं और उस पर नियमित ब्याज दिया करती थीं ।

---

1. **एपि० इण्डि०**, जिल्द 35, पृष्ठ 5 ।
2. इस काल के कई अभिलेखों में 'आवेसनी' के दान का उल्लेख है । यह शब्द अन्यत्र नहीं मिलता । कनिंघम ने इसका अनुवाद द्वार-तोरण किया है (**भिलसा टोप्स,** पृ० 264), जब कि मैके के **सांची** (पृ०95) में इसका अनुवाद 'निग्रोफाइट' दिया है । बूलर ने इसका अर्थ 'कलाकारों का प्रमुख' प्रस्तावित किया है (एपि०इंडि०, जिल्द २, पृ० 88) । लूडर्स ने इसे सांची-अभिलेख के संदर्भ में स्वीकार किया है, परन्तु अन्य स्थानों पर उसे केवल शिल्पी लिया है । इस शब्द से किसी श्रेणि के अस्तित्व की कल्पना संदेहजनक दिखाई पड़ती है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थानीय बैंकों के रूप में श्रेणियाँ––कौटिल्य के द्वारा इन श्रेणियों को शोषित करने की मकियावली नीति का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि वे धन उधार देती थीं। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि वे आधुनिक बैंकों का काम करती थीं। अभिलेख संख्या 1 से ज्ञात होता है कि उनके द्वारा दी जाने वाली ब्याज की दर 12 से 9 प्रतिशत तक थी। ये श्रेणियाँ, जिनकी बैंकों का जाल सारे देश में फैला हुआ था, नियमबद्ध व्यवस्था वाली रही होंगी, जिससे जनता अपनी बड़ी धनराशि उन्हें सौंप सकने का विश्वास कर सकती थी। श्रेणियों की स्थिति अवश्य ही सुदृढ़ रही होगी और उनकी कार्य-प्रणाली में ईमानदारी तथा लेन-देन में शुद्धता अनिवार्य होगी, नहीं तो लोग उन्हें अपने स्थायी धर्मदाय न सौंपते। प्रथम अभिलेख के अंतिम भाग से ज्ञात होता है कि श्रेणियाँ प्राचीन नगरों के स्थानीय शासन में महत्वपूर्ण अंग के रूप में मान्य थीं। जनता के धन-न्यासी के रूप में अपना कर्त्तव्य ठीक प्रकार से निबाहने के लिए वे नगर-निगम के प्रति उत्तरदायी थीं। वे न केवल जमा करने के लिए नकद धन पाती थीं बल्कि उन्हें धर्मदाय के रूप में जायदाद भी मिलती थी, जैसा कि अभिलेख संख्या 3 से प्रतिपादित होता है।

ये धर्मदाय विभिन्न अभिप्रायों से दिए जाते थे और उनकी समुचित व्यवस्था के लिए विशेष व्यावसायिक निपुणता अपेक्षित रहती थी। उदाहरणार्थ कुछ श्रेणियों को विशेष प्रकार के वृक्ष लगाने होते थे। कुछ अन्य लयण-निवासी बीमार भिक्षुओं के लिए दवा का प्रबन्ध करती थीं, यद्यपि चिकित्सा उनका धंधा न था। इन अभिलेखों से यह भी प्रकट होता है कि एक ही स्थान पर अनेक शिल्प-श्रेणियाँ होती थीं और कभी-कभी एक ही व्यवसाय की एक से अधिक श्रेणियाँ थीं। उदाहरण के लिए गोवर्धन में जुलाहों की दो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रेणियाँ थीं । साधारणतया श्रेणियों के नाम उनके व्यवसायों से संबंधित होते थे । परंतु एक के विषय में केवल 'कोणचिक की श्रेणी' ऐसा कथन आया है। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि उस गाँव में केवल एक ही श्रेणी थी और इसलिए उसको विशेष नाम देने की आवश्यकता न थी । यह भी संभव है कि सारा गाँव श्रेणि का रूप ग्रहण कर चुका था और उसमें केवल एक ही व्यवसाय के लोग रहते थे । जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, पालि साहित्य में ऐसे गाँवों का उल्लेख मिलता है । उक्त अभिलेख संख्या 6 की यह विशेषता है कि उसमें उल्लिखित श्रेणियाँ न केवल दूसरों के दान को प्राप्त करती थीं, बल्कि निगम के नाम पर स्वयं भी दान देती थीं ।

याज्ञवल्क्य संहिता के अनुसार श्रेणि के कर्तव्य—प्राचीन धर्मशास्त्रों में दिए गए कुछ नियमों से हमें इन श्रेणियों की कार्य-प्रणाली की रोचक जानकारी मिलती है । याज्ञवल्क्य संहिता (अध्याय 2) में इस प्रकार आया है :

"निजधर्म्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।
सोपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्म्मो राजकृतश्च्च यः ।। 186
गणद्रव्यं हरेद् यस्तु संविदं लङ्घयेच्च यः ।
सर्व्वस्वहरणं कृत्वा तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ।। 187
कर्त्तव्यं वचनं सर्व्वैः समूहहितवादिनाम् ।
यस्तत्र विपरीतः स्यात् स दाप्यः प्रथमं दमम् ।। 188
समूहकार्य-आयातान् कृतकार्य्यान् विसर्ज्जयेत् ।
स दानमानसत्कारैः पूजयित्वा महीपतिः ।। 189
समूहकार्य्यप्रहितो यल्लभेत तदर्पयेत् ।
एकादशगुणं दाप्यो यद्यसौ नार्पयेत् स्वयम् ।। 190
धर्म्मज्ञाः शुचयोऽलुब्धा भवेयुः कार्य्यचिन्तकाः ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्त्तव्यं वचनं तेषां समूहहितवादिनाम् ।। 191
श्रेणि-नैगम-पाषण्डि-गणानामप्ययं विधिः ।
भेदञ्चैषां नृपो रक्षेत् पूर्व्ववृत्तिञ्च पालयेत् ।। 192

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि श्रेणियाँ नैगम संपत्ति भी रख सकती थीं । वे वर्तमान युग की संस्थाओं की धाराओं के अनुरूप नियम-विनियम बना सकती थीं, जिनका उल्लंघन घोर राजद्रोह माना जाता था । उनके प्रतिनिधि प्रायः उनके नाम पर न्यायालय संबंधी कार्य कर सकते थे और वहाँ उनका बड़ा सम्मान था । शुद्ध और चरित्रवान् कुछ व्यक्ति उनके कार्यचिंतक (प्रबन्ध अधिकारी) नियुक्त किए जाते थे । दुर्भाग्य से समिति के प्रति उनके संबंध स्पष्ट नहीं है । यद्यपि यह साफ-साफ नहीं लिखा है कि वे राजा द्वारा नियुक्त होते थे या सदस्यों द्वारा चुने जाते थे, परंतु सम्पूर्ण उदाहरण से यह भासित होता है कि संभवतः दूसरा तरीका प्रचलित था । 'कर्त्तव्यं वचनं तेषां समूहहितवादिनाम्', इस पंक्ति से प्रतीत होता है कि इन अधिकारियों को निगम-सदस्यों के ऊपर प्रबंध-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे और जो कोई उनके निर्णय की अवमानना करता उसे वे दंड दे सकते थे । निगम के नियमों और प्रथाओं द्वारा वे बाधित थे और यदि अपने अधिकारों का उपयोग करते हुए वे स्वयं उन नियमों की अवहेलना करते या उनके तथा साधारण सदस्यों के बीच विचार-भेद होते तब राजा को हस्तक्षेप करना पड़ता था और वह उन्हें निगम की प्रतिष्ठित प्रथाओं का पालन करने के लिए बाध्य करता था । इस प्रकार यद्यपि प्रबंध अधिकारियों को बहुत अधिकार प्राप्त था पर वे किसी प्रकार निरंकुशवादी नहीं हो सकते थे और समिति के माध्यम से उन्हें नियमों तथा प्रथाओं के प्रति अन्ततः झुकना पड़ता था[1] ।

1. इस बात को टीकाकारों ने पूर्ण रूप से स्पष्ट किया है । उदाहरणार्थ, मित्रमिश्र याज्ञवल्क्य (2,187) का उद्धरण इस तथ्य के समर्थन में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यद्यपि यहाँ श्रेणि के अध्यक्ष का कोई उल्लेख नहीं तो भी तत्कालीन अभिलेखों में प्राप्त श्रेष्ठि के बहुसंख्यक उल्लेख अध्यक्ष के अस्तित्व को सूचित करते हैं। परंतु अब वास्तविक शक्ति प्रबंध-अधिकारियों को प्राप्त हो गई थी। इस युग में श्रेणि का संगठन बहुत-कुछ वर्तमान युग-जैसा था, जिसमें एक अध्यक्ष और कुछ प्रबंध-अधिकारी समिति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। श्लोक संख्या 190 में श्रेणि का संघटित स्वरूप बहुत स्पष्टता के साथ द्योतित है। इस श्लोक में कहा गया है कि किसी व्यक्ति के द्वारा अर्जित सम्पत्ति, जब तक कि वह श्रेणि के कार्यों में हो (इसमें राजा तथा अन्य व्यक्तियों से प्राप्त उपहार तक सम्मिलित थे), नियोजित श्रेणि को ही दी जाए और यदि कोई स्वयं ही ऐसा न करे तो उसके ऊपर सम्पत्ति के मूल्य का ग्यारह गुना जुर्माना किया जाए।

इस युग में श्रेणियों तथा अन्य निगमों के महत्व का पता निम्नांकित दो तथ्यों से भलीभांति ज्ञात होता है :

1. मनु (8, 5) तथा याज्ञवल्क्य (2, 15) में कानून की एक मुख्य धारा के रूप में 'संविद् व्यातिक्रम' (निगमों के साथ किए गए करार के उल्लंघन) का वर्णन है।

2. याज्ञवल्क्य (श्लोक 186) इस आम सिद्धान्त का कथन करते हैं कि संघटन के नियमों तथा विनियमों से संबंधित कर्त्तव्यों का, जो धार्मिक ग्रंथ के आदेशों के अनुकूल हों, तथा राजा द्वारा निर्देशित विनियमों का सावधानी के साथ पालन किया जाए। इस प्रकार श्रेणि के प्रति कर्त्तव्यों को राज्य के प्रति कर्त्तव्यों के बराबर समझा जाए।

देता है कि समिति कार्यकारिणी के अधिकारियों को दंड दे सकती थी (देखिए **वीरमित्रोदय**, पृ० 488)। इस समस्या पर बाद में विस्तार-पूर्वक विवेचना की जाएगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऊपर उद्धृत अंतिम पंक्ति से यह ज्ञात होता है कि विभिन्न श्रेणियों के बीच विवादों तथा मतवैभिन्य अनहोनी बात न थी। ऐसी दशा में राजा को हस्तक्षेप करके प्रत्येक वर्ग को तत्कालीन नियमों तथा व्यवहारों के प्रति सावधान करना पड़ता था।

महाभारत में श्रेणियों के उल्लेख—श्रेणियों को साधारणतया कितना महत्व था, इसका प्रमाण महाभारत[1] के कुछ उद्धरणों से मिल सकता है। एक स्थान पर[2] श्रेणियों को राजकीय शक्ति के प्रमुख आधार के रूप में वर्णित किया गया है। श्रेणियों के प्रधानों में वैमनस्य के बीज बोना या उन्हें गंभीर अपराध के लिए प्रोत्साहित करना शत्रु-राज्य को हानि पहुँचाने के मान्य तरीके कहे गए हैं[3]। गंधर्वों से पराजित होने के बाद दुर्योधन अपनी राजधानी में लौटने से इनकार करता है, क्योंकि हार के कारण असम्मानित, वह श्रेणिमुख्यों को अपना मुँह नहीं दिखा सकता था—"श्रेणिमुख्य मुझको क्या कहेंगे और जवाब

1. यहां कलकत्ता-संस्करण का उपयोग किया गया है।
2. "आददीत बलं राजा मौलं मित्रबलं तथा।
   अटवीबलं भृतं चैव तथा श्रेणिबलं प्रभो ॥7
   तत्र मित्रबलं राजन् मौलं चैव विशिष्यते।
   श्रेणिबलं भृतं चैव तुल्य एवेति मे मतिः ॥8
   तथा चारबलं चैव परस्परसमं नृप।
   विज्ञेयं बहुकालेषु राज्ञा काल उपस्थिते ॥9" (आश्रमवासिकपर्व, अध्याय 7)।
3. "अग्निदैर्गरदैश्चैव प्रतिरूपककारकैः।
   श्रेणिमुख्योपजायेन वीरुधश्छेदनेन च ॥ 49 (शांति पर्व, अध्याय 59)
   श्रेणिमुख्योपजापेषु वल्लभानुनयेषु च।
   अमात्यान् परिरक्षेत भेदसंघातयोरपि ॥" 64 (शांति पर्व, अध्याय 141)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में मैं उनसे क्या बोलूंगा[1] ?"

अंतिम, परंतु महत्व में कम नहीं, शांति पर्व का वह श्लोक है जिसमें यह कहा गया है कि जो लोग अपनी श्रेणियों के प्रति कर्त्तव्य-पालन नहीं करते उन्हें कोई भी प्रायश्चित्त पापमुक्त नहीं कर सकता[2]।

हरिवंश के एक उद्धरण में श्रेणियों के संबंध में मनोरंजक चर्चा मिलती है। इसमें कृष्ण तथा कंस के अनुयायियों के बीच मरणान्त कुश्तियों का वर्णन है। दर्शकों के बैठने के लिए जो अखाड़ा बनाया गया था उसमें विभिन्न श्रेणियों के लिए मण्डप बनाए गए थे। उनका वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे मण्डप पर्वतों की तरह विशाल थे और उन ध्वजाओं से मण्डित थे जिन पर विभिन्न शिल्पियों की मुद्रायें और चिन्ह अंकित थे[3]।

बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) से प्राप्त मिट्टी की मुहरों से इस काल के श्रेणि–संगठनों पर और भी मनोरंजक प्रकाश पड़ता है। उनमें से कई पर ये लेख मिलते हैं[4] :

1. श्रेणि-सार्थवाह-कुलिक-निगम।

---

1. "ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः।
किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम्॥" 16 (वन पर्व, अध्याय 248)।

2. "जातिश्रेण्याधिवासानां कुलधर्म्मांश्च सर्व्वतः।
वर्ज्जयन्ति च ये धर्म्मं तेषां धर्म्मो न विद्यते।" 19 (शांति पर्व, अध्याय 36)।

3. "स्वकर्म्मद्रव्ययुक्ताभिः पताकाभिर्निरन्तरम्।
श्रेणिनां च गणानां च मञ्चा भान्त्यचलोपमाः॥" हरिवंश, अध्याय 86, श्लोक 5।

4. आर्केलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया की वार्षिक रिपोर्ट 1903–4, पृ० 107 और आगे, 1911–12, पृ० 56, 1913–14 पृ० 138 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

2. श्रेष्ठि-कुलिक निगम ।
3. श्रेष्ठि-निगम ।
4. कुलिक-निगम ।

इन अभिलेखों में महत्वपूर्ण शब्द 'निगम' की व्याख्या विद्वानों ने प्राय: श्रेणि या समुदाय के अर्थ में की है। प्रो० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर का मत है कि इस अर्थ के लिए कोई आधार नहीं है । उनका कहना है कि इस शब्द से उसका साधारण अभिप्राय 'नगर' लेना चाहिए ।[1] उनका यह कथन ठीक जँचता है और जब तक इस शब्द का वास्तविक भाव निश्चित करने के लिए कोई आकस्मिक खोज सामने नहीं आ जाती तब तक मेरे विचार से उसे ही ठीक मानना चाहिए ।

ऊपर उद्धृत लेख उन नगरों की ओर इंगित करते हैं जो श्रेणियों, कुलिकों तथा सार्थवाहों के द्वारा सम्मिलित या प्रथक् रूप से प्रशासित थे । इस प्रकार की वस्तु-स्थिति यद्यपि साधारणतया नहीं मिलती तो भी उसे बिलकुल नूतन नहीं कहा जा सकता । क्योंकि दक्षिण भारत के वे बड़े व्यावसायिक संगठन हमारे सामने हैं जिनके संबंध में इस अध्याय के अगले अनुच्छेद में विस्तृत विवरण मिलेगा । उत्तर भारत में भी ग्वालियर के एक अभिलेख[2] में श्रेष्ठियों तथा सार्थवाहों के एक मंडल का उल्लेख है, जो 877 ई० में नगर का शासन संचालित करता था ।

संस्कृत साहित्य में श्रेष्ठि, सार्थवाह तथा कुलिक[3] शब्द प्राय: श्रेणि या सार्थ के प्रधान के लिए प्रयुक्त मिलते हैं । अतः यह स्पष्ट है कि मिट्टी की जिन मुद्राओं का उल्लेख ऊपर हुआ है वे उन श्रेणियों

1. **कार्माइकेल व्याख्यान**, 1918, पृ० 170 तथा आगे ।
2. **एपि० इण्डि०**, जिल्द 1, पृ० 159 तथा आगे ।
3. मैं 'कुलिक' तथा 'कुलक' इन दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में लेता हूँ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की मुद्रायें थीं जो किसी नगर की शासन-संचालिका के रूप में मान्य थीं। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, जातक-कथाओं में शिल्पियों तथा व्यापारियों के गाँवों के जिक्र हैं, और संभवत: ऐसी ही स्थिति ईस्वी चौथी और पाँचवीं शताब्दियों में भी थी। जहाँ तक हमारी वर्तमान जानकारी है, बसाढ़ की मुद्राओं से हम जो युक्तिसंगत परिणाम निकाल सकते हैं वह यह है कि गुप्तकालीन भारत के अनेक नगरों में श्रेणियों के शक्तिशाली संगठन थे, जिन्हें शासकीय अधिकार प्राप्त थे[1]।

§ ६

अब हम परवर्ती धर्मशास्त्रों, नारद और बृहस्पति आदि

---

1. यहाँ यह बताना उपयुक्त होगा कि जिन विद्वानों ने 'निगम' शब्द को श्रेणि के अर्थ में स्वीकार किया है वे बसाढ़ के मुद्राभिलेखों से बिलकुल भिन्न और रोचक परिणाम निकालते हैं। उदाहरण के लिए डा० ब्लाख के विचार यहाँ दिए जाते हैं :

"मुद्राभिलेखों में सबसे अधिक वह लेख मिलता है जिसमें श्रेष्ठि, सार्थवाह तथा कुलिक के संगठन या निगम का जिक्र है। इसका संबंध दूसरी मुहरों से भी है जिनमें साधारण व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। केवल एक उदाहरण ऐसा है जिसमें निगम का नाम कुमारामात्यों के प्रधान की मुद्रा के साथ मिलता है। व्यक्तिगत नामों की सूची काफी बड़ी है। उनमें बहुत से कुलिक या व्यापारियों के रूप में बताए गए हैं। हरि नामक एक व्यक्ति अपने को 'कुलिक' तथा 'प्रथम कुलिक' दोनों बताता है। दो व्यक्तियों की संज्ञा 'श्रेष्ठि' दी गई है और दोड्ड नामक एक अन्य व्यक्ति सार्थवाह या व्यापारी कहा गया है। प्राय: दो या इनसे अधिक व्यक्तियों की मुद्राएँ एक-दूसरे के साथ सम्मिलित रूप में मिली हैं, या वे व्यावसायियों आदि की श्रेणि-मुद्रा से संबंधित हैं, जिसके प्राय: अधिकांश लोग निश्चित रूप से सदस्य थे। मालूम होता है कि उन दिनों उत्तर भारत के किसी बड़े व्यापारिक केन्द्र, संभवत: पाटलिपुत्र, में वर्तमान चैम्बर आफ कामर्स–जैसी संस्था अस्तित्व में थी।" (**पुरातत्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट**, 1903–4, पृ० 104)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ई० ५वीं से ७वीं शती), के युग में आते हैं। इस काल में श्रेणि संगठन का क्रमिक विकास जारी रहा। नारद तथा बृहस्पति ने संविद्-व्यातिक्रम संबंधी कानून शीर्षक पर कई अलग अध्याय दिए हैं। नारद स्मृति में स्पष्ट कहा गया है कि "राजा को चाहिए कि वह श्रेणियों तथा अन्य निगमों की प्रथाओं को मान्यता दे, उनके जो भी कानून, (धार्मिक) कर्त्तव्य, उपस्थिति के नियम और जीवन-निर्वाह की विशेष परिपाटी हों, उन सब को राजा स्वीकार करे[1] ।"

आगे बताया गया है कि "जो लोग किसी संगठन के सदस्यों में फूट डालें उन्हें विशेष रूप से कठोर दंड दिया जाए, क्योंकि यदि उन्हें बिना दंड दिए छोड़ा जाएगा तो वे संक्रामक रोग के समान अत्यधिक खतरनाक सिद्ध होंगे[2] ।" धर्मशास्त्रों के इन व्यादेशों से ज्ञात होता है कि समाज के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में श्रेणि-संस्थाओं को कितना ऊंचा स्थान प्राप्त था।

बृहस्पति-संहिता में श्रेणि-व्यवस्थाओं के अस्तित्व-कारण की व्याख्या—इस काल का साहित्य श्रेणि-संगठन के स्वरूप तथा उद्भव के संबंध में मनोरंजक प्रकाश डालता है। बृहस्पति के निम्नांकित उद्धरण में उनके अस्तित्व का कारण इस प्रकार मिलता है[3]–

"ग्राम श्रेणिगणानाञ्च संकेतः समयक्रिया।
वाधाकाले तु सा काय्र्या धर्मकाय्र्ये तथैव च।
चाटचौरभये वाधा सर्वसाधारणाः स्मृताः।
तत्रोपशमनं काय्र्यं सर्व्वैर्नैकेन केनचित् ।।"

जॉली के द्वारा इस उद्धरण का अनुवाद इस प्रकार किया गया

1. 10, 2, 3।
2. 10, 6।
3. 17, 5–6।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है : "ग्राम-वासियों, शिल्पि-संगठनों तथा गणों के बीच किए गए शर्तनामा को 'समय क्रिया' कहते हैं। इस शर्तनामा का पालन कष्ट के समय तथा धर्म-कार्यों—इन दोनों स्थितियों में करना चाहिए। जब डाकुओं या चोरों से खतरे की आशंका हो तब उसे सर्वसाधारण के लिए अपत्ति समझनी चाहिए। ऐसी स्थिति में बाधा को दूर करने का कार्य केवल एक के द्वारा नहीं, चाहे वह व्यक्ति कोई भी हो, बल्कि सभी के द्वारा किया जाना चाहिए[1]।"

यह अनुवाद मुझे युक्तिसंगत नहीं लगता। जॉली का अनुवाद कि 'कष्ट के समयों में तथा धर्म-कार्यों में सदा ही ऐसे शर्तनामे को मानना चाहिए,' कोई संतोषप्रद अर्थ नहीं देता। उद्धरण का वास्तविक तात्पर्य यह ज्ञात होता है कि इस प्रकार की समय-क्रिया बाधाओं से बचने तथा कर्त्तव्य-पालन के लिए लोगों द्वारा की जानी चाहिए[2]। दूसरे श्लोक में 'चाट-चौर' का अर्थ जॉली डाकू तथा चोर बताते हैं। वस्तुतः श्लोक के 'चौर' से डाकू वा चोर अभिप्रेत हैं, परन्तु जॉली ने 'चाट' का कोई अनुवाद नही दिया।

इस काल के भूमिदानों में प्रायः इस शब्द का प्रयोग 'अचाटभट-प्रावेश्य' तथा ऐसे ही अन्य उद्धरणों में मिलता है। डा० बूलर तथा डा० फ्लीट दोनों ने इसे 'कच्ची पलटन' के अर्थ में लिया है[3]। जॉली

---

1. **सै० बु० ई०**, जिल्द 33, पृष्ठ 347।
2. 'बाधा काले' तथा 'धर्म कार्ये' इन दोनों की सप्तमी विभक्ति इस नियम के अन्तर्गत समझनी चाहिए : 'निमित्तात् कर्म्मसमवाये।' इस संबंध में मिलाइए 'भामति' में मित्रमिश्र की यह व्याख्या :
   "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व्वसंशयाः।
   क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।"
3. **इंडियन ऐंटीक्वेरी**, जिल्द 5, पृ० 115;
   गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृ० 98, पा० टि० 2।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वारा अंतिम अंश का अनुवाद भी ठीक नहीं। इसका वास्तविक अर्थ होगा 'किसी व्यक्ति विशेष पर व्यादेश कि वह सर्वसाधारण बाधा को अकेल न दूर करे।' सही अर्थ यह प्रतीत होता है': "संगठित समूह, न कि कोई अकेला व्यक्ति (चाहे वह कोई या कितना ही बड़ा क्यों न हो), खतरे को दूर कर सकता है।"

अब हम इस स्थिति में हैं कि सम्पूर्ण उद्धरण के मोटे अभिप्राय को समझ सकें। प्रथम दो पंक्तियों में लेखक कारण बताता है कि श्रेणि के सदस्यों तथा अन्य निगमों के द्वारा समय-क्रिया क्यों बनाई जाए। उसके ये दो उद्देश्य हैं :

1. बाधा का दूर किया जाना।
2. लोगों के (धार्मिक तथा लौकिक) कर्त्तव्यों का यथोचित पालन।

अंतिम दोनों पंक्तियों में उपर्युक्त बाधाओं का स्पष्ट कथन है। ये बाधायें चोर-डाकुओं तथा कच्ची पलटनों के सैनिकों (जो युद्ध-समाप्ति के बाद मुक्त होने पर शायद देश में छा जाते थे) स थीं। उनके निराकरण के लिए समयक्रिया का विधान यह कह कर किया गया कि बाधाओं का दूरीकरण सबके संगठित प्रयासों से ही सम्भव था, न कि किसी एक व्यक्ति द्वारा।

इस प्रकार यह बात भलीभांति अनुभूत हो गई थी कि संगठन का महत्व उन सुविधाओं में था जिनके द्वारा सर्वसाधारण की बाधाओं को दूर किया जा सकता था और सबकी भलाई संपादित की जा सकती थी। जन-मानस में व्याप्त संगठन की उपादेयता की सुदृढ़ भावना के कारण ही इन श्रेणि-संगठनों का संवर्धन और विकास हुआ।

बृहस्पति-स्मृति से नई श्रेणि के गठन के बाद वाली कुछ क्रियाओं पर भी प्रकाश पड़ता है, यथा :

"कोषेण लेखक्रियया मध्यस्थैर्वा परस्परम्।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विश्वासं प्रथमं कृत्वा कुर्युः कार्याण्यनन्तरम्[1] ।।"

इससे यह प्रकट है कि श्रेणि-व्यवस्था का पहला कदम यह था कि उसके प्रत्याशी सदस्यों में पारस्परिक विश्वास उत्पन्न किया जाए । ऐसा निम्नांकित में स किसी प्रयोग द्वारा किया जाता था :

(१) **कोष**—यह निश्चत रूप से उस परीक्षा का द्योतक है जिसका विस्तार से वर्णन नारद (१,३२९–३१) और याज्ञवल्क्य (११,११४–११५) में उपलब्ध है । जिस व्यक्ति की परीक्षा ली जाती उसे तीन घूंट वह पानी पीना पड़ता था जिसमें उस देवता की प्रतिमा को स्नान कराकर पूजा जाता था जिसे वह व्यक्ति अपना इष्टदेव मानता था । यदि इस परीक्षा के एक सप्ताह या पखवाड़े के बाद उस व्यवित का कुछ अप्रिय हो जाता तो इसे उसके अपराध का प्रमाण समझा जाता था[2] । अन्यथा उसे पवित्र ठहराया जाता और वह श्रेणि का योग्य सदस्य करार दिया जाता था ।

(२) **लेख-क्रिया**—यह संभवतः परम्परा या शर्तनामा का द्योतक है, जिसमें श्रेणि के उन नियमों तथा विनियमों का विवरण रहता है जिनका पालन सभी को करना चाहिए ।

(३) **मध्यस्थ**—इसका वास्तविक अभिप्राय क्या है, यह

---

1. कोष, लेखक्रिया या मध्यस्थों द्वारा पारस्परिक विश्वास उत्पन्न हो जाने के बाद वे अपने कार्यों में संलग्न हो जाएँ ।' (17,7, सै०बु०ई०, जिल्द 33, पृष्ठ 347) ।
2. (**सै० बु० ई०**, जिल्द 33, पृष्ठ 116) । विचारणीय सन्दर्भ में 'अपराध' के स्थान पर 'सदस्यता के लिए अयोग्यता' समझना चाहिए ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहना कठिन है । संभवतः इससे एक प्रतिष्ठित व्यक्ति का व्यवहार अभिप्रेत है, जो दूसरे व्यक्ति के सदाचार के लिए उत्तरदायी ठहरता है ।

इन उपायों में से एक या अन्य के द्वारा पारस्परिक विश्वास उत्पन्न होने पर प्रत्याशी सदस्य कार्य में जुट जाते हैं । विचारणीय बातों में बिलकल व्यावसायिक कामकाज के अलावा अन्य कई बातें होती थीं और वे संभवतः एक लेखापत्र में टंकित होती थीं, जिसे प्रत्याशी सदस्यों में से प्रत्येक को स्वीकार करना पड़ता था । बृहस्पति स्मृति में निम्नलिखित पंक्तियाँ ऐसे विचारणीय विषयों का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं[1] :

"सभाप्रपादेव गृहतडागाराम संस्कृतिः ।
तथानाथदरिद्राणां संस्कारो यजनक्रिया ।।
कुलायनं निरोधश्च कार्य्यमस्माभिरंशतः ।
यत्रैतल्लिखितं सम्यक् (पत्रे) धर्म्म्या सा समयक्रिया[2] ।।"

बृहस्पति-संहिता के अनुसार श्रेणियों के नगर-पालन संबंधी कार्य—श्रेणियों के कार्य-कलापों में जनोपयोगी विभिन्न बातें सम्मिलित थीं : यथा, सभागृह या यात्रियों के लिए विश्राम-गृह का निर्माण, जिसमें मंदिर, सरोवर तथा उद्यान सम्मिलित हों । वे दीनजनों को

1. विभिन्न श्रेणियों में यह बात अलग-अलग रूप में थी । कात्यायन इस अभिप्राय को साधारण रूप में इस प्रकार कहते हैं :
"समूहानां तु यो धर्म्मस्तेन धर्म्मेण ते सदा ।
प्रकुर्य्युः सर्व्वकार्य्याणि स्वधर्म्मेषु व्यवस्थिताः ।।"
(विवाद रत्नाकर, पृष्ठ 180 पर उद्धृत) ।

2. 17,11,12, जॉली के अनुवाद के लिए देखिए **सें०बु०ई०**, जिल्द 23, पृष्ठ 347–48 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शास्त्रानुमोदित संस्कार[1] या यज्ञ-कार्य करने के लिए भी सहायता देती थीं[2]।

यह सब औपचारिक लेखा में टंकित रहता था, जो कानून की दृष्टि में सही शर्तनामा समझा जाता था। प्राचीन भरतपुर रियासत में कामाँ से प्राप्त लगभग ८वीं शती के एक परवर्ती अभिलेख से श्रेणियों के विषय में अनेक रोचक विवरण प्राप्त होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन प्रयोजनों के लिए श्रेणियों को दानस्वरूप धनराशियाँ मिलती थीं, उन्हें पूरा करते समय वे साधारण संचित कोष से व्यय नहीं करती थीं, बल्कि सदस्यों पर छोटा कर लगा देती थीं। इसके अतिरिक्त इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि एक श्रेणि विशेष में समान व्यवसाय वाले सभी सदस्य सम्मिलित थे और प्रत्येक सदस्य को एक निश्चित

---

1. जॉली इस वाक्य का अनुवाद 'असहाय या दीनजनों को सहायता' करते हैं। परन्तु यहाँ 'संस्कार' शब्द 'यज्ञक्रिया' के साथ आया है, अतः यह स्मृतियों में कहे गए 12 या 16 संस्कारों का सूचक है।
2. 'कुलायनं निरोधश्च' में जिस कर्त्तव्य का उल्लेख है उसका ठीक अर्थ समझना कठिन है। जॉली इसका अनुवाद 'सर्वसाधारण मार्ग' या 'रक्षा' करते हैं। परंतु चण्डेश्वर या मित्रमिश्र आदि व्याख्याकारों में से किसी का विचार इससे मेल नहीं खाता। चण्डेश्वर इस उद्धरण की व्याख्या इस प्रकार करते हैं: 'कुलायनं कुलीनस्य अयनं (आनयनं), निरोधो दुर्जनप्रवेश वारणं,' अर्थात् अच्छे व्यक्तियों को कुल में प्रवेश करना तथा बुरे लोगों का निषेध (**विवाद रत्नाकर**, पृ० 182)।
   मित्रमिश्र इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं:
   'दुर्भिक्षाद्यपगमपर्य्यन्तस्य धारणं,' जिसका अभिप्राय संभवतः दुर्भिक्ष आदि के अंत तक लोगों की रक्षा करना है। मित्रमिश्र दूसरा पाठ 'कुल्यायन निरोधः' देते हैं और उसकी व्याख्या में लिखते हैं:
   'कुल्यायाः प्रवर्त्तन प्रतिबन्धौ', अर्थात् तालाबों, कुओं, आदि का खोदना तथा जलप्रवाहों का बांधना (**वीरमित्रोदय**, पृ० 425)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धनराशि देनी पड़ती थी[1]। श्रेणियों की कार्यप्रणाली का यह स्वरूप अभिलेखों से भी प्रकट होता है : यथा, जुन्नर-अभिलेख में, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, अनाज-विक्रेताओं की श्रेणि द्वारा एक लयण के खोदने तथा हौज के निर्माण का कथन है। मन्दसौर-अभिलेख[2] में आया है कि किस प्रकार रेशम-बुनकरों की श्रेणि द्वारा ४३७ ई० में सूर्य के एक भव्य मंदिर का निर्माण किया गया और फिर ४७३–७४ ई० में उसकी मरम्मत की गई।

§७

श्रेणियों का संविधान—जिस प्रबंध-पद्धति द्वारा श्रेणियाँ अपने विभिन्न कार्य संपादित करती थीं वह कुछ विस्तार से बृहस्पति स्मृति में वर्णित है। एक प्रधान या अध्यक्ष होता था, जिसकी सहायता के लिए दो, तीन या पाँच प्रबन्ध-अधिकारी होते थे (१७, ९, १०)।[3] बृहस्पति का कथन है कि केवल वेही व्यक्ति प्रबंध-अधिकारी नियुक्त किए जाएँ जो ईमानदार, वेदों तथा अपने कर्त्तव्यों के ज्ञाता, योग्य, आत्म-संयमी तथा उच्चकुल वाले हों और प्रत्येक कार्य में निपुण हों[4]।

1. एपि० इण्डि, 24, पृष्ठ 333।
2. फ्लीट, **गुप्त इंस्क्रिप्शंस**, संख्या 18।
3. 17,10। ग्वालियर के वैल्लभट्टस्वामि के मंदिर का अभिलेख (**एपि० इंडिका**, पृष्ठ 154 से) अनेक श्रेणियों के प्रबंध–अधिकारियों का उल्लेख करता है। उदाहरणस्वरूप तेलियों की श्रेणि की चर्चा करते समय उसमें पहले प्रत्येक श्रेणि के मुखिया (तैलिकमहत्तक) का उल्लेख है, तत्पश्चात् तेलियों की समस्त श्रेणि के अन्य सदस्यों का। तेलियों की तीन श्रेणियों की संख्या क्रमशः 4, और 5 दी है।
4. 17, 9। जो व्यक्ति इन पदों के अनधिकारी होते थे उनका भी वर्णन विस्तार से मिलता है :
   "विद्वेषिणो व्यसनिनः शालीनालसभीरवः।
   लुब्धातिवृद्धबालाश्च न कार्याः कार्यचिन्तकाः॥" (**बृहस्पति**, 17,8)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रबंध अधिकारी——लगता है कि ये अधिकारी अपने आधिकारिक रूप में व्यक्तिगत सदस्यों के ऊपर काफी रोबदाब रखते थे। बृहस्पति के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपने क्रियोचित कर्त्तव्य को समर्थ होते हुए भी पूरा न करता तो उसकी सम्पूर्ण जायदाद छीन ली जाती और उसे नगर से वहिष्कृत कर दिया जाता था। यदि कोई अपने सहायकों सहित कर्तव्य-च्युत होता या अपने काम में लापरवाही करता तो सहायकों सहित प्रत्येक पर ६ निष्क या ४ सुवर्ण का जुर्माना किया जाता था। जो कोई सम्मिलित स्टाक को हानि पहुँचाता या आपसी शर्तनामे का उल्लंघन करता तो उसे भी नगर-निष्कासन का दंड दिया जाता था।

प्रबंध-अधिकारियों को अधिकार था कि वे गलत आचरण करन वालों को जैसा ठीक समझें दंड दें। साधारण प्रताड़ना या डाँट-डपट से लेकर निष्कासन तक, किसी भी दंड का प्रयोग वे कर सकते थे[1]। इन दंडों को देने में वे स्वतंत्र थे। बृहस्पति स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "इन लोगों (परिषद् के प्रमुखों) द्वारा दूसरे लोगों के प्रति कड़ा या मृदुल जो भी व्यवहार नियमानुसार किया जाए[2] उसे राजा भी अनुमोदित करे, क्योंकि ये लोग विधानों के अधिकारी रूप में प्रख्यात होते हैं[3]।"

1. 17, 17।
2. जॉली द्वारा अनूदित उद्धरण में यह वाक्य बढ़ाना चाहिए (सैं०बु०ई०, जिल्द, 33, पृष्ठ 349)। मूल इस प्रकार है :
   "तैःकृतंयत् स्वधर्म्मेण निग्रहानुग्रहं नृणाम्।
   तत्राज्ञामनुमन्तव्यं निसृष्टार्था हि ते स्मृताः॥"
   मित्रमिश्र 'निसृष्टार्था' की व्याख्या 'अनुज्ञातकार्याः' द्वारा करते हैं (**वीरमित्रोदय, पृ० 430**)।
3. 17, 18, सैं०बु०ई०, जिल्द 33, पृ० 349।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विशेष मामलों में राजा हस्तक्षेप कर सकता था। अगले श्लोक में आया है कि यदि किसी संस्था के प्रधान द्वेष के कारण संगठन के किसी एक सदस्य को हानि पहुँचाएँ तो राजा उन्हें रोके और यदि वे तब भी न मानें तो उन्हें दंडित किया जाए।[1] प्रतीत होता है कि अध्यक्ष द्वारा दण्डित कोई भी व्यक्ति राजा के पास अपील कर सकता था और यदि यह प्रमाणित हो जाता कि अध्यक्ष का व्यवहार नियमानुमोदित न होकर व्यक्तिगत रागद्वेष से प्रभावित रहा हो तो राजा उसके प्रस्तावों को रद कर सकता था। इन दोनों उद्धरणों से भासित होता है कि जहाँ राजा द्वारा समिति का स्वातंत्र्य मान्य था वहाँ गणतंत्रात्मक परिषद् द्वारा कभी किसी व्यक्ति पर ज्यादती की जाने पर उस व्यक्ति की उचित ढंग से रक्षा की जाती थी। संभवतः इन्हीं उपायों द्वारा व्यक्तिगत अधिकारों तथा संघटित अधिकारों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की व्यवस्था थी।

लोकतांत्रिक तत्व—प्रबंध अधिकारियों द्वारा इस प्रकार के उच्च अधिकार-प्रयोग के बावजूद इस काल के श्रेणि-संगठनों में गणतंत्रात्मक तत्व बिलकुल स्पष्ट था। परिषद् का एक कार्यालय[2] होता था, जहाँ श्रेणि के सदस्य समय-समय पर इकट्ठा होकर सार्वजनिक कार्य संपादित करते थे। नारद के अनुसार सदस्यों की उपस्थिति के लिए साधारण नियम निश्चित थे और राजा को उन्हें मान्यता प्रदान करनी पड़ती थी, चाहे वे नियम जैसे भी हों[3]। इस उद्धरण पर मित्रमिश्र की व्याख्या से प्रतीत होता है कि ढोल या अन्य वाद्य-यंत्रों को बजाकर सदस्यों को यह सूचित किया जाता था कि वे श्रेणि-

1. **सै० बु० ई०**, जिल्द 33, पृष्ठ 349।
2. **बृहस्पति**, 17, 11।
3. **नारद**, 10, 3।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भवन में उपस्थित होकर जनसमुदाय के मामलों पर विचार करें[1]। सभा में सदस्यों के नियमित भाषण होते थे। संभवतः भाषण-स्वातंत्र्य की भावना अज्ञात न थी। चण्डेश्वर अपने विवाद 'रत्नाकर' में कात्यायन का यह श्लोक उद्धृत करते हैं :

"युक्तियुक्तञ्च यो हन्यात् वक्तुर्यो नावकाशदः।
अयुक्तञ्चैव यो ब्रूयात् प्राप्नुयात् पूर्व्वसाहसम्।।"

वे यह व्याख्या जोड़ते हैं : 'यो, ब्रूयात् कार्य्यचिन्तकेषु[2]।'

इससे भासित होता है कि प्रबंध-अधिकारी यदि किसी अन्य वक्ता को युक्तिसंगत कथन के लिए हानि पहुँचाता, वक्ता के बोलने में रुकावट डालता (उसे आगे बोलने का मौका न देता) या अनुचित बात कहता तो वह 'पूर्व साहस दंड' का भागी होता था।

कुछ अन्य गौण विनियम इस बात को स्पष्टतया बताते हैं कि इन संस्थाओं में किस प्रकार गणतंत्रात्मक भावनायें विद्यमान थीं। यथा, बृहस्पति प्रबंध-अधिकारियों या उन अन्य व्यक्तियों के संबंध में, जो श्रेणि द्वारा उसके किन्हीं कार्यों के संचालनार्थ नियोजित होते, यह निर्देश देते हैं कि जो कुछ भी उनके द्वारा प्राप्त किया जाए (जैसे किसी न्यायाधिकरण में सीमाविवाद के दौरान में किसी खेत या बगीचे की प्राप्ति) या (चोरों से) रक्षित वस्तु और उनके द्वारा जो भी कर्ज (श्रेणि के कार्य के लिए) लिया जाए या शासकीय कृपा के कारण जनसमुदाय के लिए जो वस्तु प्रदत्त हो—इस सभी को सारे सदस्यों में समान रूप से बाँटा जाए[3]। यदि प्रबंध-अधिकारियों

1. **वीरमित्रोदय,** पृष्ठ 430।
2. **विब्लि० इण्डि०,** पृष्ठ 179।
3. "यत्तैः प्राप्तं रक्षितं वा गणार्थं वा ऋणं कृतम्।
राजप्रसादलब्धञ्च सर्वेषामेव तत् सममिति।।"
वीरमित्रोदय, पृष्ठ 432 (कोष्ठकों के अंतर्गत उक्त अनुवाद के अंश व्याख्या स लिए गए हैं)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वारा ऋण में लिया गया धन श्रेणि के हित में न लगाकर उनके निजी कार्यों में खर्च किया जाता तो उन्हें वह धनराशि पूरी करनी पड़ती थी[1]।

मित्रमिश्र की कुछ टीकाओं[2] से भासित होता है कि किसी श्रेणि में नये सदस्यों का लिया जाना तथा उससे पुराने सदस्यों का हटाया जाना श्रेणि की साधारण सभा के ऊपर निर्भर रहता था। वह कात्यायन का एक वचन भी उद्धृत करता है, जिसका प्रयोजन यह स्पष्ट करना है कि नवागन्तुक सदस्य तत्काल ही अन्य पुराने सदस्यों के समान श्रेणि के विद्यमान धन और ऋण का समानभागी हो जाता है तथा श्रेणि द्वारा किए हुए दान और धर्मकार्यों के फल का उपभोग करता है। इसके विपरीत श्रेणि से हटाए हुए सदस्य का इन अधिकारों और दायित्वों को साथ सब प्रकार का संबंध तत्काल समाप्त हो जाता है। विवादरत्नाकर का लेखक चण्डेश्वर भी कात्यायन का उक्त वचन उद्धृत करता है[3] और हमें यह सूचना देता है कि किसी श्रेणि का सदस्य बनने के लिए उसके पुराने सदस्यों की सर्वसम्मति अपेक्षित थी, किन्तु कोई व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी सदस्यता का त्याग करने के लिए स्वतन्त्र था।

---

1. "गणमुद्दिश्य यत् किंचित् कृत्वर्णं भक्षितम्भवेत।
आत्मर्थं विनियुक्तं वा देयं तैरेव तद्भवेदिति।"
2. "ये त समुदायानुग्रहात्तदन्तर्भावं प्राप्ताः ये च समुदायक्षोभादिना ततो वहिर्भूतास्तान् प्रत्याह स (कात्यायनः) एव।"
3. "गणानां श्रेणिवर्गाणां गताः स्युर्य्येऽपि मध्यताम्।
(प्राक्तनस्य) प्राकृतस्थ धनर्णस्य समांशाः सर्व एवेति॥
तथैव भोज्यवैभव्यदानधर्मक्रियासु च।
समूहस्थोऽशंभागी स्यात् प्राग्गतस्तंशभाङ् न त्वति॥"
(वीरमित्रोदय, पृ० 432)।

विवादरत्नाकर में पंक्ति २ में 'प्राकृतस्थ' के स्थान में 'प्राक्तनस्य' पंक्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपर्युक्त वचनों से अप्रत्यक्ष रूप से इस तथ्य की भी पुष्टि होती है कि लोकतांत्रिक संगठन की कुछ शक्तियां और कार्य भी श्रेणियों को हाथ में थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि—

(1) न्यायालयों में श्रेणि एक संघटन के रूप में मान्य थी जहाँ किसी खेत, उद्यान आदि के स्वामित्व का दावा करने के लिए उसके चुने हुए सदस्य उसका प्रतिनिधित्व करते थे।

(2) श्रेणि को सामूहिक अचल सम्पत्ति—जैसे खेत, बगीचा आदि-पर स्वामित्व का अधिकार प्राप्त था।

(3) प्रबन्ध-अधिकारी श्रेणि की ओर से ऋण ले सकता था।

(4) संघटन की ओर से दान और धर्मकार्य किए जाते थे थे और प्रत्येक सदस्य उनके पुण्यफल का भागी माना जाता था।

(5) कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से श्रेणि की सदस्यता छोड़ सकता था।

किन्तु इस सम्पूर्ण पद्धति में सबसे विशिष्ट लोकतान्त्रिक तत्व यह था कि प्रबन्ध-अधिकारी अन्तिम रूप से समूह के प्रति उत्तरदायी माने जाते थे। मित्रमिश्र ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है[1]। उसके अनुसार याज्ञवल्क्य-स्मृति के दूसरे अध्याय के 187वें श्लोक का अभिप्राय मुख्यों से है। "मुख्यदण्डने समूहस्यैवाधिकार:"

---

3 में 'वैभव्य' के स्थान में 'वैभाज्य' और पंक्ति 4 में 'प्रागत' के स्थान में 'प्रगत' पाठ है (पृ० 187)।

"ये सर्व्वसम्मतया गणादिमध्यप्रविष्टास्तेपि सर्व्वे पूर्व्वधनस्य ऋणस्य च भागिनो भवन्तीत्यर्थः। प्रगतस्त्वंशभाग् नतु, प्रगतः निजप्रयोजनमात्रेण गणादिभ्यो बहिर्भूतः नांशभागित्यर्थः।

(विवादरत्नाकर, पृ० 188)।

१. **वीरमित्रोदय,** पृ० 428।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(मुख्यों को दण्डित करने का अधिकार केवल समूह को है)। इस सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए उसने कात्यायन का अधोलिखित श्लोक उद्धृत किया है :

"साहसी भेदकारी च गणद्रव्यविनाशकः।
उच्छेद्याः सर्व्व एवैते विख्याप्यैव नृपे भृगुः॥"

इस प्रकार समूह ऐसे किसी भी प्रबन्ध-अधिकारी को हटा सकता था जो किसी बड़े अपराध के लिए उत्तरदायी होता, जो फूट डालता अथवा जो गण की सम्पत्ति का नाश करता। राजा को उसके निष्कासन की सूचना मात्र देना आवश्यक था, उसकी अनुमति प्राप्त करना नहीं। प्रबन्ध-अधिकारियों के हाथ में बहुत अधिक शक्ति थी। अतः यदि वे प्रतिकूल रूप अपना लेते तो उन्हें हटाना कोई आसान काम नहीं था[1]। ऐसी दशा में विवाद राजा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था, जैसा कि बृहस्पति-संहिता के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है :

"मुख्यैः सह समूहानां विसंवादो यदा भवेत्।
तदा विचारयेद् राजा स्वधर्मे स्थापयेच्च तान्[2]॥"

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, राजा दोनों पक्षों की बात सुनता और ऐसे प्रश्नों का निबटारा श्रेणियों के विशिष्ट नियमों के अनुसार करता था[3]। इसके पश्चात् वह अपना निर्णय देता और उसे उसे कार्यान्वित करता था।

---

1. तुलनीय पृ० 27–28 पर उद्धृत अर्थशास्त्र का वचन।
2. 17,20 मुख्यों और समूहों के बीच विवाद उत्पन्न हो तो राजा उसका निर्णय करे और उन्हें पुनः स्वधर्म में स्थापित करे (सैं०बु०ई०, जिल्द 33 पृ० 349)। अभिलेखीय प्रमाणों से इसकी पुष्टि होती है। (एपि० इंडि०, 24, पृष्ठ 34)।
3. **नारद**, 10,3 तथा जगन्नाथ की टीका, **नारद**, पृ० 184।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रश्न पर मित्रमिश्र का कथन पूर्णतः स्पष्ट है। वह कहता है कि मुख्यों का निष्कासन वस्तुतः समूह का कार्य है और उन्हें दण्ड देने के लिए राजा को तभी हस्तक्षेप करना चाहिए जब समूह ऐसा करने में अपने आपको असमर्थ पाता हो—'समूहाशक्तौ तस्य दण्डो राज्ञा विधेयः[1]।'

उपर्युक्त परिस्थिति श्रेणि के मामलों में राजकीय हस्तक्षेप का एक अति ज्वलन्त उदाहरण है। हम पहले ही कह चुके हैं कि

---

1. इसके उदाहरण के रूप में वह मनु 8, 219–221 का, जिसकी चर्चा ऊपर पृ० 32 पर की जा चुकी है, हवाला देता है। इन श्लोकों म कहा गया है कि किसी समूह के साथ किए हुए इकरारनामे का उल्लंघन करनेवाला व्यक्ति राजा द्वारा निर्वासित किया जाना चाहिए (मित्रमिश्र के अनुसार इस सम्पूर्ण अंश का अभिप्राय केवल मुख्यों अथवा प्रबन्ध-अधिकारियों से है। इसी प्रकार वह बृहस्पति के अधोलिखित श्लोक की व्याख्या भी उसे केवल मुख्यों से सम्बद्ध मानकर करता है :

"अरुन्तुदः सूचकश्च भेदकृत् साहसी तथा।
श्रेणिपूगनृपद्विष्टः क्षिप्रं निर्वास्यते ततः" ।।33

(झगड़ालू, चुगुलखोर, फूट डालनेवाला, हिंसात्मक काम करने वाला तथा श्रेणि, पूग और राजा से द्वेष करनेवाला व्यक्ति तत्काल नगर अथवा समूह (निगम) से निर्वासनीय है)।

इसके आगे उसने निम्नलिखित टिप्पणी और जोड़ दी है :

"समूहस्थानान्निर्वास्यते समूहेनेति शेषः, न च समूहस्य दण्डकरणेऽनधिकारात् समूहेति शेषकरणमयुक्तमिति वक्तव्यम्। पूर्वोक्त-कात्यायन वचनेन समूहस्य मुख्यदण्डनेऽधिकारस्य प्रतिपादितत्वात्"।)

'स्वतः समूह द्वारा समूहस्थान से निर्वासित किया जाता है। यह तर्क नहीं किया जा सकता कि समूह को दण्ड देने का अधिकार न होने से यह व्याख्या गलत है, चूंकि कात्यायन का उपरिलिखित श्लोक प्रतिपादित करता है कि समूह को अपने मुख्यों को दण्डित करने का अधिकार है।'

(वीरमित्रोदय, पृ० 429)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि कोई व्यक्ति यह सोचता कि वह ईर्ष्या या घृणा का शिकार हो गया है तो राजा उसके हितों की रक्षा कर सकता था। श्रेणियों के काम में राजकीय हस्तक्षेप के कुछ अन्य उदाहरणों की कल्पना नारद के अधोनिर्दिष्ट श्लोकों से की जा सकती है :

"प्रतिकूलञ्च यद् राज्ञः प्रकृत्यवमतञ्च यत्।
बाधकञ्च यदर्थानां तत् तेभ्यो विनिवर्त्तयेत्॥ 4
मिथः संघातकरणं अहेतौ शस्त्रधारणम्।
परस्परोपघातञ्च तेषां राजा न मर्षयेत्॥ 5
दोषवत् करणं यत् स्यादनाम्नाय प्रकल्पितम्।
प्रवृत्तमपि तद् राजा श्रेयस्कामो निवर्त्तयेत्[1]"॥ 7

इस प्रकार राजा विभिन्न समूहों (सम्भवतः परस्पर विरोधी स्वभाव वाले) के परस्पर एकीकरण, उनके अकारण शस्त्रधारण तथा उनके पारस्परिक संघर्ष पर प्रतिबन्ध लगा सकता था। वह उन्हें ऐसे काम हाथ में लेने से भी रोक सकता था जो उसकी इच्छा अथवा हितों के प्रतिकूल हों अथवा निन्दनीय और अनैतिक स्वभाव के हों।

नारद स्मृति के उपरलिखित श्लोकों की इस समय उपलब्ध टीका अपेक्षाकृत अर्वाचीन है, किन्तु प्रतीत होता है कि वह अधिक प्राचीन परम्परा पर आधारित है। उससे राजा और श्रेणि-सदृश समूहों के आपसी सम्बन्धों पर नया प्रकाश पड़ता है। टीका का प्रकृत अंश इस प्रकार है—

"अत्रेदं निर्व्वाच्यम्। पाषण्डादिभिर्या संवित् मिलित्वा कृता सा सा एव चेद् रक्षणीया तदतिक्रमे तु ते राज्ञा दण्ड्यास्तदा वयं सर्व्वे राज्ञे प्रजानां करदानं वारयाम इति अस्माभिः सर्वदा नग्नैर्भाव्यमिति द्यूतं चरिष्याम इति वेश्यां रमयिष्याम इति राजपथे सवेगं धावाम इति

1. 10,4,5,7। अनुवाद के लिए देखिए सै०बु०ई०, जिल्द 33, पृ० 154–155।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शाखोटकस्थलं पूजयामेत्येवमादि प्रतिज्ञा अपि अवश्यं रक्ष्यन्तामिति तन्निरासाय वचनमिदमिति[1] ।"

टीकाकार का अभिप्राय कुछ इस प्रकार का प्रतीत होता है : पूर्ववर्ती सूत्रों (10, 2–3) में कहा गया है कि राजा को श्रेणियों और अन्य समूहों द्वारा निश्चित नियमों और परम्पराओं की, वे कुछ भी क्यों न हों, रक्षा करनी चाहिए । इस दशा में वे यह नियम बना सकते थे कि 'हम प्रजा को राजकर न देने के लिए उकसाएँगे,' 'हम नंगे रहेंगे,' 'हम जुआ खेलेंगे,' 'हम वेश्यागमन करेंगे', 'हम राजपथ में तेजी से दौड़ेंगे,' 'हम उस स्थली की पूजा करेंगे जहाँ शाखोटक पैदा होता है,' इत्यादि । इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि राजा को इन नियमों की भी रक्षा करनी चाहिए । इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं से बचाव के लिए उपर्युक्त अपवादों का विधान किया गया है । इससे ज्ञात होता है—यह और किसी तरह सम्भव नहीं था —कि इन समूहों को कितना अधिक महत्व दिया जाता था । कुछ निर्दिष्ट मामलों में ही राजा उनके कामों में हस्तक्षेप कर सकता था, किन्तु अन्यथा वे जो कुछ चाहते करने के लिए स्वतन्त्र थे और राजा को उनका निर्णय मानना पड़ता था ।

§ ८

श्रेणियाँ सामान्य न्यायालयों के रूप में—हम पहले ही देख चुके हैं कि श्रेणि को सामूहिक रूप में अपने सदस्यों के ऊपर महत्वपूर्ण कार्यकारिणी तथा न्यायिक शक्ति प्राप्त थी । किन्तु इस बात के स्पष्टीकरण के लिए ऊपर जो वचन उद्धृत किए गए हैं उनसे सूचित होता है कि यह शक्ति केवल उन सम्बन्धों पर लागू होती थी जो श्रेणि और उसके सदस्यों के बीच विद्यमान थे। दूसरे शब्दों में यह कहा

1. **नारद,** पृ० 164 और पादटिप्पणी ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जा सकता है कि श्रेणि केवल उन मामलों में हस्तक्षेप कर सकती थी जिनसे उसके कार्य में बाधा पड़ती या पड़ने की सम्भावना होती। किन्तु बृहस्पतिस्मृति के अधोनिर्दिष्ट वचनों से प्रतीत होता है कि श्रेणि देश के सामान्य न्यायाधिकरणों की अङ्गभूत भी थी :

"राजा द्वारा अधिकृत सम्बन्धियों, श्रेणियों, (सहवासियों की) सभाओं तथा अन्य व्यक्तियों को, हिंसात्मक अपराधों के अतिरिक्त मनुष्यों के अन्य आपसी विवादों का निर्णय करना चाहिए।

"जब सम्बन्धियों की बैठकों में किसी विवाद की जाँच न की गई हो तो श्रेणियों को समुचित विचार के पश्चात् उसका निर्णय करना चाहिए। यदि श्रेणियों ने भी उसकी भलीभांति परीक्षा न की हो तो (सहवासियों की) सभाओं द्वारा उसका निश्चय किया जाना चाहिए। और यदि इन सभाओं में भी उसका निर्णय न हो सके तो नियुक्त न्यायाधीशों को उसका निर्णय करना चाहिए[1]।"

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह भलीभांति स्पष्ट हो गया होगा कि श्रेणि को उन चार सामान्य न्यायालयों में दूसरा स्थान प्राप्त था जिनमें से प्रत्येक के निर्णय के विरुद्ध उसकी अपेक्षा उच्चतर न्यायालय में अपील की जा सकती थी। वह अध्याय जिसमें ये वचन पाए जाते हैं सामान्यतः न्यायालय के संगठन का विवरण प्रस्तुत करता है और उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि श्रेणियों के ये न्यायिक कर्त्तव्य केवल उसके सदस्यों अथवा उसके अपने कार्य-कलाप से सम्बद्ध थे। इस सन्दर्भ में यह बात स्मरणीय है कि बृहस्पति ने श्रेणियों के इन अन्तिमोक्त कार्यों का वर्णन एक

1. 1,28,30, सै०बु०ई०, जिल्द 33, पृ० 281।
मूल वचन में 'श्रेणि' को 'शिल्प-संघ' नाम दिया गया है, किन्तु मैंने उसके स्थान पर श्रेणि शब्द का प्रयोग किया है।
तुलनीय नारद, 107, पृ० 6।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अगले अध्याय में किया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि ऊपर उद्धृत वचनों में श्रेणियों का उल्लेख साधारण न्यायालयों के नाते किया गया है[1]। श्लोक 28 में हिंसात्मक अपराधों के बारे में अपवाद का जो उल्लेख है उससे भी सिद्ध होता है कि लेखक का अभिप्राय उन विवादों से ही है जिनका निर्णय साधारण न्यायालय कर सकते थे।

हाल ही में प्रकाशित दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेखों से इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है। इनमें से गुप्त सम्राट् प्रथम कुमारगुप्त के राजत्वकाल के ई० स० 433 और 438 के दो अभिलेखों में निम्ननिर्दिष्ट कथन पाया जाता है :

"कुमारामात्य–वेत्रवर्म्मण्यधिष्ठानाधिकरणञ्च नगरश्रेष्ठि-धृतिपाल-सार्थवाह-बन्धुमित्र-प्रथमकुलिक-धृतिमित्र-प्रथमकायस्थ-साम्ब-पाल पुरोगे संव्यवहरति—"

प्रो० राधागोविन्द बसक, जिन्होंने इन अभिलेखों का सम्पादन किया है, प्रस्तुत वचन का अनुवाद इस प्रकार करते हैं :

"जब कुमारामात्य वेत्रवर्म्मा नगरश्रेष्ठि धृतिपाल, सार्थवाह बन्धुमित्र, प्रथमकुलिक धृतिमित्र, प्रथमकायस्थ साम्बपाल के साथ स्थानीय शासन की देखभाल कर रहा था।"

किन्तु मुझे प्रतीत होता है कि यहाँ प्रश्न सामान्य प्रशासन का नहीं, अपितु न्याय प्रशासन का है। इसका समर्थन 'अधिकरण' और 'व्यवहार' शब्दों से होता है, जिनका अर्थ है 'न्यायालय' और 'न्याय-प्रशासन', और मुझे समझ में नहीं आता कि इन शब्दों को सामान्य प्रशासन के अर्थ में कैसे लिया जा सकता है। मेरे विचार में यहाँ व्यापारियों और शिल्पियों के विभिन्न निगमों के मुख्यों के निर्देशन में काम करने वाले न्यायालयों का स्पष्ट उल्लेख है।

---

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 15, पृ० 130।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

§ ९

इस काल के अभिलेखों से श्रेणियों के संगठन पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ, स्कन्दगुप्त के राजत्वकाल के संवत् 146 ई० स० 465) के इन्दौर ताम्रपत्र लेख[1] में एक राशि के दान का उल्लेख है जिसके ब्याज से एक सूर्य-मन्दिर में एक दीपक तेल की स्थायी व्यवस्था की जानी थी। इस लेख में आगे कहा गया है कि "सूर्य (के मन्दिर) को ब्राह्मण का यह दान उस समय तक इन्द्रपुर की तैलिक-श्रेणि की, जिसका प्रमुख जीवन्त है, स्थायी सम्पत्ति रहेगी जब तक उसमें पूर्ण एकता बनी रहे, भले ही वह इस अधिष्ठान से अन्यत्र चली जाए[2]।" श्रेणि की इस संक्षिप्त चर्चा में कई बातें बड़े महत्व की हैं। श्रेणि को उसके प्रमुख के नाम से पुकराने की प्रथा के अतिरिक्त यह संघटन की गतिशीलता की ओर स्पष्ट संकेत करती है। निस्सन्देह श्रेणि की एकता को उसके निवास-स्थान की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता था। यह श्रेणि-संगठन के उच्च स्तर का प्रमाण हैं, क्योंकि एक भलीभांति संगठित संस्था ही स्थान-परिवर्तन करने पर भी अपनी एकता और सार्वजनिक विश्वास को बनाए रख सकती थी।

कुमारगुप्त और बन्धुवर्मा के मन्दसौर प्रस्तर अभिलेख[3] में श्रेणि का सबसे अधिक मनोरंजक वर्णन पाया जाता है। उसमें बताया गया है कि किस प्रकार मूलतः लाट में बसे हुए पट्टवायों की एक श्रेणि दशपुर नगर के राजा के गुणों से आकर्षित होकर वहाँ जाकर बस गई। वहाँ जाकर उनमें से अनेक भिन्न–भिन्न व्यवसायों में लग गए। कुछ धनुर्विद्या सीखकर अच्छे योद्धा बन गए और कुछ धार्मिक जीवन अपना कर धर्म-सम्बन्धी विषयों पर प्रवचन करने लगे।

1. फ्लीट, **गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स**, संख्या 16।
2. वही, पृ० 71।
3. वही, पृ० 18।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

...ुछ आत्मवान् लोगों ने ज्योतिष का अध्ययन किया ... ने सांसारिक विषय-संगों को त्याग कर संन्यास धारण ...। उन्होंने अनेक अन्य व्यवसायों का भी अनुसरण किया, जबकि ...में से अधिकांश रेशम बुनने के अपने वंशानुगत धंधे में लगे रहे। इस प्रकार यह श्रेणि[1] दशपुर में फूली-फली, और ई० स० 436 में

1. इस अभिलेख की प्रस्तावना में फ्लीट ने अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है : "वह (अभिलेख) सर्वप्रथम यह बताता है कि किस प्रकार पट्टवाय एक बड़ी संख्या में लाट विषय अथवा मध्य और दक्षिण गुजरात से दशपुर नगरी में आए और किस प्रकार उसमें से कुछ ने अन्य व्यवसायों को अपना लिया, जब कि उन लोगों ने, जो अपने मूल व्यवसाय का अनुसरण करते रहे, अपने आपको एक स्वतन्त्र तथा समृद्ध श्रेणि के रूप में संगठित किया" (कॉ०इं०इं०, जिल्द 3, पृ० 80।) किन्तु श्लोक 19 से यह स्पष्ट है कि श्रेणि में श्लोक 16–19 मे वर्णित सभी सदस्यों का समावेश था, क्योंकि उपर्युक्त श्लोकों में उनके विस्तृत वर्णन के पश्चात् लेखक कहता है : "अधिकमभिविभाति श्रेणिरेवं प्रकारैः" (श्लोक 19), जिसका अभिप्राय निश्चय ही यह है कि श्रेणि इन सब मनुष्यों के कारण बहुत अधिक चमकी। स्वयं फ्लीट भी प्रकृत अंशों को इसी अर्थ में लेते हैं : (और इस प्रकार) श्रेणि इस तरह के लोगों तथा अन्य व्यक्तियों के माध्यम से अधिक सुशोभित होती है, जो इत्यादि....।" इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि श्रेणि में उपर्युक्त विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए पुरुषों का अन्तर्भाव था। लाट में रहते समय वे सभी पट्टवाय थे, और मन्दसौर में आकर उन्होंने विविध व्यवसाय अपनाए। और यदि इतना बहुधन्धी संगठन होने पर भी वह पट्टवाय-श्रेणि के नाम से प्रसिद्ध रहा तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि लाट में उन्होंने एक श्रेणि का संगठन किया, और यद्यपि नये स्थान पर आकर उसके अनेक सदस्यों ने अपना आनुवंशिक व्यवसाय छोड़ दिया तथापि यह संगठन चालू रहा। उपर्युक्त इन्दौर ताम्रपत्र अभिलेख से यह सिद्ध हो चुका है कि सम्पूर्ण श्रेणि स्थान-परिवर्तन कर सकती थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसने अपनी संचित धनराशि से सूर्य का एक विशाल मन्दिर बनवाया। कुछ समय बाद मन्दिर का एक भाग जीर्ण-शीर्ण हो गया, जिसकी मरम्मत उसी श्रेणि ने ई० स० 472 में करवाई।

संस्कृत काव्य साहित्य के सर्वोत्तम दिनों की याद दिलाने वाले श्लोकों में ग्रथित इस अत्यधिक मनोरंजक अभिलेख में प्राचीन भारतीय समाज की इतनी महत्वपूर्ण संस्था श्रेणि के एक श्रेष्ठ उदाहरण का सजीव वर्णन सुरक्षित है। इससे साधारणतः प्रचलित इस धारणा का खण्डन होता है कि श्रेणियाँ उन शिल्पियों के घिसे-पिटे संकीर्ण संगठन थे जो अकेले ही अपने व्यवसाय में लगे रहते थे और जिनमें उत्कर्ष अथवा प्रगति करने का विशेष सामर्थ्य नहीं था। उक्त अभिलेख हमारे सामने व्यवसाय के अभिमानी, अपने संघटन के प्रति निष्ठावान्[1] और अपनी सीमाओं के अन्तर्गत क्रियाशील तथा अपनी सर्वतोमुखी उन्नति में रुचि रखने वाले पट्टवायों की एक श्रेणि का चित्र प्रस्तुत करता है, जो वस्तुतः आश्चर्यजनक है। उनके बीच युद्ध-कुशल शूरवीर थे जो आज भी.......शक्ति से अपने शत्रुओं का नाश करते हैं। उनमें से कुछ स्वभाव से विनीत और धार्मिक प्रवचनों में दत्तचित्त थे। कुछ लोग ऐसे धर्मशील थे जिन्होंने सांसारिक विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली थी, मानों वे लोकयात्रा के लिए निकले हुए साक्षात् देव ही हों। उन्होंने ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही उन्होंने काव्य-सदृश ललित कलाओं की भी उपेक्षा नहीं की, जैसा कि हमारे समक्ष विद्यमान सुन्दर कविता से स्पष्ट है, क्योंकि इस प्रकार का साहित्य केवल ऐसे लोगों के बीच पनप सकता है जिनमें कविता का मूल्य आँकने की क्षमता हो। इस

1. उदाहरणार्थ, लेख में स्पष्ट कहा गया है कि सूर्य के मन्दिर का निर्माण तथा संस्कार श्रेणि के आदेश से किया गया था। वत्सभट्टि इस अभिलेख की रचना भी श्रेणि के आदेश से ही करता है। देखिए अन्तिम श्लोक।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार प्राचीन भारत में श्रेणि, कलाओं और शिल्पों के उत्कर्ष का माध्यम ही नहीं थी, अपितु देश के विधान द्वारा प्रदत्त स्वायत्त शासन और स्वतंत्रता के फलस्वरूप वह शक्ति का केन्द्र तथा उदार संस्कृति और प्रगति का स्थान हो गई, जिसने उसे सही अर्थों में समाज की शक्ति और अलंकार बनाया।

१०

उत्तरवर्ती काल में श्रेणि-संगठन—उत्तरवर्ती काल में श्रेणि-संगठन के अस्तित्व का समर्थन अनेक लेखों से होता है। इनमें ग्वालियर के वैल्लभट्टस्वामि के मन्दिर में प्राप्त अभिलेख[1] सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसमें ई० स० 877 में ग्वालियर नगर का शासन करने वाले श्रेणियों और सार्थवाहों इत्यादि के संगठन का उल्लेख है। इससे यह द्योतित होता है कि इन संस्थाओं का राजनीतिक महत्व नहीं था। इसके अतिरिक्त इस अभिलेख में तेलियों और मालियों की श्रेणियों को प्रदत्त दानों (धर्मदायों) का उल्लेख है, और जिस ढंग से इनका वर्णन किया गया है उससे उनके विधान पर कुछ प्रकाश पड़ता है। श्री सर्वेश्वरपुर के तैलिकों के चार प्रमुखों का, श्रीवत्स-स्वामिपुर के तैलिकों के दो प्रमुखों का तथा दो अन्य स्थानों के तैलिकों के चार मुख्यों का सनाम उल्लेख कर कहा गया है कि उन्हें तथा सम्पूर्ण तैलिक श्रेणि के अन्य (सदस्यों) को मिलकर प्रति मास प्रति घानी एक पलिक तेल देना चाहिए। इसी प्रकार दूसरे दान का प्रयोजन यह था कि मालियों की श्रेणि के सनाम उल्लिखित सात प्रमुखों तथा अन्य सदस्यों को प्रतिदिन पचास मालाएँ देना चाहिए।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह भासित होता है कि श्रेणि संघटन अब भी अपने पूर्ण गौरव के साथ विद्यमान था और

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 1, पृ० 159 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पहले की तरह श्रेणियों को दान दिए जाते थे। इससे श्रेणियों के विधान के सम्बन्ध में बृहस्पति-स्मृति के इस कथन[1] का समर्थन होता है कि प्रत्येक श्रेणि में दो, तीन अथवा पाँच प्रबन्ध-अधिकारी होने चाहिए। हम अभी-अभी देख चुके हैं कि तैलिक-श्रेणियों में दो अथवा चार और मालियों की श्रेणि में सात ऐसे सदस्य थे। उनका व्यक्तिगत रूप से सनाम उल्लेख इन अधिकारियों के महत्व को सूचित करता है और यह बृहस्पति-स्मृति के विधान के पूर्णतः अनुरूप है।

लगभग इसी काल के एक अन्य लेख[2] में अश्व-व्यापारियों की एक महत्वपूर्ण श्रेणि का उल्लेख है, जिसने घोड़ों, घोड़ियों और अन्य पशुओं को खरीदने वालों पर, चाहे वह राजा या प्रान्तीय अधिकारी ही क्यों न हो, दशांश कर लगाया था। इन श्रेणि के सदस्य विभिन्न देशों के निवासी थे और कर से प्राप्त धन स्वभावतः ही विभिन्न मन्दिरों के बीच बाँट दिया जाता था, जो एक-दूसरे से इतने दूर स्थित थे जैसे पेहोआ और कनौज। प्रस्तुत सन्दर्भ में भी श्रेणि के प्रधान अधिकारियों तथा उनके प्रमुख का सनाम उल्लेख ही नहीं है अपितु प्रत्येक व्यक्ति के निवास-स्थान का ब्यौरेवार विवरण भी दिया गया है। उत्तर देश के घोड़ों के व्यापारियों की एक श्रेणि का उल्लेख ई० स० 973–4 के एक प्रस्तर-अभिलेख[3] में पाया जाता है। दशम शताब्दी के उत्तरार्ध के सियादोनी अभिलेखों[4] में पानवालों, तेलियों और पत्थर काटने वालों की श्रेणियों के दान तथा सुराजीवियों के साथ १,३५० द्रम्मों के विनियोग का वर्णन मिलता है। वागुलिकों (शिकारियों?) की एक श्रेणि की चर्चा

1. देखिए ऊपर, पृ० 52 और आगे।
2. पेहोआ अभिलेख, एपि० इण्डि०, जि० 1, पृ० 184।
3. एपि० इण्डि०, जिल्द 2, पृ० 116 और आगे।
4. एपि० इण्डि०, जिल्द 1, पृ० 167 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दशम शती के मध्य में हुए चेदि-नरेश लक्ष्मणराज के करीतलाई-प्रस्तर लेख[1] में प्राप्त होती है। विजय सेन के देवपाड़ा-अभिलेख[2] में वरेन्द्र अथवा उत्तरी बंगाल की शिल्पि-गोष्ठी अर्थात् पत्थर काटनेवालों की श्रेणि का निर्देश है। दक्षिण कनारा जिले के काप नामक स्थान से प्राप्त 1556 ई० के एक अभिलेख में साम्प्रदायिक तथा व्यावसायिक श्रेणियों का उल्लेख है।[3]

इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट है कि श्रेणि-संगठन १६वीं शती तक प्रचलित रहा और परवर्ती काल में भी उसका अस्तित्व यत्र-तत्र प्रमाणित किया जा सकता है।

§ ११

प्राचीन आर्थिक जीवन में संघटित गतिविधि के विभिन्न रूप—श्रेणियों का स्थायी संगठन प्राचीन आर्थिक जीवन में संघटित गतिविधि का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करता है। सहकारिता की यह प्रवृत्ति कुछ अन्य रूपों में भी अभिव्यक्त हुई। सम्पूर्ण विषय की व्यापक जानकारी प्राप्त करने के लिए इनका कुछ विस्तृत विवेचन आवश्यक है। इस विषय के अन्तर्गत सर्वप्रथम संभूय समुत्थान के सिद्धान्तों के आधार पर किए जाने वाले व्यापार का उल्लेख किया जा सकता है। संघटित गतिविधि का यह रूप अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है तथा इसके निश्चित उदाहरण जातक कथाओं में प्राप्त होते हैं। उदारणार्थ, चुल्लकसेट्ठि जातक[4] में कहा गया है कि एक युवक ने हाल ही में बन्दरगाह पर लगे एक जहाज का सारा माल अपनी अंगूठी जमा कर खरीद लिया। थोड़ी देर बाद सौ व्यापारी वाराणसी

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 2, पृ० 174 और आगे।
2. एपि० इण्डि०, जिल्द 1, पृ० 311 और आगे।
3. एपि० इण्डि०, जिल्द 20, पृष्ठ 96।
4. जातक, जिल्द 1, पृ० 114।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से इसी प्रयोजन से वहाँ आये। जब उन्हें पिछले सौदे का पता लगा तो उनमें से प्रत्येक ने उसे एक सहस्र मुद्राएँ दीं, और उसके साथ पण्य का एक भाग प्राप्त किया। बाद में उन्होंने उसे प्रति व्यक्ति एक सहस्र और दिया और सम्पूर्ण पण्य उनका हो गया। इस प्रकार उस युवा व्यापारी ने इस सौदे से कुल मिलाकर २००,००० कमाए।

साझेदारी—पुनश्च, कूटवाणिजजातक[1] में दो व्यापारियों की कहानी है, जो साझेदारी में सम्मिलित होकर पण्य से लदी पाँच सौ गाड़ियाँ वाराणसी से ग्रामीण प्रदेश में ले गए। सुहनु-जातक[2] में उत्तर के अश्व-व्यापारियों का निर्देश है, जो स्पष्ट ही अपना व्यापार सम्मिलित रूप से करते थे। कूटवाणिज जातक[3] सं० 2 की प्रस्तावना में हम देखते हैं कि किस प्रकार श्रावस्ती के दो व्यापारी साझेदारी में सम्मिलित हुए और पाँच सौ गाड़ियाँ माल से लादकर व्यापार के लिए पूर्व से पश्चिम की यात्रा पर निकल पड़े। बावेरू जातक[4] में कहा गया है कि संयुक्त रूप से अपना व्यवसाय करने वाले कुछ व्यापारियों ने बावेरू राज्य में विचित्र भारतीय पक्षियों को बहुत ऊंचे मूल्य पर बेंच दिया। महावाणिज जातक[5] में अनेक व्यापारियों के अस्थायी रूप से साझेदारी में सम्मिलित होने की कहानी है। वहाँ कहा गया है कि व्यापारी विभिन्न राज्यों से आकर एकत्रित हुए और अपने प्रमुख को चुनकर धन की खोज में निकल पड़े[6]।

---

1. जातक, जिल्द 1, पृ० 404।
2. जातक, जिल्द 2, पृ० 30।
3. वही, पृ० 181।
4. जातक, जिल्द 3 पृ० 126।
5. जातक, जिल्द 4 पृ० 350।
6. जातक (अंगरेजी अनुवाद), जिल्द 4, पृ० 222।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जातकों में उपलब्ध ये आनुषङ्गिक निर्देश निस्सन्देह व्यापार की साझेदारी-पद्धति की ओर संकेत करते हैं और प्राचीन भारत में व्यापारियों और बनियों की सामूहिक गतिविधियों पर नवीन प्रकाश डालते हैं।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र[1] में इस पद्धति का उल्लेख किया है। प्राचीन धर्मशास्त्रों[2] में भी सम्भूय-समुत्थान-जो साझेदारी के लिए पारिभाषिक शब्द है—के लिए निश्चित नियमों का विधान किया गया है। नारद अधोलिखित श्लोकों में इस पद्धति के मूल सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं :

"वणिक्प्रभृतयोयत्र कर्म संभूय कुर्वते।
तत् संभूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम् ।। 1
फलहेतोरुपायेन कर्म संभूय कुर्वताम्।
आधारभूतः प्रक्षेपस्तेनोत्तिष्ठेयुरंशतः ।। 2
समोऽतिरिक्तो हीनो वा तत्रांशो यस्य यादृशः।
क्षयव्ययौ तथा वृद्धिस्तत्र तस्य तथविधाः ।। 3
भाण्डपिण्डव्ययोद्धारभारसारान्ववेक्षणम्।
कुर्युस्तेऽव्यभिचारेण समये स्वे व्यवस्थिताः[3] ।। 4

1. पृ० 185।
2. **नारद**, 3,1–9, **बृहस्पति**, 14,1-32, **याज्ञवल्क्य**, 2,262 और आगे।
3. **नारद, पृ०** 133। **सै०बु०ई०**, जिल्द 33, पृ० 124 में इन श्लोकों का अनुवाद इस प्रकार किया गया है :
   (1) जहाँ वणिज इत्यादि मिलकर व्यापार करते हैं वह संभूयसमुत्थान कहलाता है, जो एक व्यवहार पद है।
   (2) जहाँ अनेक साझीदार लाभ के हेतु संयुक्त रूप से व्यापार करते हैं वहाँ संघटन के सामान्य कोष (प्रक्षेप) में दिया हुआ धन (उनके कार्यों का) आधार होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपना अंश देना चाहिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार इस पद्धति का सारभूत सिद्धान्त था आर्थिक लाभ के हेतु एकाधिक व्यक्तियों का संयुक्त रूप से व्यापार करना। इस प्रयोजन के लिए प्रत्येक सदस्य साधारण कोष को, जो समुदाय के मूल धन का काम करता था, अपना-अपना अंश देता था। यह व्यक्तिगत अंशदान ही इस पद्धति का वास्तविक आधार था। अतः नारद कहते हैं कि "प्रत्येक साझीदार की क्षति, व्यय और लाभ उस अंश के अनुपात से होते हैं जो वह सम्भूय समुत्थान के लिए देता है।" बृहस्पति भी इस विचार से सहमति व्यक्त करते हैं, किन्तु कौटिल्य और याज्ञवल्क्य के मत में लाभ इत्यादि प्रत्येक व्यक्ति के अंशदान के अनुपात से अथवा साझीदारों के पारस्परिक पूर्व निश्चय के अनुसार हो सकते हैं। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि मिल-जुल कर व्यापार करने के इच्छुक साझीदारों के बीच एक संविद् (शर्तनामा) तैयार किया जाता था जिसमें व्यापारिक प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्तों का स्पष्ट निर्देश होता था। इस समझौते के द्वारा कुछ साझीदार सम्भवतः अपने अतिरिक्त कौशल और विशेष ज्ञान के कारण लाभ का उससे अधिक अंश प्राप्त कर सकते थे जितना उन्हें अपने अंशदान के अनुपात से मिलता।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि जातक कथाओं के काल में भी साझेदारी के इन सिद्धान्तों की पूर्ण जानकारी विद्यमान थी। उदाहरण के लिए कूटवाणिज्य जातक में कहा गया है कि पण्डित

---

(3) प्रत्येक साझीदार के क्षय, व्यय तथा लाभ अन्य साझीदारों के बराबर, अधिक या कम हो सकते हैं। इनका अनुपात पूंजी में उसके सम, अतिरिक्त व न्यून अंश पर निर्भर करता है।

(4) सब साझीदारों को शर्तनामे (समय) के अनुसार भाण्ड, भोजन, (शुल्क आदि के लिए) व्यय, क्षय, भार तथा बहुमूल्य वस्तुओं को रखने में होने वाले व्यय में अपना अंश देना चाहिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रौर श्रतिपण्डित नामक दो व्यापारी साझेदारी में सम्मिलित हुए श्रौर वाराणसी से पण्य से लदी पाँच सौ गाड़ियाँ ग्रामीण प्रदेश में ले गए । वहाँ श्रपना माल बेचकर श्रर्जित धन के साथ वे वाराणसी लौट श्राए । जब धन के बँटवारे का प्रश्न उठा तो श्रतिपण्डित ने कहा "मुझे दुगना हिस्सा मिलना चाहिए ।" पंडित ने पूछा "ऐसा क्यों?" "क्योंकि तुम केवल पण्डित हो जब कि मैं श्रतिपण्डित हूँ, श्रतः पण्डित को एक भाग मिलना चाहिए जबकि श्रतिपण्डित को दो ।" "किन्तु माल, बैलों तथा वाहनों में हम दोनों का हिस्सा बराबर था । फिर तुम्हें दो हिस्से क्यों दिए जाएँ?" "क्योंकि मैं श्रतिपण्डित हूँ ।" इस प्रकार बात करते-करते वे झगड़ने लगे । शेष कथा से पता चलता है कि किस प्रकार श्रतिपण्डित पण्डित से श्रपनी बात मनवाने का प्रयत्न करता रहा, किन्तु वह श्रसफल हो गया श्रौर श्रन्त में उन दोनों व्यापारियों ने लाभ का बराबर बँटवारा कर लिया[1] । इस प्रकार इस कथा से यह स्पष्ट सूचित होता है कि यद्यपि यह सिद्धान्त साधारणतः मान्य था कि किसी व्यक्ति के लाभ का श्रनुपात पण्य में उसके श्रंश पर श्राधारित होना चाहिए, तथापि व्यापार में श्रतिरिक्त कौशल के लिए श्रतिरिक्त लाभ देने का विचार पूर्णतः श्रज्ञात नहीं था ।

सम्भूय समुत्थान की सफलता उसके सदस्यों पर निर्भर करती थी । श्रतः स्मृतिकारों ने साझीदारी के चुनाव के लिए स्पष्ट नियमों का निर्देश किया है । इस प्रकार बृहस्पति कहते हैं[2] :

"दूरदर्शी मनुष्य को ऐसे व्यक्तियों के साथ मिलकर व्यापार श्रथवा श्रन्य व्यवसाय नहीं करना चाहिए जो श्रसमर्थ, श्रालसी, रोगग्रस्त, मन्दभाग्य श्रथवा श्रकिंचन हो ।

---

1. जातक, जिल्द, 1, पृ० 404 ।
2. श्रध्याय 14 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"मनुष्य को ऐसे व्यक्तियों के साथ व्यापार करना चाहिए जो कुलीन, चतुर, कर्मण्य, बुद्धिमान्, सिक्कों से परिचित, आय-व्यय में कुशल, ईमानदार तथा उद्यमी हों[1]।"

सहकारिता की जिस प्रवृत्ति के साथ व्यापार किया जाता था उसका कुछ अनुमान अधोलिखित वचन से किया जा सकता है :

"अनेक व्यक्तियों की अनुमति से एक साझीदार जो भी सम्पत्ति दे (अथवा उधार दे) अथवा जो भी समय (इकरारनामा तैयार करवाए, वह सब का किया (माना जाता है)[2]।"

व्यक्ति और सामूहिक संगठन के बीच विद्यमान सम्बन्ध का भी स्पष्ट रूप से विधान किया गया है :

"जब (अन्य साझीदारों की) अनुमति के बिना अथवा उनके स्पष्ट निर्देशों के विपरीत (कार्य करता हुआ एक साझीदार) अपनी असावधानी से (उनकी साझी सम्पत्ति को) क्षति पहुँचाता है तो उसे स्वत: अपने सब साझीदारों की क्षतिपूर्ति करनी चाहिए[3]।"

"जब उनमें से कोई क्रय अथवा विक्रय के सम्बन्ध में छल-कपट करता हुआ पाया जाए तो प्रतिज्ञा अथवा दिव्य उपायों से उसकी परीक्षा करनी चाहिए।

"सन्देहास्पद विषयों में और जब विश्वासघात का कोई कार्य प्रकाश में आया हो तो आपस में पूर्व कलह न होने पर वे परस्पर एक-दूसरे के लिए मध्यस्थ और साक्षी का काम करते हैं[4]।"

इस प्रकार असावधानी से किए गए अपने कार्यों के लिए व्यक्ति समूह के प्रति उत्तरदायी था, और उसके अन्य साथी उसका

---

1. सैं०बु०ई०, जिल्द 33, पृ० 336।
2. वही, पृ० 337।
3. वही, पृ० 337–338, तुलनीय नारद, 3,5, याज्ञवल्क्य, 2,263।
4. वही, पृ० 337।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्णय करते अथवा उसके मामले में अपनी साक्षी देते थे। यदि किसी व्यक्ति पर विश्वासघात का आरोप लगाया जाता तो दिव्य उपायों अथवा अन्य प्रकार[1] से उसके चरित्र की परीक्षा की जाती थी, और यदि उसका अपराध सिद्ध हो जाता तो उसका मूलधन लौटाकर उसे संगठन से निकाल दिया जाता और दण्डस्वरूप लाभ के अंश से उसे वंचित कर दिया जाता था[2]।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सामूहिक संगठन स्वयं मामले का निर्णय करता था और अपराधी व्यक्ति अपने कुकृत्यों के लिए किसी बाहरी सत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं था। इसके विपरीत उसके गुणों के लिए भी वही सामूहिक संगठन उसे पुरस्कृत करता था। जैसा कि बृहस्पति के निम्ननिर्दिष्ट कथन से स्पष्ट है :

"इसके विपरीत उस साझीदार को, जो स्वयं अपने प्रयत्नों से, दैवयोग अथवा राजा से आनेवाले संकट से (सामूहिक सम्पत्ति की) रक्षा करता है, उसका दशांश (पुरस्कार के रूप में) दिया जाना चाहिए[3]।"

सामूहिक संगठन व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् भी उसके हितों की रक्षा करता था। बृहस्पति के अनुसार समुचित चिन्ता के अभाव में किसी साझीदार की मृत्यु हो जाने पर राजा द्वारा नियुक्त अधिकारियों को उसका माल दिखाना व सौंप देना चाहिए[4]।

नारद के ऊपर उद्धृत चतुर्थ श्लोक पर चण्डेश्वर की टीका से यह भी सूचित होता है कि आवश्यकता पड़ने पर कोई साझीदार

1. बृहस्पति, 14,7।
2. याज्ञवल्क्य, 2,268।
3. 14,10। नारद, 3।6 और याज्ञवल्क्य, 2,263 से भी मिलान कीजिये।
4. सै०बु०ई०, जिल्द 33, पृ० 338। नारद, 3,7 और याज्ञवल्क्य, 2,267 से भी मिलान कीजिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साधारण कोष से अपने अंश के अनुपात से एक निश्चित राशि निकाल सकता था[1]।

कर्मकर कृषिकर्म तथा सोना, चाँदी, सूत, लकड़ी, पत्थर अथवा चमड़े से बनी वस्तुओं के उत्पादन की विविध कलाओं और शिल्पों का व्यवहार भी साझेदारी के आधार पर करते थे। किन्तु व्यापार के इन विषयों में साझेदारी का आधार था व्यक्ति का कार्य-कौशल और शिल्प ज्ञान, न कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दिया गया मूलधन। और चूँकि इस विषय में विभिन्न व्यक्तियों के बीच भेद होना स्वाभाविक था, अतः लाभ में भी प्रत्येक व्यक्ति का अंश एक-दूसरे से भिन्न था। इस प्रकार बृहस्पति कहते हैं :

"जब सुवर्णकार अथवा अन्य (जैसे चाँदी, तन्तु, लकड़ी, पत्थर अथवा चमड़े का काम करने वाले) शिल्पी संयुक्त रूप से अपने शिल्प का व्यवहार करते हैं तो उन्हें अपने कार्य के स्वभाव के अनुरूप उचित अनुपात से लाभ का विभाजन करना चाहिए[3]। इसी सिद्धान्त के आधार पर संयुक्त रूप से किसी घर अथवा मन्दिर का निर्माण करते हुए अथवा किसी जलाशय को खोदते हुए अथवा चमड़े की वस्तुओं का निर्माण करते हुए कर्मकरों के बीच उनका मुखिया पारिश्रमिक के दो भागों का अधिकारी है[4]।"

इसी प्रकार संगीतज्ञों के बीच ताल देने वाले को डेढ़ हिस्सा और गायकों को समान अंश मिलना चाहिए[5]। चोर और लुटरे

---

1. "उद्धारस्तस्माद् देयद्रव्यात् प्रयोजनविशेषादाकर्षणम्" (विवादरत्नाकर, पृ० 112)।
2. अध्याय 14, श्लोक 28 के और आगे।
3. सै० बु० ई०, जिल्द 33, पृ० 340।
4. वही, पृ० 341।
5. वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी लूट के माल का बँटवारा करते समय इन्हीं सिद्धान्तों का अनुसरण करते थे। "उनका प्रमुख चार हिस्से लेगा, उनमें जो विशेष पराक्रमी हों उसे तीन भाग मिलेंगे और अधिक योग्य व्यक्ति को दो भाग। अन्य सहयोगी समांशभागी होंगे[1]।" इसके विपरीत यदि उनमें से कोई बन्दी बना लिया गया हो तो उसके छुटकारे के लिए व्यय हुए धन में सबको समान अंश देना पड़ता था[2]।

यह उल्लेखनीय है कि ऋत्विज भी साझीदारी के इसी सिद्धान्त के अनुसार यज्ञकार्य और संस्कार कराते थे[3]। इस प्रकार यह कहा गया है कि यज्ञकार्य करने वाले सोलह पुरोहितों में से प्रमुख चार पुरोहितों के प्रथम वर्ग को दक्षिणा का लगभग आधा भाग मिलना चाहिए, और द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्गों को क्रमशः उसका आधा, एक-तिहाई तथा चतुर्थ अंश। टीकाकार ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि यदि उदाहरण के लिए यह मान लिया जाए कि दक्षिणा में 100 गायें मिलीं तो प्रथम वर्ग के प्रत्येक पुरोहित को 12 गाये मिलेंगी और शेष तीन वर्गों के प्रत्येक पुरोहित को क्रमशः 6, 4 और 3[4]।

प्राचीन भारतीय आर्थिक जीवन की सामूहिक गतिविधि का एक और भी प्रकार[5] था। जिसके लिए वणिक्संघ (Traders'

---

1. वही।
2. कात्यायन, विवादरत्नाकर, पृ० 126 में उद्धृत।
3. याज्ञवल्क्य, 2,268। और देखिए—नारद 3,48–9, बृहस्पति, 14,15।
4. वीरमित्रोदय, पृ० 387।
5. ऊपर श्रेणियों की सूची में मैंने व्यापारियों का समावेश किया है, किन्तु इस प्रश्न का स्वतन्त्र विवेचन न केवल इसलिए आवश्यक है कि कुछ विषयों में व्यापारियों की श्रेणि और साधारण शिल्प-श्रेणि के बीच अन्तर है, अपितु इसलिए भी कि श्रीमती रीज डैविड्स इसके अस्तित्व से इनकार करती हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

League) शब्द सर्वोत्तम रहेगा। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, प्राचीन काल में बनियों में और व्यापारियों के मध्य किसी न किसी प्रकार का संगठन अवश्य था। किन्तु रीज़ डैविड्स[1] और रिचर्ड फिक[2] 'जिन्होंने प्राचीन भारत की आर्थिक दशा का अध्ययन किया है' किसी ऐसे निश्चित तथा सुदृढ़ संगठन के अस्तित्व से इनकार करते हैं जिसके लिए संघ (League) शब्द का प्रयोग किया जा सके। किन्तु ये विद्वान् अपना ध्यान केवल जातक कथाओं अथवा अधिक से अधिक बौद्ध साहित्य तक सीमित रखते हैं। तथापि यदि इन स्रोतों से प्राप्त सामग्री का अध्ययन अन्य प्रमाणों की सहायता से किया जाए तो इस विषय में संशय के लिए कोई अवकाश नहीं रहेगा।

अनेक जातक कथाएँ सामुद्रिक व्यापारियों के संगठन का उल्लेख करती हैं। इस प्रकार, वलाहस्स जातक[3] में कहा गया है कि पाँच सौ बनियों ने अपने प्रधान की अधीनता में सिंहल में व्यापार करने के लिए एक जहाज प्राप्त किया। पण्डर जातक[4] में भी पाँच सौ व्यापारियों द्वारा एक जहाज प्राप्त करने का उल्लेख है। सुप्पारक जातक[5] में हम देखते हैं कि किस प्रकार 700[6] बनियों ने एक जहाज तैयार किया तथा एक नौचालक नियुक्त किया और यात्रा में प्राप्त धन को आपस में बाँट लिया।

---

1. ज०रा०ए० सो०, 1901, पृ० 869।
2. फिक, पृ० 178।
3. जातक, जिल्द 2, पृ० 127।
4. जातक, जिल्द 5, पृ० 75।
5. जातक, जिल्द 4, पृ० 136।
6. संख्या का निश्चित उल्लेख तो नहीं हैं, किन्तु यह कहा गया है कि जहाज में कुल 700 प्राणी थे, जिनमें स्वभावतः नौचालकों का भी समावेश होना चाहिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य जातक कथाओं में भूमि पर व्यापारियों की वाणिज्य-विषयक गतिविधियों की चर्चा है। जरुदपान जातक[1] की पच्चुप्पन्नवत्थु और अतीतवत्थु में श्रावस्ती (और वाराणसी) के अनेक व्यापारियों के एक बड़े सार्थ का उल्लेख है, जिसने एक जेट्ठक की अधीनता में माल से लदी गाड़ियों के साथ व्यापार के लिए प्रस्थान किया। पच्चुप्पन्नवत्थु में उल्लिखित व्यापारी अपने अर्जित धन के साथ लौट आए और सामूहिक रूप से बुद्ध के प्रति आदर व्यक्त करने के हेतु गए, जैसा कि उन्होंने अपनी यात्रा के प्रारम्भ में किया था। गुत्तिल जातक[2] में वाराणसी के कतिपय व्यापारियों का उल्लेख है जो वाणिज्य के लिए उज्जैनी गए। उनके एक ही स्थान पर ठहरने तथा एक साथ मनोरंजन करने से पूर्णतः स्पष्ट है कि यह उनका सामूहिक कार्य था।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह भलीभांति सिद्ध होता है कि व्यापारी संगठित रूप में वाणिज्य-सम्बन्धी काम हाथ में लेते थे।[3] कुछ और प्रमाणों से यह सूचित होता है कि कभी-कभी यह संघटन स्थायी होता था।

सेट्ठि शब्द, जो बौद्ध साहित्य में बहुधा उपलब्ध होता है, व्यापारि-वर्ग के प्रतिनिधि के अर्थ में लिया जाना चाहिए। इस प्रकार, चुल्लवग्ग 6,4,1 में कहा गया है कि अनाथपिण्डक राजगृह के सेट्ठि का बहनोई था[4]। निश्चय ही यहां राजगृह सेट्ठि शब्द का व्यवहार एक सम्मान्य व्यक्ति विशेष के लिए किया गया है। इसका प्रयोग एक साधारण बनिये के लिए नहीं हो सकता। पुनश्च महावग्ग[5] (8,1–16

1. जातक, जिल्द 2, पृ० 294।
2. वही, पृ० 248।
3. सैं० बु० ई०, जिल्द 20, पृ० 179।
4. वही।
5. सैं० बु० ई०, जिल्द 17 पृ० 181 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रौर ग्रागे) में राजगृह के सेट्ठि की बीमारी का उल्लेख है। जब चिकित्सकों ने यह घोषित कर दिया कि वह एक सप्ताह के ग्रन्दर मर जाएगा, तो एक बनिये ने **राजा तथा व्यापारियों के हित में किए गए उनके कार्यों का (बहूपकारो देवस्य चेव नेगमस्स च)** स्मरण किया ग्रौर राजा बिम्बिसार के पास जाकर राजवैद्य द्वारा सेट्ठि की चिकित्सा की जाने की माँग की। प्रार्थना स्वीकृत कर ली गई ग्रौर राजवैद्य ने सेट्ठि को निरोग कर दिया। राजवैद्य ने राजा ग्रौर ग्रपने बीच बराबर बाँटने के लिए ग्रपने शुल्क के रूप में दो लाख काहापणों की माँग की, जो उसे दे दिए गए। यह घटना सेट्ठि के वैभव ग्रौर पद की द्योतक है। प्रतीत होता है कि वह राजसभा में व्यापारि-वर्ग का प्रतिनिधि था। परवर्ती साहित्य में श्रेणि के प्रधान के लिए सेट्ठि के संस्कृत पर्याय 'श्रेष्ठिन्' शब्द के व्यवहार से भी इस मत की पुष्टि होती है। फिक इस शब्द को एक राजकीय ग्रधिकारी के ग्रर्थ में लेते हैं, किन्तु वे भी इस बात से इनकार नहीं करते कि वह (श्रेष्ठि) राजसभा में व्यापारि-वर्ग का प्रतिनिधित्व करता था। जातक कथाग्रों के ग्रनुवादकों का भी यही मत है ग्रौर उन्होंने इस शब्द का ग्रनुवाद 'कोषाध्यक्ष' किया है। इस धारणा का प्रमुख ग्राधार यह प्रतीत होता है कि जातक कथाग्रों में बहुधा सेट्ठियों के राजा के समीप रहने की चर्चा है[1]। किन्तु इसकी व्याख्या तथा सेट्ठियों के वास्तविक महत्व का स्पष्ट निदर्शन गौतम के ऊपर उद्धृत वचन की सहायता से किया जा सकता है :

"कृषकों, व्यापारियों को ग्रपने-ग्रपने समुदायों के लिए नियमों के निर्धारण का ग्रधिकार है। प्रत्येक विषय में सम्बद्ध ग्रधिकारियों से स्थिति का सही-सही ज्ञान प्राप्तकर वह ग्रपना निर्णय देगा।"[2] (गौतम 11,21–22)

1. **जातक,** जिल्द 1, पृ० 269, 349, जिल्द 3, पृ० 119, 299, 475, जिल्द 4, पृ० 63।
1. **गौतम,** 11,21–22, **से०बु०ई०,** जिल्द, 2, पृ० 237।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यापारियों की संगठित गतिविधियों के कतिपय उदाहरणों का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं और गौतम के उपर्युक्त कथन से यह भलीभांति स्पष्ट है कि व्यापारियों के संगठन को देश के विधान की मान्यता प्राप्त थी। उनके अपने प्रतिनिधि होते थे जिनसे किसी प्रश्न पर अपना निर्णय देने के पूर्व राजा को विचार-विमर्श करना पड़ता था। यही कारण है कि हम सेट्ठियों को, जो अपने समाज के प्रतिनिधि थे, बहुधा राजा के निकट पाते हैं।

सेट्ठियों के वास्तविक स्वभाव के प्रश्न के अतिरिक्त यदि जातक कथाओं के उपरिलिखित उदाहरणों का अनुशीलन गौतम के वचनों की सहायता से किया जाए तो व्यापारियों के स्थायी संगठन के विषय में किसी प्रकार के सन्देह के लिए अवकाश नहीं रहता।

"वणिज, दूकानदार और दलाल" के व्यवसाय की चर्चा करते हुए श्रीमती रीज डैविड्स ने लिखा है "अभी तक ऐसा कोई उदाहरण प्राप्त नहीं हुआ है जो श्रेणि (guild) अथवा हंसा (Hansa)[1] संघ की तरह के किसी सामूहिक संगठन की ओर संकेत करता हो[2]।" निस्सन्देह उन्होंने जातकों के कुछ उदाहरणों का उल्लेख किया है, किन्तु स्पष्ट ही वे उन्हें अस्थायी समागम मानती हैं। और एक अन्य उदाहरण के सम्बन्ध में उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"500 वणिजों के बीच सभा (syndicate) अथवा संघात (federation) अथवा अन्य समझौते के अस्तित्व का भी कोई संकेत नहीं है[3]।" किन्तु वे इस तथ्य को उचित महत्व नहीं देतीं कि

1. यह उच्चवर्ग के जर्मनों की प्राचीन भाषा का शब्द है, जिसका प्रयोग व्यापारिक नगरों के संगठन के लिए किया जाता था—अनुवादक।
2. ज०रा०ए०सो०, 1901, पृ० 868–869।
3. वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत की कानून संहिताओं में,जो प्रायः जातकों की समकालीन हैं, यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि व्यापारियों के संगठनों को अपने लिए नियम निश्चित करने का अधिकार है। इस प्रकार राज्य के संविधान में उनका एक निश्चित स्थान था। मेरे मत में गौतम धर्मसूत्र और जातक कथाओं के काल की निकटता को देखते हुए जातकों से उद्धृत उपर्युक्त घटनाओं को गौतम धर्मसूत्र में निर्दिष्ट व्यापारियों के स्थायी संगठन की सामूहिक गतिविधियों का उदाहरण न मानना असम्भव है।

व्यापारियों के सामूहिक संगठनों का द्रुत विकास हुआ और दो शताब्दियों के काल में उन्होंने जो कार्य किए वे अपनी आधुनिकता से हमें आश्चर्यचकित कर देते हैं। उदारणार्थ कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उन व्यापारियों का उल्लेख किया है जो "मिलकर वस्तुओं के मूल्य का उत्कर्ष और अपकर्ष कराते हैं और शत-प्रतिशत मुनाफा कमा कर अपनी आजीविका चलाते हैं[1]।" यह कोण और विश्वास (corner and trust) की पद्धति से, जो आजकल भलीभांति ज्ञात है, बहुत समानता रखता है।

§ १२

दक्षिण भारत में श्रेणियां—बहुसंख्यक अभिलेख अनति-प्राचीन काल तक दक्षिण भारत के व्यापारियों और शिल्पियों की सामुदायिक गतिविधियों का उल्लेख करते हैं। राजा विक्रमादित्य के ई०स० 725 के आसपास के लक्ष्मणेश्वर अभिलेख[2] में ताँबे और काँसे का काम करने वालों की श्रेणि का उल्लेख है। पोरिगेड़े नगर के लिए इस लेख में निबद्ध संविधान में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है

1. "वैदेहिकास्तु सम्भूय पण्यानामुत्कर्षापकर्षं कुर्वाणाः पणे पणशतं कुम्भे कुम्भशतं इत्याजीवन्ति" (**अर्थशास्त्र**, पृ० 331)।
2. एपि० इण्डि०, जिल्द 14, पृ० 188 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि प्रजा के सभी वर्गों के कर कार्त्तिक मास में नगर की श्रेणि में जमा किए जाएंगे। यह स्पष्ट है कि श्रेणि यहाँ स्थानीय बैंक एवं खजाने का काम करती थी। ई० स० 793 के आसपास का इसी स्थान पर प्राप्त एक अन्य अभिलेख[1] बुनकरों की श्रेणि और उसके प्रमुख का उल्लेख करता है। कृष्ण द्वितीय के ई० स० 902–903 के मूलगुण्ड[2] अभिलेख में तीन सौ साठ नगरों की श्रेणियों के चार मुखियों द्वारा दिए गए दान का उल्लेख पाया जाता है। संगठन के अत्यधिक विकसित रूप तथा उसके कार्यक्षेत्र के विस्तार का यह एक मनोरंजक और महत्वपूर्ण प्रमाण है। त्रिभुवनचक्रवर्ती राजाधिराजदेव के एक तमिल लेख[3] से हमें ज्ञात होता है कि काञ्ची एवं उसके परिसर तथा 24 नगरों के तेलियों ने काञ्ची के एक मन्दिर में एकत्र होकर यह निश्चत किया कि तिरुक्कच्चूर के तेलियों को उस ग्राम के एक मन्दिर में बलि और दीपकों की व्यवस्था करनी चाहिए। उन्होंने जाति-धर्म के नाते इस निर्णय के पालन का निश्चय किया। छठवें विक्रमादित्य के काल के एक लेख[4] (ई० स० 1110) में अनेक श्रेणियों के संयुक्त दानों का उल्लेख मिलता है। इसमें कहा गया है कि श्रेणियों के 120 सदस्यों ने एहूर के भगवान् कम्मटेश्वर को दान दिया : पत्थर काटने वालों की श्रेणि ने स्वर्ण-खण्ड का एक चौथाई भाग दिया, ताँबे और काँसे का काम करनेवालों की श्रेणियों ने देवमूर्त्तियों के निर्माण के लिए आवश्यक चूना दिया; वर्धकियों, लौहकारों और स्वर्णकारों, बेड़ट्टुम्बर (?) तथा अन्य लोगों ने प्रत्येक घर के लिए एक अड दिया। इसके अतिरिक्त बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दियों

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 6, पृ० 166।
2. एपि० इण्डि०, ज़िल्द 13, पृ० 193।
3. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1910, पृ० 94, पैरा 28।
4. एपि० इण्डि०, जिल्द 12, पृ० 333।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अभिलेखों में तैलिकों, बुनकरों, शिल्पियों तथा कुम्हारों इत्यादि की श्रेणियों के उल्लेख बहुधा प्राप्त होते हैं[1]। नागपुर जिले के नगरधन स्थान से प्राप्त ई० सातवीं शती के लेख में गजारोहियों (महामात्रों) के एक संघटन (गण) का उल्लेख है। उसमें उसके सभापति (स्थविर) तथा उसकी कार्यकारिणी समिति के 12 सदस्यों के नाम भी दिए हैं। गण-परिषद् (समूह) ने शासक से प्रार्थना की कि वह सभा की ओर से भूमि का अनुदान दे। परंतु जिस ताम्रपत्र में अनुदान का उल्लेख है उस पर मोहर (मुद्रा) गण की ही लगी है, जिससे उसकी प्रतिष्ठा और महत्व का पता चलता है[2]।

दक्षिण भारत में वणिक्संघ—इसी प्रकार दक्षिण भारत के व्यापारी अपने सामूहिक संगठनों के लिए भी प्रसिद्ध थे। 592 ई० के गुजरात-काठियावाड़ क्षेत्र के एक अभिलेख में आया है कि व्यापारियों का एक समुदाय राजा के पास उसका 'आचार-स्थिति-पत्र' प्राप्त करने का अनुरोध लेकर गया, जिसका उपयोग वे अपने लोगों की रक्षा तथा अनुग्रह-दान के हेतु कर सकें। राजा ने उन्हें एक ऐसा लेख-पत्र प्रदान किया जिसमें नियमों की एक लम्बी सूची दी हुई थी, तथा उसके अन्त में यह भी लिखा था कि राजा उन सभी 'आचारों' को भी मान्यता देता है जो प्राचीन काल से चले आ रहे थे। यह बात शास्त्रों के उन निर्देशों के पूर्णतः अनुकूल है, जिसके अनुसार श्रेणियों, संगठनों आदि के परंपरागत कानूनों को राजा द्वारा मान्यता देनी चाहिए[3]।

---

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 5, पृ० 23; **गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ड की रिपोर्ट**, 1907, पृ० 50, संख्या 524, **गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1913, पृ० 21, सं० 136।
2. एपि० इण्डि०; जिल्द 28 पृ० 10।
3. एपि० इण्डि० 30, पृष्ठ 169; पृष्ठ 24 भी देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बुलंदशहर से लगभग 21 मील दूर अहार से प्राप्त एक प्रस्तर अभिलेख में, जो संभवतः नवीं शती का है, सुवर्णिक व्यापारियों के एक समुदाय का उल्लेख है[1]। ई० स० 1204 के बेलगाँव अभिलेख[2] में कई वणिक्संघों और श्रेणियों के द्वारा तथा षष्ठ विक्रमादित्य और द्वितीय तैलप के निडगुन्दि अभिलेख[3] में 505 व्यापारियों के एक संगठन के द्वारा धार्मिक प्रयोजन के लिए विविध वस्तुओं के दान में दिए जाने का उल्लेख है। जटावर्मन् वीर पाण्ड्य के दसवें वर्ष के एक अभिलेख[4] से ज्ञात होता है कि 79 मण्डलों के 18 उपविभागों के व्यापारियों ने एक सभा में एकत्र होकर पण्य से होने वाली आय का एक भाग एक मन्दिर की मरम्मत के लिए अलग रखने का निश्चय किया, तथा स्त्रियों के वस्त्रों की प्रत्येक गाँठ काली मिर्च-सुपारी की प्रत्येक पोदि तथा प्रत्येक सुवर्ण-खण्ड पर 1,4 पणम् इत्यादि। पुनश्च, ई० स० 1077 के येवुर अभिलेख[5] में कहा गया है कि शिवपुर के व्यापारियों के संगठन में 25 प्रतिशत ब्याज पर एक धन-राशि जमा की गई थी। ब्याज का प्रयोजन था एक होम की व्यवस्था करना। इसी प्रकार एक अन्य अभिलेख[6] बनियों के पास जमा की गई राशि के ब्याज से एक ब्राह्मण के भोजन की व्यवस्था करता है।

व्यापारियों के एक संघ का स्पष्ट उल्लेख तिरुमुरूगन्पुण्डि के एक मन्दिर में उत्कीर्ण विक्रम चोल के काल के एक अभिलेख[7] में प्राप्त होता है। यह संगठन प्रायः सारे दक्षिण भारत में फैला हुआ

1. एपि० इण्डि०, 19, पृष्ठ 55।
2. वही, 13 पृ० 18।
3. वही, पृ० 12।
4. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1915, पृ० 104।
5. एपि० इण्डि०, जिल्द 12, पृ० 273।
6. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1913, पृ० 21, सं० 141।
7. वही, 1916, पृ० 121।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था और इसके सदस्यों की संख्या 500 थी। पश्चिमी चालुक्य राजा जगदेकमल्ल द्वितीय के काल (ई० स० 1178) के एक अभिलेख[1] के अनुसार दक्षिणी अय्यवोले अथवा वर्तमान ऐहोल पाँच सौ वणिजों का निवासस्थान था। जिला तिन्नेवली के एक ग्राम में प्राप्त दसवीं शती ई० के एक पाण्ड्य अभिलेख में अय्यपोलिल ५०० श्रेणि का उल्लेख है। 'अय्यपोलिल' अय्यवोले का तमिल रूप है। बहुत से व्यापारिक केन्द्र 'दक्षिण के अय्यवोले' कहलाते थे, जिससे संभवत: मुख्य श्रेणी की शाखाओं का बोध होता था[2]। दक्षिण भारतीय अभिलेखों में व्यापारियों के इस सामूहिक संगठन का उल्लेख बहुधा प्राप्त होता है। इस प्रकार एक कन्नड़ लेख[3]से हमें ज्ञात होता है कि अयय्वोले के पाँच सौ स्वामियों, नानादेशियों, सेट्ठियों इत्यादि ने भगवान् आहम-ल्लेश्वर की पूजा के लिए एक कर को मान्यता दी। पुनश्च ई० स० 1161 के एक मनगोली अभिलेख[4] में सुप्रसिद्ध नगर अयय्वोले के पाँच सौ स्वामियों का, जो कठोर बणञ्ज धर्म के रक्षक थे, उल्लेख मिलता है।

बणञ्ज समाज—अन्य अनेक अभिलेखों में उपलब्ध यह शब्द व्यापारियों के एक व्यापक संगठन की ओर संकेत करता है, जिसके लिए वलञ्जियम्, वलञ्जियर, बलञ्जि, बणञ्जि आदि विविध नामों का व्यवहार किया गया है। विभिन्न वर्गों के व्यापारियों का यह संगठन स्पष्ट ही अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा था, और भारत के सुदूर प्रदेशों के सम्बद्ध जन-समुदाय उससे प्रभावित हुए।

---

1. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1915, पृ० 48, सं० 478।
2. एपि० इण्डि०, 23, पृष्ठ 285।
3. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1919, पृ० 18, सं० 216।
4. एपि० इण्डि०, जिल्द 5, पृ० 9।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक अभिलेख[1] में, जो अपने अक्षरों की बनावट के आधार पर प्रथम राजेन्द्र चोल के काल का माना जाता है, संक्षेप में वणिजों की इस श्रेणि की श्लाघा करते हुए कहा गया है कि 500 वीरशासनों (आज्ञा-पत्र) द्वारा इनके कार्यों का वर्णन करते हुए इनकी प्रशंसा की गई। ये वीर-वलञ्जिक (अथवा वलञ्जिय) धर्म के पुण्यात्मा संरक्षक थे। ये वासुदेव, कण्डलि और वीरभद्र से उत्पन्न हुए थे, ये भट्टारकी (भगवती दुर्गा ?) के भक्त थे। इस श्रेणि के विभिन्न उपविभाग चारों दिशाओं के 1000 (मण्डलों), 18 नगरों, 32 वेलपुरम और ३४ घटिकास्थानों में थे, यथा शेट्टि, शेट्टिपुत्र (शेट्टिप्पिल्लई ?), कवरे, कण्डलि, भद्रक, गावुण्डस्वामी, शिगम्, शिरुपुलि, वलत्तुकै (अर्थात् वलंगै), वारियण् तथा अन्य। इन नानादेशियों ने मयिलार्पु (अर्थात् मैलापुर) में एकत्रित होकर काट्टूर को, जो मूलतः अय्य-पुल्ल् था, एक वीरपट्टिन के रूप में परिवर्तित करने का निश्चय किया इसके परिणामस्वरूप इस स्थान के निवासी समस्त साम्प्रदायिक (communal) करों से मुक्त हो गए और उन्हें पहले की अपेक्षा दुगुने विशेषाधिकार (?) प्राप्त हो गए। उन्होंने अब से वाणिज वर्ग के ऐसे सदस्यों को नगर में न रहने देने का भी निश्चय किया जो (1) खुली हुई तलवार से लोगों को धमका कर अथवा उन्हें पकड़ कर अथवा शुल्क माँगते, और (2) जो जान-बूझ कर लोगों को अपने भोजन से वंचित करते या और तरह से उन्हें परेशान करते थे। उन्होंने इस निश्चय का अतिक्रमण करने वालों को वलञ्जिय समाज से वहिष्कृत करने की भी घोषणा की। इन लेखों में वणिजों के लिए व्यवहृत साधारण नाम 'नानादेशी' स्वतः इस तथ्य का द्योतक है कि उनका सम्बन्ध विविध देशों से था। मैसूर राज्य के बलिगामि नामक

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 4, पृ० 296, पादटिप्पणी 2।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थान से प्राप्त एक अभिलेख[1] में इन वणिजों की सुदीर्घ प्रशस्ति प्राप्त होती है । काट्टूर अभिलेख में जो कुछ कहा गया है उसके अतिरिक्त इस लेख से अधोनिर्दिष्ट जानकारी और मिलती है । वे (वणिज) वीर पुरुष थे जो कृतयुग के आरम्भ से ही विविध देशों में भ्रमण के लिए उत्पन्न हुए थे । स्थलमार्ग और जलमार्ग से छह महाद्वीपों के विभिन्न प्रदेशों में जाकर वे घोड़े, हाथी, रत्न, गन्ध तथा औषधि इत्यादि नानाविध वस्तुओं का थोक और खुदरा व्यापार करते थे । वाणिजवर्ग की उक्त आत्म प्रशंसा का औचित्य इस बात से सिद्ध है कि सिंहल और ब्रह्मा में आज भी कुछ ऐसे प्रस्तर लेख विद्यमान हैं जिनमें उन देशों में उनके साम्प्रदायिक दानों (communal gifts) का उल्लेख पाया जाता है । ऊपरी ब्रह्मा में पगान के वैष्णव मन्दिर का निर्माण उस नगर के नानादेशियों ने कराया था[2]। बसिनिकोण्ड अभिलेख में कहा गया है कि इस समुदाय में नाड़ु नगर एवं नानादेशियों का समावेश था और शीरावल्लि में हुए विशेष सम्मेलन में चार और आठ दिशाओं के सभी समयों (धार्मिक सम्प्रदायों) उनके अनुयायियों—एड़िवीर, मुणैवीर इलञ्जिड्वीर, कोङ्गवाल तथा विविध सिद्धान्तों को मानने वाले अन्य अनेक सम्प्रदाय एवं वलङ्गन बुनकरों इत्यादि के 1,500 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे । इस सम्मेलन का प्रयोजन था शीरावल्लि को एक नानादेशिय-दशमडि-एड़िवीर पट्टन घोषित करना तथा उसके निवासियों को कुछ विशेषाधिकार देना । ये विशेषाधिकार सम्भवतः वही रहे होंगे जिनका उल्लेख काट्टूर अभिलेख में किया गया है[3] । दक्षिण आरकाट जिले के तित्तगुड़ी से

1. **एपिग्राफिया कर्नाटिका,** जिल्द 7, 118 ।
2. **एपि० इण्डि०,** जिल्द 7, पृ० 197 ।
3. प्रथम वाक्य को छोड़कर थोड़े हेरफेर के साथ सम्पूर्ण वाक्य गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिर्पार्ट 1913, पृ० 99–100, पैरा 25 से लिया गया है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त एक अभिलेख में, जो राजाधिराज द्वितीय के चौथे राज्यवर्ष का है, उन धर्मदेयों का उल्लेख है जो सम्मिलित रूप से 79 नाडुओं के सित्तिरमेलि-पेरियनाडु तथा दिसाइ विलङ्गु, दिसाइ अयिरत्तु ऐन्नुरुंवर द्वारा प्रदान किए गए थे। संभवतः ये दोनों संस्थाएँ सित्तिरमेलि-पेरियनत्तवर तथा दिसाइ अयिरत्तु ऐन्नुरुंवर-ननदेसिस के एक ही मुख्य संगठन की दो शाखाएँ थीं[1]।

जिला बेलगाँव के गोकक तालुक में ममदपुर से प्राप्त ई० 1150 के एक अभिलेख में उक्त संगठन की अत्यधिक प्रशंसा की गई है। उसमें अहिच्छत्रा नगर का भी उल्लेख है और कहा गया है कि संगठन ग्यारह प्रदेशों एवं चारों समुद्रों तक विस्तृत था। उसमें समुदाय के सम्राट् के रूप में कालिदेव सेट्टि का नाम दिया है[2]। 1130 ई० के कोल्हापुर-अभिलेख में यही प्रशस्ति मिलती है और उसके आगे लिखा है : "वे जो उस अय्यवोले नगर के सर्वोच्च स्वामी हैं, जिसे 'अहिच्छत्रा' कहा जाता है : यथा,–पाँच सौ स्वामी लोग, गवरे, गत्रिय, सेट्टी, सेट्टिगुत्त, गमुण्ड तथा प्रमुख गमुण्डजन, शौर्यशाली तथा शूर व्यापारी जन। (इसके पश्चात् लगभग २० लोगों के नाम उनके नगर-नामों सहित दिए हैं। कुछ ऐसे संक्षिप्त विवरण, जैसे 'राजकीय व्यापारी', 'न्यायाधिकारी', '500 अय्यवोलों का सिंह' आदि भी दिए हुए हैं)[3]। इस व्यापारिक संगठन का उल्लेख इसके पहले 966 ई० के एक अभिलेख में हुआ है। लोबू तुवा (बरोस, सुमात्रा) के 1088 ई० के एक तमिल अभिलेख में भी इस निकाय का उल्लेख है। उत्तरी अरकाट जिला के एक अभिलेख में इस निकाय के सदस्यों को "18 देशों के व्यापारी जो चारों दिशाओं में व्यापार करते हैं"

---

1. एपि० इण्डि०, 30 पृष्ठ 274।
2. वही, 19, पृष्ठ 29–30।
3. वही, 19, पृष्ठ 34–35।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहा गया है[1]।

दो अभिलेख उक्त व्यापारियों की सामूहिक भावना पर मनोरंजक प्रकाश डालते हैं। इनमें से एक लेख[2] के द्वारा नन्द्याल स्थल में रहने वाले सब देशों के अठारह समयों के वणिज कारापाकल काटि-नायक को, जो समयों का शत्रु हो गया था, मारने के बदले पुलियम-शेट्टि नामक एक व्यक्ति को बिना कर दिए कुछ वस्तुओं के व्यापार का अधिकार देते हैं। एक अन्य अभिलेख[3] द्वारा वणिजों के उक्त संगठन ने दो शुल्क-गणकों को मार डालने के बदले अत्तेन नामक एक व्यक्ति को इसी प्रकार का अधिकार दिया।

वलङ्गै और इडङ्गै समुदाय—वाणिज संघटन के एक घटक वलङ्गै के सम्बन्ध में हमें तत्कालीन लेखों से कुछ अधिक जानकारी मिलती है। त्रिचनापल्ली जिले के एक लेख[4] में कहा गया है कि वलङ्गै 98 वर्गों और इडङ्गै 98 वर्गों ने आपस में एक समझौता किया, जिसका प्रयोजन राजकीय अधिकारियों द्वारा समर्थित वन्निय किराये-दारों, ब्राह्मणों और वेललाल भूस्वामियों के अत्याचारों के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा खड़ा करना था।

वलङ्गै 98 वर्ग और इडङ्गै 98 वर्ग शब्दों से सूचित होता है कि इनमें से प्रत्येक समुदाय गौण शाखाओं का संघटन था। उत्तरुर से प्राप्त एक प्राचीनतर लेख से इस बात का समर्थन होता है और बृहत्तर सामूहिक संघटन के निर्माण के बारे में आवश्यक जानकारी

1. वही, 28, पृष्ठ 270।
2. **गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1919, पृ० 5, सं० 10।
3. **वही**, सं० 11।
4. **गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1913 पृ० 73, सं० 34. पृ० 109 से भी मिलान कीजिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलती है। इस लेख में अधोलिखित मनोरंजक विवरण प्राप्त होता[1] है :

"हम,98 शाखाओं के सदस्य राजा के 40 वें वर्ष में यह समझौता करते हैं कि अब से हम परस्पर एक माता-पिता के पुत्रों के समान व्यवहार करेंगें तथा हम में से किसी पर जो भी शुभाशुभ आएगा उसे हम सब आपस में बाँट लेंगे। यदि इडङ्गै वर्ग के साथ कोई अपमानजनक घटना होगी तो हम संयुक्त रूप से अपने अधिकारों के लिए तब तक लड़ेंगे जब तक हम उन्हें प्राप्त न कर लें। यह भी मान लिया गया है कि वे ही हमारे वर्ग के सदस्य माने जाएँगे जो सामूहिक विवादों को निबटाने के लिए आयोजित सभाओं में सींग, बिगुल और छत्र, इन विरुदों का प्रदर्शन करेंगे। जो हमें इस समय और इसके बाद सार्वजनिक रूप से मान्यता देना चाहें, उन्हें ऐसा हमारे विशिष्ट चिन्हों-बगुला का पंख और ढीला लटकता बाल (?)-के माध्यम से करना चाहिए। हमारे सामान इडङ्गै समाज में प्रचलित पद्धति क अनुसार सींग, शंख और बिगुल भी बजाए जायेंगे। जो इन नियमों के प्रतिकूल आचरण करेंगे वे हमारे समाज के शत्रु समझे जाएँगे। जो लोग इडङ्गै समाज के लिए इस प्रकार विहित नियमों से भिन्न प्रकार से व्यवहार करेंगे वे निष्कासित कर दिए जाएँगे और उन्हें श्रुतिमान् नहीं माना जाएगा। जो हमारे विरोधी है वे हमारे वर्गों के दास समझे जाएँगे।"

यह माना जा सकता है कि वलङ्गै 98 वर्ग नामक संगठन का उद्भव भी इसी प्रकार हुआ होगा। वलङ्गै 98 वर्ग और इडङ्गै 98 वर्ग के संयुक्त संगठन की गतिविधियों की चर्चा अनेक लेखों[2] में उपलब्ध होती है, किन्तु दक्षिण अर्काट जिले में बृद्धाचलम् नामक

1. वहीं, पृ० 109।

2. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1914, सं० 59, 361, 362।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थान से प्राप्त एक लेख परवर्ती काल (ई० स० 1429) का होने पर भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह अच्छी तरह सुरक्षित नहीं है, किन्तु इसके अवशिष्ट भाग से ज्ञात होता है कि वलङ्गै और इडङ्गै समाजों के सदस्य एक स्थानीय मन्दिर के आँगन में एकत्रित हुए और इस निश्चय पर पहुँचे कि "राजकीय अधिकारियों और जीवितों के स्वामियों ने अत्याचार किए तथा काणियालण् और ब्राह्मणों ने राजकरम् (कर) वसूल किया है, अतः वलङ्गै और इडङ्गै समाजों का कोई सदस्य उन्हें आश्रय नहीं देगा। इस देश में उत्पन्न दोनों समाजों का कोई सदस्य न तो उनके लिए हिसाब लिखेगा और न उनके प्रस्तावों को ही स्वीकार करेगा। जो (इस निश्चय के विपरीत व्यवहार से) अपने को देशद्रोही सिद्ध करेगा वह मार डाला जाएगा[1]। इस लेख के अपूर्ण होने पर भी यह स्पष्ट है कि कर वसूलने वाले अधिकारी लोगों को परेशान करते थे, तथा वलङ्गै और इडङ्गै नामक समाजों ने, जिन पर यह बहुत भारी पड़ता था, इन ज्यादतियों का प्रतिरोध करने के लिए अपने को एक वैधानिक संस्था के रूप में संगठित किया, यहाँ तक कि विश्वासघातियों को मार डालने की प्रतिज्ञा की। तंजौर जिले में कोरक्कै नामक स्थान से प्राप्त इसी वर्ष के एक अन्य अभिलेख से उपर्युक्त बातों की पुष्टि होती है। इस में कहा गया कि वलङ्गै की 98 शाखाओं और इडङ्गै की 98 शाखाओं के सदस्य एकत्र हुए और...वे हम से फसल के उत्पन्न के अनुसार कर वसूल नहीं करते थे अपितु मनमानी कर लेते थे...अतः हम भागने को ही थे। इसी समय हमने अनुभव किया कि हम देशवासी एक संस्था में संगठित नहीं हैं, इसी कारण हमारे साथ अनुचित व्यवहार किया जाता है..... अब स हम वही देंगे जो उचित है और वह भी कृषि के उत्पन्न के अनुपात

1. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1918, पृ० 163।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से, और ऐसी कोई वस्तु नहीं देंगे जो अवैधानिक रूप से वसूली जाएगी[1]।

एक बृहत्तर वाणिज श्रेणि के एक घटक वलञ्जै संघ का ऊपर दिया हुआ विवरण अत्यधिक मनोरंजक है, क्योंकि यह स्पष्ट रूप से उस सामूहिक भावना पर बल देता है जिससे ये संस्थाएँ प्रेरित थीं। यह उस प्रक्रिया को भी भलीभांति स्पष्ट करता है जिसके द्वारा छोटे-छोटे समुदायों को विलीन करके बृहत्तर व्यापारिक संगठनों का निर्माण किया जाता था ।

अञ्जुवण्णम् और मणिग्रामम् नामक दो अर्धस्वतंत्र व्यापारिक निगम—कोट्टायम और कोचीन से प्राप्त तीन दानपत्रों तथा प्राचीन मलयालम ग्रन्थ 'पटयनूर पट्टोल'[2] में अञ्जुवण्णम् और मणिग्रामम् का उल्लेख मिलता है। जिस सन्दर्भ में मलयालम ग्रन्थ में इन दोनों नामों का उल्लेख है उससे प्रतीत होता है कि ये व्यापारिक संस्थाएँ थीं। स्थाणु रवि को कोट्टायम दानपत्र में उनका बहुधा उल्लेख है और **छह सौ** के साथ वे भी प्रस्तुत दानपत्र की 'रक्षिका' नियुक्त की गई है। उन्हें "दिन प्रतिदिन शुल्क की रक्षा करना तथा भूमि के भाड़े में भूस्वामी का अंश प्राप्त करना था।" "यदि उनके साथ कोई अन्याय किया जाए, तो वे शुल्क और तराजू-बटखरों से प्राप्त कर को रोक सकते हैं। यदि वे स्वयं कोई अपराध करें तो वे स्वतः उसकी जाँच करेंगे"। अञ्जुवण्णम् और मणिग्रामम् को नगर की भूमि बिना कर के प्राप्त थी। इन उद्धरणों तथा पटयनूर पट्टोल में उल्लेख से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त वलञ्जियर के सदृश अञ्जुवण्णम् और मणिग्रामम् भी अर्ध-स्वतंत्र व्यापारिक निगम थे। वीर-राघव के कोट्टायम दानपत्रों में रविक्कोड्डण् के लिए प्रयुक्त उपाधि

1. वही।
2. डा० गुंडर्ट के मत में यह मलयालम रचना का प्राचीनतम उदाहरण है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शेट्टि, उसे दिए गए व्यापार-सम्बन्धी अधिकार तथा मणिग्रामम् के प्रमुख के रूप में उसके लिए उन्मुक्त आय के साधन, इन सब बातों से हमारे इस मत की पुष्टि होती है कि मणिग्रामम् एक व्यापारिक निगम था[1]।

इन दानपत्रों की तिथियाँ अभी तक अन्तिम रूप से निश्चित नहीं हो सकी हैं। कुछ विद्वानों के मत में उनका काल आठवीं शताब्दी है, जब कि अन्य विद्वान् उन्हें ईसा की चौदहवीं शताब्दी तक खींच लाते हैं[2]। किन्तु जैसा कि श्री वेंकय्या ने लिखा है, यह अनुमान गलत है कि इन दानपत्रों ने इन संस्थाओं की सृष्टि की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनमें से प्राचीनतम दानपत्र के दिए जाने के पूर्व भी अञ्जुवण्णम् और मणिग्रामम् संस्थाओं के रूप में विद्यमान रही होंगी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दू काल के अन्तिम दिनों तक अपने अत्यधिक विकसित संगठन के साथ व्यापारिक निगम दक्षिण भारत के विशिष्ट चिन्ह थे।

---

1. अञ्जुवण्णम् और मणिग्रामम् का ऊपर दिया हुआ विवरण श्री वेंकय्या के एपि० इण्डि०, जिल्द 4, पृ० 290 में प्रकाशित लेख 'वीरराघव का कोट्टयम् दानपत्र' से लिया गया है।
2. तुलनीय एपि० इण्डि०, जिल्द, 4, पृ० 293, एपि० इण्डि०, जिल्द 6, पृ० 83। प्राचीन की अपेक्षा परवर्ती तिथि अधिक सम्भव प्रतीत होती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२ अध्याय

राजनीतिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ (१)

§ १

राजनीतिक जीवन में लोगों की संघटित गतिविधियों में, उनके मध्य प्रचलित शासन-पद्धति के अनुसार, भेद होना स्वाभाविक है। एक नृप-तन्त्रात्मक राज्य में उनका ध्यान सम्राट् को नियन्त्रित रखने और उसके कर्तव्य-निर्वाह में उसकी सहायता करने की ओर केन्द्रित रहता है, जबकि अराजक राज्य में उनसे राज्य के प्रशासन के लिए आवश्यक सभी कार्य करने की आशा की जाती है। तदनुसार इस विषय का विवेचन क्रमशः दो भागों में किया जा सकता है: राजतन्त्र और अराजक राज्य।

राजा का निर्वाचन—इस गतिविधि का वह प्रकार जिसकी सर्वप्रथम चर्चा की जानी चाहिए, और जिसमें निस्सन्देह जनसाधारण की बहुत अधिक रुचि थी, राजा का निर्वाचन है। प्रायः सभी विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि राजा के निर्वाचन की पद्धति वैदिक काल के लोगों को अज्ञात नहीं थी। इस प्रकार, ज़िमर ने कहा है कि इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि कुछ राज्यों में प्रजा राजा का निर्वाचन करती थी[1]। इस मत को वेबर[2] और ब्लूमफील्ड[3] का समर्थन प्राप्त

1. "Wir haben Sichere Zeugnisse, dass auch Wahlmonarchien bestanden, in denen die Kònige von den Ganen gewahlt wurden" (A. L., पृ० 162)
2. अथर्ववेद 3, 3, 4 (नीचे उद्धृत) पर टिप्पणी करते हुए वेबर लिखते हैं: "Es handelt sich hier um einen Wahlfürsten der durch bestimmte hochgestellte Persönlichkeiten gewählt wurde. Ein Salcher lag dann mit seinen Wählern, resp mit den ihm durch, diese überwiesenen Unterthanen oft genug in Zwist." (**Indische Studien**, Vol. XVII, p. 189)
3. **हीम्स आफ अथर्ववेद,** पृ० 330।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। किन्तु इसका विरोध करते हुए गेल्डनर[1] कहते हैं कि प्रजा राजा को केवल मान्यता देती थी, उसे चुनती नहीं थी। मैक्डानल[2] गेल्डनर के मत को अधिक सम्भव मानते हैं। किन्तु वे भी यह स्वीकार करते हैं कि गेल्डनर के तर्क से इस बात का खण्डन नहीं होता कि 'राजत्व कभी-कभी निर्वाचन पर आधारित रहता था।'

राजा के चुनाव के पक्ष में उद्धृत अधोनिर्दिष्ट मन्त्रों से केवल ज़िमर तथा अन्य विद्वानों के तर्कों की सफलता ही सिद्ध नहीं होती अपि तु उस तीव्र स्पर्धा की भी जानकारी मिलती है जो कभी-कभी इस चुनाव-आन्दोलन में दृष्टिगोचर होती थी।

वैदिक संहिताओं में उल्लेख—(1) "राजा का वरण करती हुई प्रजा (विश्) के समान वे भयभीत होकर वृत्त से दूर भाग गए।[3]

कौषीतकी ब्राह्मण[4] में किसी राजा को उसके पूर्ववर्ती राज्य में पुनः प्रतिष्ठित करने के कृत्य में व्यवहृत अथर्ववेद के अधोनिर्दिष्ट

1. ऋग्वेद 10,124 पर टीका करते हुए गेल्डनर ने लिखा है :
"विशो न राजानं वृणानाः **ist kaum auf die Wahl des Königs durch die Gaue zu beziehen** (A. L., p. 162).
अथर्ववेद (3, 4, 2) 'त्वां विशो वृणतां राज्याय' **ist zu vergleichen** 'विशस्त्वा सर्वा वान्छन्तु' (ऋग्वेद, 10, 173, 1) **Vri ist hiernach wesentlich**, वाञ्छ, सायण-सम्भजन्ता अयं अस्माकं राजास्तु इति कामयन्तु" (**Vedische Studien**, II, 303).
2. **वेदिक इंडेक्स**, जिल्द 2, पृ० 211।
3. **ऋग्वेद**, 10,124,8 "ता ईम् विशो राजानं वृणना।" जिमर इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं: **"Wie die Gaue Sich den König Kären"** (A. L., P. 162)
4. **अथर्ववेद**, 3,3,4।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दो मन्त्र[1] असन्दिग्ध रूप से निर्वाचन की इस पद्धति की ओर संकेत करते हैं।

(2) "जल के लिए राजा वरुण तुझे आमन्त्रित करे, सोम तुझे पर्वतों के लिए बुलाए, बाज के समान प्रजा के समीप उड़कर आ जा (3)।

"राज्य से बहिष्कृत होकर, औरों के प्रदेश (अन्यक्षेत्र) में विचरण करते हुए तुझे श्येन दूर (पर) प्रदेश से यहाँ ले आए, अश्विन् तेरा मार्ग सुगम करें, इससे मिलो, तुम इससे अपना समझौता कर लो (4)।

"तुम्हारे शत्रु तुम्हें बुलाएं, उनके विरुद्ध (? प्रति) तेरे मित्रों ने तुझे चुना है, इन्द्र-अग्नि और सब देवों ने प्रजा (विश्) के बीच तेरे क्षेम को स्थिर रखा है (५)।

"हे इन्द्र, जो भी साथी अथवा बाहरी व्यक्ति तेरे आह्वान का विरोध करे, उसे दूर हटाकर (अपाञ्च्) तुम इस व्यक्ति को वहां पुनः प्रतिष्ठित करो (६)।[2]

(3) "यह राज्य तेरे पास आया है, तू प्रजाओं के स्वामी तथा एकमात्र राजा की भाँति तेज के साथ आगे बढ़........ (1)

"राज्य के लिए प्रजा (विश्) तेरा वरण करे। (2)

"अधिकतम दूरी से तू शीघ्र यहाँ आ जा........ (5)

"हे इन्द्र, इन्द्र, मनुष्यों के निकट आओ, क्योंकि वरुणों से सहमत होकर तुमने अपनी अनुज्ञा दे दी है। उसने तुम्हें (यह सोचकर)

---

1. **कौषीतकी,** 16,30।
2. वेबर, **अथर्ववेद,** पृ० 88। अन्तिम मन्त्र का अनुवाद ब्लूमफील्ड ने इस प्रकार किया है: "हे इन्द्र, जो सम्बन्धी अथवा परकीय तेरे बुलावे का विरोध करे उसे दूर करो; तब इस राजा को यहां अभिस्वीकृत कराओ" (**हीम्स आफ दि अथर्ववेद,** पृ० 112)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने स्थान में बुलाया है कि उसे देवों का यजन करना और प्रजा (विश्) को वशवर्ती करना चाहिए । (6)

"विविध रूपों को धारण करने वाली तथा सर्वत्र विद्यमान, क्षेम की सब देवियों ने एकत्र होकर तेरा मार्ग निष्कंटक किया है । सब एकमत होकर तुझे बुलाएं[1]... (7)

---

1. इन मन्त्रों का अनुवाद करना बड़ा कठिन है । मैंने ब्लूमफील्ड, व्हिटने और ज़िमर के अनुवादों को देखा है और उनमें से अन्तिम को स्वीकार किया है । उसमें से ऊपर उद्धृत अंश इस प्रकार हैं (A. L., पृ० 164)—
"An dich ist die Herrschaft gelangt mit Herrlichkeit, tritt herror als Herr der Gaue, unumschränkter König (1)
"Dich sollen die Gane (Viśah) erwählen Zum Königthum." (2)
"Eile herbei aus entferntester Ferne.
O Indra Indra geh Zee den menschlichen Gauen, du wurdest erfunden mit den Varuṇa (Varuṇaih) übereinstimmend, er da (Agni ?) rief dich auf seinem sitz, er Soll den Göttern opfern er soll die Gaue fügsam machen (6)
"Die Gottinneu der wohlfahrt die aller orten und verschiedenges talting sind, alle kamen Zusammen und Schufen dir Freie Bahn, Sie alle Sollen einträchtig dich rufen." (7)
मन्त्र ६ की व्याख्या के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच बड़ा मतभेद है । व्हिटने ने प्रथम वाक्य का अनुवाद इस प्रकार किया है : "हे इन्द्र मनुष्य के समान तू दूर चला जा ।" अगले वाक्य में 'वरुणेन' शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है । जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं । ज़िमर इसे 'देवों' के अर्थ में लेते हैं । वेबर के मत में यह 'वरण' अर्थात् 'चुनने-वाला' का समानार्थक है (इन्डिश स्टडिएन, जिल्द 17, पृ० 190) । इसके विपरीत व्हिटने इसे वर्ण के अर्थ में लेते हैं । व्हिटने स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनका सुझाया हुआ पाठ-परिवर्तन पूर्णतः अनिश्चित है । यहां वेबर की व्याख्या सबसे अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि मन्त्र २ में स्पष्ट ही प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(4) (ज़िमर के मतानुसार कौषीतकी[1] में राजा की पुनः प्रतिष्ठा के लिए विनियुक्त अथर्ववेद[2] के अधोनिर्दिष्ट मन्त्र भी एक ही कुल के अनेक प्रत्याशियों में से राजा के निर्वाचन का उल्लेख करते हैं[3]।)

"हे देवो, उसके आदेशानुसार वहाँ प्रकाश, सूर्य, अग्नि अथवा सुवर्ण विद्यमान हों, उसके शत्रु उसकी अपेक्षा हीन हों......(2)

'हे जातवेदस्, जिस प्रार्थना (ब्रह्म) के बदले तुमने इन्द्र के लिए पान (पय) एकत्र किया, हे अग्नि, उसी से तू मनुष्य की वृद्धि कर; उसे अपने सजातों के बीच श्रैष्ठ्य प्रदान कर। (3)

"हे अग्नि उसके प्रतिस्पर्धी उससे अपकृष्ट हों......।" (4)[4]

(5) (कौषीतकी में युद्ध में विजय के लिए अभिप्रेत एक कृत्य में[5] तथा राज्याभिषेक में[6] प्रयुक्त अथर्ववेद के निम्ननिर्दिष्ट मन्त्रों[7] में भी निर्वाचन की पद्धति का उल्लेख है–)

"हे इन्द्र, मेरे लिए इस क्षत्रिय की अभिवृद्धि कर; तू इस मनुष्य को विशों का एक मात्र अधिपति बना; इसके समस्त शत्रुओं के पौरुष को नष्ट कर दे। श्रैष्ठ्य के लिए होने वाले संघर्षों में उन्हें (शत्रुओं को) इसका वशवर्ती बना दे। (1)

"इस मनुष्य को ग्राम, घोड़ों और गायों का अंश दे; उस मनुष्य को, जो इसका शत्रु हो, अपने अंश से वंचित कर दे......(2)

---

1. **अथर्ववेद, 1,9 ।**
2. **16, 27 ।**
3. **ज़िमर, वही, पृ० 163 ।**
4. **व्हिट्ने, अथर्ववेद, पृ० 9–10 ।**
5. **14, 24 ।**
6. **17,28 ।**
7. **4,22 ।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"हे इन्द्र, इसे अति तेजस्वी बना दे और इसके शत्रु को निर्वीर्य कर दे......(3)

"मैं तुम्हें उस इन्द्र से संयुक्त करता हूँ जो श्रेष्ठता प्रदान करता है, जिसके कारण मनुष्य विजय प्राप्त करते हैं और पराजित नहीं होते जो तुझे जन का एकाधिपति और मनु के अन्वय में उत्पन्न राजाओं में श्रेष्ठ बनाएगा। (5)

"तू श्रेष्ठ है, हे राजन्, जो भी तेरे विरोधी शत्रु हैं वे निकृष्ट हैं; हे एकराज, इन्द्र को अपना सखा बनाकर विजयी होकर अपने शत्रुओं का भोजन छीन ला[1]।" (6)

अधोलिखित मन्त्रों में राजकर्ताओं का उल्लेख मिलता है।

(6) "छन्द उसके (सोम के) परिचारिकों का काम करते हैं; जैसे अराजक राजकर्ता, सूत और ग्रामणी राजा की सेवा करते हैं उसी प्रकार छन्द उसके (सोम के) परिचारकों का काम करते हैं।[2]

(7) "राजा के लिए जो महत्व अराजक राजकर्ताओं, सूतों और ग्रामणियों का है, वही महत्व घोड़े के लिए पर्यङ्गों (मुख्य पशु का चक्कर लगानेवाले पशु) का है[3]।"

"जो राजा, राजकृत् सूत तथा सेनानायक (ग्रामणी)[4] हैं हे पर्ण, इन्हें और आसपास के अन्य सब लोगों को मेरे अधीन कर[5]।" यह मन्त्र अथर्ववेद के एक अध्याय में पाया जाता है। कौषीतकी[6] में

---

1. व्हिट्ने, **अथर्ववेद**, पृ० 188–89।
2. **शतपथ ब्राह्मण**, 3,4,1,7; **सै० बु० ई०**, जिल्द 26, पृ० 87।
3. **शतपथ ब्राह्मण**, 13,2,2,18; **सै० बु० ई०**, जिल्द, 44, पृ० 303।
4. शतपथ ब्राह्मण के ऊपर उद्धृत वचनों के समान यहां भी इस शब्द को 'मुखिया' के अर्थ में लेना चाहिए।
5. **अथर्ववेद**, 3,5,7; **व्हिट्ने, अथर्ववेद**, पृ० 92।
6. 19, 22।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसका विनियोग साधारण समृद्धि के हेतु, जिसमें स्पष्ट ही राजा की सफलता का भी अन्तर्भाव है, एक गण्डा बाँधने के लिए किया गया है ।

प्रस्तुत प्रश्न पर विचार के लिए उपयोगी सभी महत्वपूर्ण वचन मैंने यहाँ एकत्र संकलित कर दिए हैं । मैं वेदों का विद्वान् नहीं हूँ और वैदिक वचनों की ऊपर दी हुई व्याख्या के सही होने का दावा नहीं कर सकता । किन्तु यदि उपरिलिखित अनुवाद मुख्यांश में शुद्ध हैं—और उनकी शुद्धता को अभी तक चुनौती नहीं दी गई है—तो इसमें कोई संदेह नहीं कि राजा कभी-कभी प्रजा द्वारा चुने जाते थे । उपरिलिखित सभी वचनों के सामान्य आशय के अतिरिक्त, वचन 1 और 3 में राजा के निर्वाचन का, 2, 4 और 5 में चुनाव के लिए परस्पर विरोधी प्रत्याशियों का, तथा 6, 7 और 8 में राजकृतों का स्पष्ट उल्लेख है । प्रतिद्वन्द्विता में सफलता के लिए प्रार्थनाओं और धार्मिक कृत्यों का अबाध रूप से आश्रय लिया जाता था और इन्द्र से प्रतिस्पर्धियों का सर्वनाश करने की विधिवत् प्रार्थना की जाती थी । उद्धहरण सं० 1 में उपमा के रूप में विषय-वस्तु के उपयोग से यह सूचित होता है कि राजा का निर्वाचन एक विरल घटना नहीं थी, अपितु जन साधारण को भलीभांति ज्ञात थी । मतदाताओं को अपने पक्ष में लाने के लिए मन्त्रों की क्षमता में विश्वास (8) तथा अपने प्रतिद्वन्द्वियों को अपनी अपेक्षा हीन बनाने के लिए बार-बार दुहरायी गई प्रायः कारुणिक प्रार्थनाओं (4,5) से उस कटुता का परिचय मिलता है जो कभी-कभी इन स्पर्धाओं में पाई जाती थी ।

यदि गेल्डनर के इस मत को मान लिया जाए कि उपरिलिखित वचनों में प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचन का नहीं, केवल स्वीकृति का उल्लेख है, तो "श्रेष्ठता के लिए होनेवाले संघर्ष" (5) तथा उस तीव्र चेतना को, जो उपर्युक्त वचनों में आद्योपान्त व्याप्त है, समझना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कठिन है । इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि रोम के समान प्रजा द्वारा राजा की स्वीकृति साधारणतः अपना शासक आप चुनने की उस शक्ति का अवशेष है जो किसी समय प्रजा को प्राप्त थी । इसके अतिरिक्त और किसी भी प्रकार इस प्रथा का उद्भव समझाना कठिन है । इस प्रकार स्वयम् गेल्डनर का विचार प्राचीन भारत में राजा के निर्वाचन की पूर्व कल्पना करता है, जब कि अन्य विद्वानों के अनुसार ऊपर उद्धृत वचनों में इस तथ्य का स्पष्ट निर्देश किया गया है ।[1]

जहाँ तक राजकृतों की श्रेणियों का सम्बन्ध है, हम ऊपर देख चुके हैं कि शतपथ ब्राह्मण और अथर्ववेद केवल दो सूतों और ग्रामणियों का उल्लेख करने में एकमत हैं, और ये दोनों भलीभांति जनता के सैनिक तथा नागरिक वर्गों के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं ।

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण का एक वचन (8, 2–9) राजाओं के निर्वाचन का एक प्रत्यक्ष प्रमाण माना जा सकता है । राज्याभिषेक के कृत्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि "भूरिति य इच्छेदिममेव प्रत्यन्नमद्यादित्यथय इच्छेद् द्विपुरुषं भूर्भुव इत्यथ य इच्छेत् त्रिपुरुषं वाऽप्रतिमं वा भूर्भुवः स्वरिति ।" श्री काशीप्रसाद जायसवाल के मत में इस वचन से सूचित होता है कि निर्वाचित राजा के जीवन भर के लिए और दो या तीन पीढ़ियों के लिए राज्याभिषेक के अवसर पर विभिन्न मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था (**मॉडर्न रिव्यू**, 1913, अंक 2, पृ० 80) । किन्तु हॉग इस वचन की व्याख्या भिन्न प्रकार से करते हैं: "यदि राजा का अभिषेक करने वाला पुरोहित चाहता है कि वही (राजा) अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त करे (अक्षरार्थ वह अन्न खाए) तो वह (अभिषेक के समय) पवित्र शब्द **भूर्** का उच्चारण करेगा ।" किन्तु यह समझना कठिन है कि सांकेतिक 'अन्न खाना' केवल स्वास्थ्य से संबद्ध क्यों माना जाए और राज्य से नहीं, जो तात्कालिक उद्देश्य है । सब पहलुओं पर विचार करके मैं श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल की व्याख्या मानने के लिए तत्पर हूँ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महावग्ग[1] से ज्ञात होता है कि बिम्बिसार के राज्य में 80,000 ग्राम थे, तथा उसने 80,000 ग्रामिकों की एक सभा का आयोजन किया था। इस काल्पनिक संख्या के अतिरिक्त, राज्य के प्रत्येक ग्राम के एक-एक प्रतिनिधि से बनी यह सभा एक प्राचीनतर संस्था का अवशेष प्रतीत होती है, जिसके चिह्न आज भी वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। वैदिक काल में राजाओं के इस लोकप्रिय निर्वाचन से शतपथ ब्राह्मण के अधोनिर्दिष्ट अंश का स्पष्टीकरण स्वतः हो जाता है :

"तू (राजा और इन्द्र) ब्रह्म है। तू इन्द्र है, प्रजाओं के द्वारा शक्तिशाली है (अथवा वह जिसकी शक्ति प्रजा है, अर्थात् इन्द्र सम्बन्ध में मरुद्गण और राजा के सम्बन्ध में प्रजा अथवा किसान)[2]"।

साथ ही यह एक नव-निर्वाचित राजा को दिलाए गए अधोगत विश्वास के महत्व को भी स्पष्ट करता है—"इन्द्र और अग्नि सब देवों ने प्रजा में तेरी सुरक्षा बनाए रखी है"[3]। इस प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि प्रजा का पुनः-पुनः निर्देश है, देश या राज्य का नहीं। उदाहरणार्थ ये प्रार्थनाएँ की जाती थीं कि राजा जन बने, जन का अधिपति बने कबीले (विश) का एकाधिप बने, सिंह के सदृश वह अपने शत्रु-जनों का संहार करे।[4]

ऋग्वेद[5] में कहा गया है कि बलवान् अग्नि ने अपने बल से प्रजा का दमन करके उसे नहुष का करद बना दिया।[6] शतपथ ब्राह्मण में निष्कासित राजा दुष्टऋतु पौंसायन को सृञ्जयों पर आधिपत्य

1. 5, 1।
2. सै० बु० ई०, जिल्द 41, पृ० 109।
3. ऊपर उद्धृत वचन 2 देखिए।
4. अथर्ववेद, 4,22।
5. ऋग्वेद, 7,6,5।
6. विल्सन का अनुवाद, जिल्द 4, पृ० 42।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का वचन दिया गया है[1]। अथर्ववेद में अग्नि को एक विश् के बाद दूसरे विश् में प्रवेश करने वाला कहा गया है[2] और 'विशों का यह राजा' कह कर राजा का उल्लेख किया गया है[3]। इनसे वैदिक सूक्तों की रचना के समय शासन में लोकप्रिय तत्व के महत्व की स्पष्ट सूचना मिलती है। इन वचनों के वास्तविक महत्व को वे लोग भलीभांति समझ सकते हैं जिन्हें यह स्मरण है कि जब 1830 में फ्रान्स की सरकार में लोकप्रिय तत्व बहुत प्रबल हो गया था तो लुई फिलिप को 'फ्रांसीसियों का राजा' इस अर्थपूर्ण उपाधि के साथ सिंहासन पर बिठाया गया था।

§ २

वेदोत्तरकाल में निर्वाचन पद्धति—वेदोत्तर साहित्य में राजा के चुनाव अथवा वरण के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इस प्रकार पञ्चगरु जातक[4] तथा तेलपत्त जातक[5] में कहा गया है कि बोधिसत्व को प्रजा ने राजा चुना था। महावंश (अध्याय 2) में हमें एक प्राचीन भारतीय परम्परा का उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार प्रथम राजा का नाम महासम्मत था। इसी प्रकार शान्तिपर्व (अध्याय 67) में इस परम्परा का उल्लेख है कि प्रथम राजा प्रजा द्वारा चुना गया था।

रामायण तथा महाभारत में इस पद्धति के चिह्न—इसके अतिरिक्त रामायण में एक महत्वपूर्ण प्रसंग प्राप्त होता है जिससे

1. **शतपथ ब्राह्मण**, 12,9,3; **सै० बु० ई०**, जिल्द 44, पृ० 269।
2. **अथर्ववेद**, 4,23,1; व्हिटने, **अथर्ववेद**, पृ० 190।
3. **वही**, पृ० 346; **अथर्ववेद**, 6,88,1।
4. **जातक**, जिल्द 1, पृ० 470।
5. **वही**, पृ० 395।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पता चलता है कि उस काल में भी राजा के वरण में जनमत एक शक्तिशाली तत्व था। इस प्रकार अयोध्या काण्ड[1] में हम देखते हैं कि जब राजा दशरथ राम को युवराज के रूप में अभिषिक्त करना चाहते थे तब उन्होंने अपने राज्य के नगरों और ग्रामों के प्रमुख व्यक्तियों को एक सभा में आमंत्रित किया—

"नानानगरवास्तव्यान् पृथग् जानपदानपि।
समानिनाय मेदिन्याः प्रधानान् पृथिवीपतिः॥" (2,1,46)

नीचे उद्धृत अध्याय 2, श्लोक 19 से यह स्पष्ट है कि इस सभा में ब्राह्मणों तथा सेना के प्रतिनिधियों का समावेश था। इस में अनेक अधीन राजा भी सम्मिलित थे[2]। सभा के विधिवत् आरम्भ होने पर राजा ने अपना प्रस्ताव उनके सामने रखा और कहा—

"यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्ताम् कथं वा करवाण्यहम्॥15
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद् विचिन्त्यताम्।
अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्द्दाभ्यधिकोदया॥"16

इस प्रकार राजा ने इस प्रसंग का अन्तिम निश्चय सभा के ऊपर छोड़ दिया और यदि उसके सुझाव हितकर न पाए जाएं तो अन्य हितकर उपाय सुझाने का अधिकार भी सभा को दिया। उसने सभा को यह चेतावनी दे दी कि वह इस प्रश्न का निर्णय केवल राजा की इच्छा के अनुरूप नहीं अपितु राज्य-हित को ध्यान में रखकर करे। इस पर सभा ने इस विषय पर विचार-विमर्श किया और अन्त में सर्वसम्मति से राजा के प्रस्ताव को मानने का निश्चय किया :

"तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्व्वशः।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजनपदैः सह॥19

---

1. अध्याय 1, 2।
2. तुलनीय अध्याय 2, श्लोक 17।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः ।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ।।"20

किन्तु राजा इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने सभासदों से कहा कि सम्भवतः सभा ने अपना निर्णय केवल राजा की इच्छा को ध्यान में रखकर किया है और उसके मन से यह संशय तब तक दूर नहीं होगा जब तक राम को युवराज के रूप में स्वीकार करने के कारण को वह विस्तार से न बताए। इस पर सभा के सदस्यों ने राम के उन गुणों का वर्णन आरम्भ किया जिनके कारण वे सभा के विचार में इस पद के पूर्णतः योग्य थे। अन्त में वृद्ध राजा को उनके निश्चय पर सन्तोष हुआ और सभा के अभिवादन के उत्तर में उसने भी अभिवादन कर उसका निर्णय स्वीकार किया[1]।

उपर्युक्त विवरण इस बात का एक ज्वलन्त उदाहरण है कि अब भी प्रजा अपने भावी राजा के वरण में वैधानिक शक्ति का उपयोग कर सकती थी। रामायण के अन्य संदर्भों में भी प्रजा के इस अधिकार का उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, 2,67,2 में कहा गया है कि दशरथ की मृत्यु के पश्चात् राजा के वरण के लिए 'राजकर्ता' सभा में एकत्रित हुए :

"व्यतीतायान्तु शर्व्वर्य्यामादित्यस्योदये ततः ।
समेत्य राजकर्त्तारः सभामीयुर्द्विजातयः ।।"

उनमें से कुछ ने सुझाव दिया कि उसी दिन इक्ष्वाकु कुल का एक व्यक्ति राजा नियुक्त किया जाए (श्लोक 8)। किन्तु राज-पुरोहित वसिष्ठ ने उत्तर में कहा कि राज्य भरत को दिया गया है अतः तत्काल उन्हें बुलाया जाए और उनके लौटने तक प्रतीक्षा की जाए (2,68, 3)। राजकर्ताओं ने यह बात मान ली और भरत को बुलाया गया (2,68,4,3)। पुनः 1,133 में भरत के सम्बन्ध

1. अध्याय 3, श्लो० 1।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में कहा गया है—"वसिष्ठप्रमुखैर्द्विजैः नियुज्यमानो राज्याय" ।

इसके अतिरिक्त रामायण 1,421 में कहा गया है कि राजा सगर की मृत्यु होने पर प्रजा ने धार्मिक अंशुमान को अपना राजा चुना :

"कालधर्म्मं गते राम सगरे प्रकृतिर्जनाः ।
राजानं रोचयामासुरंशुमन्तम् सुधार्म्मिकम् ।।"

महाभारत में भी राजा के वरण में प्रजा द्वारा अपने अधिकार के उपयोग के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं । उदाहरणार्थ, यह कहा गया है कि जब प्रतीप ने अपने पुत्र देवापि के अभिषेक की तैयारी की तो नगर और ग्राम की प्रजा, ब्राह्मणों और वृद्धों ने उसे ऐसा करने से रोका। जब राजा ने यह समाचार सुना तब वह फूट-फूट कर रोने लगा और अपने पुत्र के लिए शोक करने लगा । प्रजा ने यह आरोप लगाया कि यद्यपि देवापि सभी गुणों से सम्पन्न था तथापि अपने चर्म-रोग के कारण वह राजपद के अयोग्य था । अन्त में प्रजा की माँग माननी पड़ी और देवापि का भाई राजा बना :

"अथ कालस्य पर्य्यायि वृद्धो नृपतिसत्तमः ।
सम्भारानभिषेकार्थं कारयामास शास्त्रतः ।
मङ्गलार्थानि सर्व्वाणि कारयामास वै विभुः ।।21
तं ब्राह्मणाश्च वृद्धाश्च पौरजानपदैः सह ।
सर्व्वे निवारयामासुर्द्देवापेरभिषेचनम् ।।22
स तच्छ्रुत्वा तु नृपतिरभिषेकनिवारणम् ।
अश्रुकण्ठोऽभवद् राजा पर्य्यशोचत चात्मजम् ।।23
एवं वदान्यो धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च सोऽभवत् ।
प्रियः प्रजानामपि स त्वग्दोषेण दूषितः ।।24
हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः ।
इति कृत्वा नृपश्रेष्ठं प्रत्यषेधन् द्विजर्षभाः ।।"25

(उद्योगपर्व, अ० 149)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुनः जब ययाति अपने कनिष्ठ पुत्र पुरु को सिंहासन पर अभिषिक्त करना चाहता था तब ज्येष्ठ पुत्र को अपने अधिकार से वंचित किए जाने पर प्रजा ने आपत्ति की। इस पर ययाति ने अपने निश्चय के कारण बताए तथा प्रजा से पुरु के राज्याभिषेक के लिए प्रार्थना की—

"भवन्तोऽनुनयाम्येवं पुरु राज्येऽभिषिच्यताम् ।"

जब प्रजा ने अपनी सहमति व्यक्त कर दी तब राज्याभिषेक का संस्कार हुआ—

"पौरजानपदैस्तुष्टैरित्युक्तो नाहुषस्तदा ।
अभ्यषिञ्चत् ततः पूरुं राज्ये स्वे सुतमात्मनः ॥"

(आदिपर्व, अ० 85)

इन उदाहरणों से सम्भवतः यह सिद्ध होता है कि रामायण-महाभारत काल में भी राजा के निर्वाचन की प्रथा पूरी तरह लुप्त नहीं हुई थी। वैदिक युग के समान अब भी राज-कर्ता विद्यमान थे और आवश्यकता पड़ने पर वे राजा के वरण के अधिकार का उपयोग कर सकते थे। कभी-कभी तो वे राजा की इच्छा की अवहेलना भी कर सकते थे।

दीघनिकाय[1] के एक प्रसंग में भी इस बात का उदाहरण मिलता है। उसमें कहा गया है कि राजकुमार रेणु ने अपने साथियों को यह वचन दिया कि यदि उसके पिता दिसंपति की मृत्यु होने पर राजकर्ता (राजकत्तारो) उसे राजा मान लें तो वह उन्हें पुरस्कार देगा। आगे चलकर कहा गया है कि राजकर्ताओं ने वस्तुतः राजकुमार रेणु को राजा के पद पर अभिषिक्त किया। इस कथा से यह निश्चित रूप से सूचित होता है कि राजकर्ता अपनी शक्तियों का वास्तविक उपयोग करते थे, केवल औपचारिक नहीं।

1. 19,26 (डेविड्स और कार्पेंटर), खंड 2, पृ० 233–4।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परवर्ती काल के अभिलेखों में भी निर्वाचन के इस अधिकार की स्मृति पाई जाती है । इस प्रकार ई० सन् 150 के गिरनार शिलालेख में रुद्रदामा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सब वर्गों ने मिलकर उसे अपनी रक्षा के लिए राजा चुना था–'सर्व्ववर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन[1] ।'

पुनः, खलीमपुर अभिलेख[2] से ज्ञात होता है कि पाल-राजवंश के संस्थापक गोपाल को मात्स्यन्याय के निवारण के लिए प्रजा ने अपना राजा चुना था :

"मात्स्यन्यायमपोहितुं प्रकृतिभिर्लक्ष्म्याः करं ग्राहितः ।
श्री गोपाल इति क्षितीशशिरसां चूडामणिस्तत्सुतः ।।"

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि हुएन-सांग[3] के विवरण के अनुसार हर्षवर्धन भी राजा चुना गया था । वहाँ कहा गया है कि राज्यवर्धन की मृत्यु हो जाने पर मन्त्री एकत्रित हुए और उनमें से भण्डि नामक एक व्यक्ति ने हर्षवर्धन का नाम प्रस्तावित करते हुए कहा :"अपने कुल के प्रति वह अत्यन्त निष्ठावान् है, अतः प्रजा उसपर विश्वास करेगी । मैं प्रस्तावित करता हूँ कि वह राजत्व स्वीकार करे । उपस्थित लोगों में से प्रत्येक व्यक्ति इस विषय पर अपने-अपने विचार स्पष्ट रूपसे व्यक्त करे" । यह प्रस्ताव मान लिया गया और राज्य हर्षवर्धन को दे दिया गया ।

कशकुडी ताम्रपत्र[4] से ज्ञात होता है कि पल्लव राजा नन्दिवर्मा भी प्रजा द्वारा चुना गया था ('वृतः प्रजाभिः') ।

---

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 8, पृ० 43–47 ।
2. एपि० इण्डि०, जिल्द 4, पृ० 248 ।
3. बील का अनुवाद, जिल्द 1, पृ० 211 ।
4. साउथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स, जिल्द 3, खण्ड 2, पृ० 349 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

§ ३

सभा और समिति––सभा ने राजनीतिक क्षेत्र में जनता की सामूहिक गतिविधियों की अभिव्यक्ति के लिए व्यापक अवकाश प्रस्तुत किया । वैदिक साहित्य में इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि यह एक शक्ति-सम्पन्न संस्था थी और राजकीय सत्ता पर इसका प्रभावकारी नियन्त्रण था । अनेक निर्देशों से इस बात में सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता कि यह उस काल के सार्वजनिक प्रशासन का एक जाना-पहचाना लक्षण था । दुर्दैववश सामग्री की स्वल्पता के कारण इसकी शक्ति एवं संगठन के वास्तविक स्वरूप का निश्चय करना असम्भव है । तथापि इसकी सामान्य प्रकृति तथा महत्व को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं ।

सभा की प्रकृति और महत्व को स्पष्ट करने वाले वैदिक वचन––सभा कोई दुर्बल संस्था नहीं थी, प्रत्युत राजा पर उसका वास्तविक नियन्त्रण था, जैसा कि एक ब्राह्मण द्वारा अपने को क्षति पहुँचाने वाले राजा को दिए गए अधोलिखित शाप से पूर्णत स्पष्ट है :

"जो राजा अपने को उग्र समझता है (और) जो ब्राह्मण की हिंसा करना चाहता है, जहाँ ब्राह्मण दुखी रहता है वह राज्य नष्ट हो जाता है । (6)

"(ब्राह्मण की विपत्ति) आठ पैर, चार आँख, चार कान, चार डाढ़ी, दो मुख और दो जीभ धारण कर ब्राह्मणघाती (राजा) के राष्ट्र को नष्ट कर देती है । (7)

"जिस प्रकार जल छेदवाली नाव को डुबा देता है उसी प्रकार वह (पाप) ही उस राष्ट्र को डुबाता है । जिस राष्ट्र में ब्राह्मणों की हिंसा होती है उस राष्ट्र को दुर्भाग्य नष्ट कर देता है । (8)

"जिस रस्सी को मृत पुरुष के शव में बाँधते हैं, हे ब्राह्मण को हानि पहुँचानेवाले, उसी को देवताओं ने तेरा बिस्तर (उपस्तरण)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बताया है। (12)

"हे ब्राह्मण को हानि पहुँचानेवाले, हिंसा करते समय उसकी आँखों से निकले हुए आँसुओं को ही देवताओं ने तेरा जल-भाग निश्चित किया है। (13)

"हे ब्राह्मण को हानि पहुँचानेवाले, जिस जल से मृतक को स्नान कराया जाता है और उसकी मूँछों को भिगोया जाता है वही जल-भाग देवों ने तेरे लिए निश्चित किया है (14)।

"ब्राह्मण-पीडक (के राज्य) की ओर मित्रावरुण द्वारा होनेवाली वर्षा नहीं होती। **समिति उसके अनुकूल नहीं होती और वह अपने मित्र को भी वश में नहीं कर पाता।**" (15)[1]

कठोर निन्दा की इस लम्बी लड़ी में उस शाप के महत्व को कम करना असम्भव है जो अन्तिम मन्त्र में दिया गया है। पिछले मन्त्रों तथा पूर्ववर्ती सूक्त[2] में राजा को जिन घोर अपमानों की धमकी दी गई है उनकी सूची का अवलोकन करने पर ही हम विरोधी समिति की सम्भावना से उसके हृदय में होने वाले भय की यथार्थ प्रकृति की कल्पना पूर्ण रूप से कर सकते हैं। इस सूक्त का रचयिता राजा के विरुद्ध सभी प्रकार के शापों को उँड़ेल कर रख देता है तथा हिंसा की मात्रा में क्रमशः बढ़ता हुआ वह उस धमकी के साथ अपना वक्तव्य समाप्त करता है जिसे वह सबसे अधिक गम्भीर समझता था। जो राजा समिति को अपने वश में नहीं रख सकता था वह वस्तुतः

---

1. अथर्ववेद, 5,19; व्हिटने, अथर्ववेद, पृ० 253–54। ब्लूमफील्ड रेखांकित अंश का अनुवाद इस प्रकार करते हैं: "(जो राजा ब्राह्मणों का दमन करता है) समिति उससे प्रसन्न नहीं रहती। वह अपने मित्र को अपनी इच्छा के अनुसार नहीं चलाता।" दे० ब्लूमफील्ड, **पूर्वोक्त**, पृ० 171।
2. व्हिटने, **अथर्ववेद**, पृ० 250।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दयनीय था और यह राज्य के लिए उतना ही महान् संकट था जितनी दीर्घकालीन अनावृष्टि, जब मित्रावरुण जीवन-दायिनी वृष्टि को रोक लेते हैं।

ऋग्वेद 10,166,4 से सभा का महत्व प्रमाणित होता है। जैसी कि ज़िमर की धारणा है, यह सूक्त सम्भवतः राजसिंहासन के एक असफल उम्मीदवार का वक्तव्य है, जो पाशविक बल से उसे हथियाना चाहता है :

"मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं यहाँ उस बल के साथ आया हूँ जो सब कुछ कर सकता है। मैं अपने आपको तुम्हारे उद्देश्यों, तुम्हारे व्रतों तथा तुम्हारी समिति का स्वामी बनाऊंगा।"[1]

ज़िमर के अनुसार इस सूक्त की पाँचवीं अथवा अन्तिम ऋचा का छन्द उसके उत्तरकाल में प्रक्षिप्त होने का सूचक है। यदि यह ठीक हो तो यहाँ भी प्रतिद्वन्द्वी राजा को जो अन्तिम धमकी दी गई है वह है उसकी समिति पर अधिकार।

पुनश्च, अथर्ववेद, 6,88 में राजा को अपने सिंहासन पर दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित करने के लिए जिस बात की अन्तिम रूप से प्रार्थना की गई है वह है उसके और समिति के मध्य सहयोग :

"तुम ध्रुव और अच्युत रहते हुए शत्रुओं का मर्दन करो। तुम्हारे प्रति शत्रुभाव रखनेवालों की अधोगति करो। सब दिशाएँ समान मनवाली और अनुकूल हों। समिति तुम्हारे अनुकूल हो।"[2]

सार्वजनिक प्रशासनतंत्र में समिति के महत्व का परिचय प्राप्त

---

1. A. L., P. 175 "Ueberlegen bin ich hierher gekommen mit zu Allem Fähiger Schaar (विश्वकर्मेण धाम्ना): eurer Abisicht, eures Beschlusses, eurer Versammlung (समिति) bemächtige, ich mich."

2. व्हिटने, अथर्ववेद, पृ० 346।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर चुकने पर अब हम उसके वास्तविक स्वरूप और प्रकृति पर विचार करेंगे ।

सभा और समिति में भेद--ज़िमर के अनुसार 'सभा' ग्रामीणों की सभा थी, जबकि 'समिति' जनपद की केन्द्रीय सभा थी, जिसके अधिवेशनों में राजा भी उपस्थित रहता था[1] । किन्तु मक्डानल ने विद्वानों का ध्यान शतपथ ब्राह्मण, 3,3,4,14 तथा छान्दोग्य उपनिषद्, 5,3,6 की ओर आकर्षित किया, जिनसे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि राजा सभा में उसी प्रकार जाता था जिस प्रकार समिति में । वे हिलब्राण्ट के इस विचार से सहमत हैं कि सभा और समिति के मध्य भेद करना सम्भव नहीं है[2] । किन्तु ज़िमर (पृ० 174) द्वारा प्रस्तुत भाषाविज्ञान-सम्बन्धी तर्क के अतिरिक्त यह उल्लेखनीय है कि अथर्ववेद, 8,12,1 वस्तुतः दोनों के मध्य भेद करता है ।

'प्रजापति की दो पुत्रियाँ, सभा और समिति, एकमत होकर मेरी रक्षा करें ।' [3] अथर्ववेद, 8,10,5 में और 6 में भी सभा का समिति से भेद किया गया है ।

अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि ये दोनों संस्थाएँ एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न थीं यद्यपि उनके मध्य भेद के वास्तविक स्वरूप का निश्चय करना सम्भव नहीं है । सभा का उपयोग मनोरंजन के एक स्थान के रूप में भी किया जाता था । इस तथ्य से सम्भवतः यह सूचित होता है कि वह मूलतः एक ग्राम-परिषद् थी और, जैसी कि ज़िमर[4] की धारणा है, "ग्रीक लेस्खे (Leskhe) के समान वह सामाजिक समागम,

---

1. ज़िमर, **पूर्वोक्त**, पृ० 172–174 ।
2. ह्विटने, **अथर्ववेद**, पृ० 396 ।
3. **वैदिक इंडेक्स**, जिल्द 2 पृ० 427 ।
4. ज़िमर, **पूर्वोक्त**, पृ० 172 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गायों तथा अन्य विषयों पर सामान्य वर्तालाप एवं सम्भवतः वाद-विवादों तथा शास्त्रार्थों के लिए सभास्थान का काम करती थी।" छान्दोग्य उपनिषद् इत्यादि के उल्लेखों को इस अनुमान के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है कि उत्तरकाल में प्रस्तुत शब्द के अर्थ में कुछ विस्तार हो गया था, अथवा इन स्थानीय परिषदों में भी राजा का उपस्थित होना कोई साधारण बात नहीं थी। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि ऊपर उद्धृत तीनों दृष्टान्तों में, जिनका उद्देश्य समागम के महत्व को प्रमाणित करना है, समागम के लिए समिति शब्द का व्यवहार किया गया है। इसके विपरीत वाजसनेय संहिता के दो मंत्रों[1] में सभा का निर्देश ग्राम के सम्बन्ध में किया गया है। अतः इन शब्दों के अर्थों के विषय में अधिक निश्चित होने का प्रयत्न किए बिना साधारणतः हम सभा को स्थानीय और समिति को केन्द्रीय सभा के अर्थ में ले सकते हैं।

§ ४

समिति—समिति (एवं सभा) में वाद-विवादों और तर्क-वितर्कों के मूल में जो प्रबल दलगत भावना विद्यमान थी वह भारत में वैदिक काल के बाद के तीन सहस्र वर्षों में शायद ही दृष्टिगोचर हुई हो। इस सम्बन्ध में आगे विचार करने के पूर्व प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध वैदिक साहित्य के अधिक महत्वपूर्ण वचनों का संकलन करना उपयोगी होगा।

1. समिति से सम्बन्धित वैदिक वचन—(अथर्ववेद के अधोलिखित सूक्त[2] का उपयोग कौषीतकी[3] में एक कृत्य अथवा अभिचार

1. 3,45; 20,17।
2. 2,27।
3. 38,18,21।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में किया गया है जिसका प्रयोजन सार्वजनिक वाद, विवाद में अपने विरोधी को पराजित करना था। एक व्यक्ति उत्तर-पूर्व दिशा से एक विशिष्ट पौधे की जड़ को चूसता हुआ समिति में प्रवेश करता था। बोलते समय वह उक्त जड़ को अपने मुँह में रखता, उसका एक रक्षायन्त्र या ताबीज बाँधता और उसकी सात पत्तियों की एक माला पहनता था।)

"हे ओषधे, मेरे शत्रु वाद-विवाद[1] में किसी प्रकार विजयी न हो सकें। तू शत्रुओं से टक्कर लेकर उन्हें अभिभूत करती है। वाद-विवाद में मेरे प्रतिवादी के प्रतिवाद को नष्ट कर। उन्हें (मेरे प्रतिवादियों को) नीरस कर दे।(1)

"हे ओषधे, सुपर्ण ने तुझे खोजा है। सूकर ने तुझे अपने थूथुन से खोदा है। प्रतिवाद को नष्ट कर, इत्यादि। (2)

"हे ओषधे, असुरों के नाश के लिए इन्द्र ने तुझे अपनी भुजा पर रखा। प्रतिवाद को नष्ट कर, इत्यादि। (4)

"इससे मैं शत्रुओं को पराभूत करूँगा जिस प्रकार इन्द्र ने सालावृकों को पराभूत किया था। प्रतिवाद को नष्ट कर, इत्यादि। (5)

"हे रोगनाशक भेषजवाले नील शिखण्डवाले, कर्मकृत रुद्र, प्रतिवाद को नष्ट कर, इत्यादि। (6)

"हे इन्द्र तुम उसके प्रतिवाद का पराभव करो जो हमें क्षीण करता है (अर्थात् हमारे प्रति शत्रुभाव रखता है—ब्लूमफील्ड, पूर्वोक्त, पृ० १३७)। हमें शक्तियाँ प्रदान करो। मुझे वाद-विवाद में प्रबल करो।" (7)[2]

---

1. ब्लूमफील्ड सर्वत्र Debate शब्द का व्यवहार करते हैं। द्रष्टव्य **पूर्वोक्त**, पृ० 396—97।
2. व्हिटने, **अथर्ववेद**, पृ० 67–8।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

2. कौषीतकी[1] में अथर्ववेद के अधोलिखित सूक्त[2] का उपयोग सभा और समिति में होने वाले वाद-विवादों अथवा विचार-विमर्श में विजय प्राप्ति के हेतु किए जाने वाले एक कृत्य में किया गया है :

"सभा और समिति, जो प्रजापति की पुत्रियाँ हैं, एकमत होकर मेरी रक्षा करें। जिससे मिलूं वह मेरी सहायता करना चाहे। अतः हे पितृगण, मैं समागमों में ऐसी वाणी का उपयोग कर सकूं जो एकत्रित लोगों को प्रिय हो। (1)

"हे सभे, मैं तेरा नाम जानता हूँ। तेरा 'नरिष्ठा' नाम ठीक ही है। जो भी तेरे सभासद् हैं वे मेरे समान वाणी का व्यवहार करें। (2)

"मैं यहाँ बैठे हुए इन (सभासदों) का तेज और विज्ञान ग्रहण करता हूँ। हे इन्द्र, तुम मुझे इस सम्पूर्ण संसद् का भागी बनाओ। (3)

"आप लोगों का जो मन दूर चला गया है, जो इधर-उधर बंधा हुआ है आप लोगों के उस मन को मैं यहाँ लौटा कर लाता हूँ। आप लोगों का मन मुझमें रमण करे।" (4)[3]

3. अथर्ववेद के अधोलिखित सूक्त[4] का उपयोग सम्भवतः ऐक्य और सामंजस्य के लिए अभिप्रेत एक कृत्य में किया जाता था :

"हम तुम्हारे मनों, विचारों और कार्यों को विरोध से रहित करते हैं। ये जो विरोधी व्रत वाले लोग हैं उनको हम परस्पर अनुकूल करते हैं। (1)

"मैं (तुम्हारे) मनों को (अपने) मन से ग्रहण करता हूँ।

---

1. 38,27 ।
2. 7,12 ।
3. ह्विटने, **अथर्ववेद**, पृ० 396–97 ।
4. 6,94 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तुम अपने चित्तों से मेरे चित्त का अनुसरण करो। मैं तुम्हारे हृदयों को अपने वश में करता हूँ। तुम मेरे मार्ग का अनुसरण करो। (2)

"द्यौ और पृथिवी मेरे लिए कार्यरत (हैं)। सरस्वती भी कार्यरत (है)। इन्द्र और अग्नि भी मेरे लिए कार्यरत (हैं)। हे सरस्वति, हम यहाँ सफल हों।" (3)[1]

4. अथर्ववेद के एक सूक्त[2] में निम्ननिर्दिष्ट मन्त्र पाया जाता है। कौषीतकी में यह अभिचार को निष्फल करने के हेतु किए जाने वाले एक कृत्य के सन्दर्भ में उद्धृत है :

"जिस कृत्या को उन्होंने तेरे लिए सभा में किया है उसे मैं वापस लेता हूँ।" (6)[3]

5. कौषीतकी के अनुसार परिषद् में जाते समय अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध पृथिवीसूक्त के निम्नलिखित मन्त्र को दुहराना चाहिए :

"मैं शत्रुओं को पराजित करने वाला हूँ। मैं भूमि पर नाम से श्रेष्ठ हूँ। मैं वश में करने वाला हूँ। मैं सब को पराजित करने वाला हूँ, मैं प्रत्येक प्रदेश में शत्रुनाशक हूँ[4]।"

6. कौषीतकी के अनुसार जो व्यक्ति समिति को प्रसन्न करना चाहता है उसे उक्त सूक्त के अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। वह समिति भवन को इस मन्त्र से सम्बोधित करता है और उसकी ओर देखता है :

"मैं जो कुछ बोलूँ वह मधुर हो। मैं जिसे देखूँ वही मेरा प्रिय हो। मैं तेजस्वी और वेगवाला हूँ। मैं अन्य हिंस्र लोगों

1 व्हिटने, **अथर्ववेद**, पृ० 350।

2. ५,३१।

3. व्हिटने, **अथर्ववेद**, पृ० 279।

4. **अथर्वंद**, 12,1; **कौषीतकी**, 38,30; व्हिटने, **अथर्ववेद**, पृ० 670।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(शत्रुओं) का संहार करूँ ।" (58)[1]

7. निम्नलिखित मन्त्र भी भूमिसूक्त में पाया जाता है :

"पृथिवी पर जो गाँव, अरण्य और जो सभाएँ हैं, जो संग्राम और समितियाँ हैं, उनमें हम चारु भाषण कर सकें ।" (56)[2]

8. व्रात्यसूक्त का निम्नलिखित मन्त्र व्रात्य की चर्चा करता है:

1. "वह प्रजाओं (विशः) की ओर बढ़ा ।

2. सभा, समिति, सेना एवं सुरा ने उसका अनुसरण किया" ।[3]

9. जिस प्रकार होता यज्ञीय पशुओं से युक्त गृह में जाता है, जिस प्रकार राजा समिति की ओर जाता है उसी प्रकार शुद्ध किया हुआ सोम घट में प्रवेश करता है और जंगल में भैंसे की तरह उसमें रहता है[4] ।"

10. निम्नलिखित मन्त्र अग्निसूक्त में पाया जाता है : "हे सभ्य, मेरी सभा, सभ्यों तथा सभासदों की रक्षा करो । हे इन्द्र, तुम्हारी भूरि-भूरि प्रार्थना कर चुकने पर वे पूर्ण आयु प्राप्त करें[5] ।"

ऊपर उद्धृत मन्त्रों से समिति के स्वरूप और कर्तव्यों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ने की आशा है । यद्यपि प्रस्तुत प्रश्न की दृष्टि से उनकी विविध उपयोगिताओं का सूक्ष्म विवेचन सम्भव नहीं है, तथापि उनसे समिति की कुछ प्रमुख विशेषताओं का परिचय मिल सकता है । सं० 7 से यह भासित होता है कि मूलतः समिति प्रजा (विश्) की सभा थी । नाममात्र के लिए ही क्यों न सही,

1. **कौषीतकी**, 24,14, 38,39; ब्लूमफील्ड, **पूर्वोक्त**, पृ० 206; व्हिटने, **अथर्ववेद**, पृ० 671 ।
2. व्हिटने, **अथर्ववेद**, पृ० 671 ।
3. **अथर्ववेद**, 15,9; व्हिटने, **अथर्ववेद**, पृ० 783 ।
4. **ऋग्वेद**, 9,92–96; ज़िमर, **पूर्वोक्त**, पृ० 174 ।
5. **अथर्ववेद**, 19,55–56; व्हिटने, **अथर्ववेद**, पृ० 993 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रजा ने समिति पर अपना प्रभाव व्रात्यसूक्त में आलेखित उत्तरवैदिक काल तक बनाए रखा[1]।

हम पहले ही देख चुके हैं कि प्राचीन भारत के राजनीतिक प्रशासन में समिति का महत्वपूर्ण स्थान था। सं० 8 से सूचित होता है कि वह उस काल के राजनीतिक जीवन से इतनी अभिन्न हो चुकी थी कि समिति के बिना राजा की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। राजा के लिए समिति का वही महत्व था जो भैंस के लिए जंगल का, सोमरस के लिए घड़े का और पुरोहित के लिए यजमान का था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समिति वह आधार-स्तंभ थी जिसके विना राजशक्ति के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती थी।

इस दशा में यदि धार्मिक कृत्यों तथा प्रार्थनाओं द्वारा समिति को धार्मिक महत्व दिया गया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं (सं० 10)। उसकी ओर से होम किया जाता था[2] तथा समिति के रक्षक देव के रूप में उसकी तथा उसके सदस्यों की रक्षा के लिए अग्नि से विधिवत् प्रार्थना की जाती थी। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में हमें हृदय की उन प्रभावपूर्ण प्रार्थनाओं का एक अच्छा उदाहरण मिलता है जो सम्भवतः सभा के अधिवेशन के पूर्व घटित होती थीं :

"एकत्र हो, मिलकर भाषण करो, तुम्हारे विचार समान हों। जिस प्रकार पुरातन देवता अपने निश्चित स्थानों पर बैठते हैं उसी प्रकार स्थान समान हैं, समिति समान है, चित्त समान है, व्रत समान है। मैं तुम्हारे समक्ष एक साधारण प्रयोजन रखता हूँ और सामान्य आहुतियों से होम करता हूँ। तुम्हारा व्रत समान हो, और तुम्हारा चित्त

1. तुलनीय ज़िमर, पूर्वोक्त, पृ० 194।
2. हिलब्राण्ट, वेदिश माइथोलोजिक, 2,123–125।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समान हो। सब के विचार समान हों, जिससे सब प्रसन्नतापूर्वक सहमत हो सकें[1]।"

और एकता तथा तालमेल के लिए इस प्रकार की प्रभावपूर्ण प्रार्थना वस्तुतः समिति में की जा सकती थी, क्योंकि समिति के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर इतना गंभीर विवाद और मतभेद नहीं हो सकता था और न सार्वजनिक सभा में सत्ता के लिए इतना कठोर संघर्ष ही हो सकता था। मुझे विश्वास नहीं होता कि विश्व साहित्य में अन्यत्र कहीं समिति में प्राधान्य की प्राप्ति के लिए इतने व्यग्र विचार मिलते हैं तथा हार्दिक इच्छा इतने सजीव रूप में अभिव्यक्त हुई है जितनी उपर्युक्त मन्त्रों में। समिति में प्रथम स्थान की प्राप्ति के लिए देवता की इतनी प्रभावपूर्ण प्रार्थना और कहीं नहीं की गई है जितनी वेदकालीन भारत के देवताओं की (1,2,7,10)। सम्भवतः संसार में अन्यत्र एतदर्थ धार्मिक कृत्य (1,2) विधिवत् नहीं किए जाते थे। किन्तु वेदकालीन भारत का साहसी राजनीतिज्ञ अपनी सफलता के लिए केवल दैवी सहायता के ही भरोसे नहीं रहता था, अपितु इसी उद्देश्य से जादू-टोने का उदारतापूर्वक आविष्कार एवं आवश्यक प्रयोग भी किया जाता था (4-6)। मन्त्र, प्रतिमन्त्र (4) तथा भूतविद्या—जैसे गंडा पहनना, किसी पौधे की जड़ को चूसना और उसकी पत्तियों की माला पहनना (1)—की शक्ति में विश्वास जनसाधारण के मन में घर कर चुका था। अपने प्रतिज्ञात उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अत्यधिक उत्सुक होने के कारण वे उनकी निरर्थकता के प्रति जागरूक नहीं थे। जनसाधारण की विश्वासपरायणता के बारे में हम कुछ भी क्यों न सोचें, इसमें सन्देह नहीं कि वे राजनीति को गंभीरता से लेते थे तथा वैदिक भारत के समाज में सार्वजनिक जीवन की तीव्र विवेकबुद्धि और सजीव राजनीतिक गतिविधि विद्यमान थी।

1. ग्रिफ़िथ का अनुवाद, पृ० 609; ऋग्वेद, 10,191।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत की सामूहिक राजनीतिक गतिविधियों की एक महत्वपूर्ण विशेषता की प्रभूत प्रशंसा किए बिना हम नहीं रह सकते। यद्यपि लोग समिति में श्रेष्ठता प्राप्त करने की आवश्यकता के प्रति पूरी तरह जागरूक थे, तथापि प्रत्यक्ष रूप से इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे वादविवाद की कला में कुशलता द्वारा सदस्यों को अपने मत में लाने का यत्न करने थे, जो वस्तुतः अत्यधिक सम्माननीय बात थी। सभी प्रार्थनाएँ और धार्मिक कृत्य, मन्त्र और प्रतिमन्त्र एक ही लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट थे : विवाद में अपने विरोधियों की अपेक्षा अधिक कुशलता प्राप्त करना, उपस्थित सदस्यों को अपना विचार मानने के लिए प्रेरित करना, अपने विरोधियों के तर्कों को कमजोर करना, अपना भाषण सदस्यों के लिए सुखावह बनाना और अपने से भिन्न विचार वाले सदस्यों के मन को प्रभावित करना। इस प्रकार यह राजनीतिक नेताओं के लिए श्रेय की बात है कि सामूहिक राजनीतिक जीवन की स्पर्धाओं और संघर्षों के बीच उन्होंने समिति की सर्वोच्चता तथा स्वतन्त्रता के आधारभूत सिद्धान्तों का कभी उल्लंघन नहीं किया। इसी प्रकार समिति में उपस्थित लोगों के लिए यह एक आदर का विषय है कि वे ईमानदारी तथा उत्तरदायित्व की भावना से इतने ओतप्रोत थे कि मित्रों और शत्रुओं को समान रूप से यह मानना पड़ता था कि तर्क और युक्ति ही वह एकमात्र शक्ति थी जिसके आगे वे झुक सकते थे।

वेदोत्तर काल में राजनीतिक समिति—वैदिक काल की महती राजनीतिक समितियाँ इस प्रकार की थीं। यद्यपि परवर्ती युगों के साहित्य से इन संस्थाओं पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता तथापि ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि देश में ये संस्थाएँ पूर्णतः लुप्त नहीं हुईं। रामायण और विनय-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पिटक के उदाहरणों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। किन्तु रामायण में सभा का एकमात्र कार्य था राजा अथवा युवराज का वरण, और यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं है कि साधारण प्रशासन में भी उसका कोई महत्वपूर्ण स्थान था या नहीं। विनयपिटक में उस कार्य का विवरण नहीं मिलता जिसके लिए बिम्बिसार ने अस्सी हजार ग्रामणियों की सभा का आयोजन किया था।

मन्त्रि-परिषद् वैदिक समिति का एक अवशेष—कौटिल्य के अर्थशास्त्र (अधि० १, अध्याय १५) में वर्णित मन्त्रिपरिषद् वैदिक समिति की वास्तविक प्रतिनिधि प्रतीत होती है। इस संस्था और साधारण मन्त्रियों की परिषद् के बीच स्पष्ट भेद किया गया है, क्योंकि संकटकाल में मन्त्रियों तथा मन्त्रिपरिषद् ('मन्त्रिणो मन्त्रि-परिषदं च') दोनों को बुलाने का निर्देश राजा को दिया गया है। कभी-कभी इसके सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी थी, जैसा कि कौटिल्य के इस कथन से स्पष्ट है कि इन्द्र की मन्त्रिपरिषद् में एक हजार ऋषियों का समावेश था। दिव्य वस्तुओं से सम्बद्ध इन काल्पनिक कथनों का आधार वास्तविक सांसारिक वस्तुओं में निहित होना चाहिए। प्राचीन भारत के कुछ राजनीतिज्ञों के अनुसार मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या 12,16 अथवा 20 होनी चाहिए। इसके विपरीत कौटिल्य का मत था कि इसके बहुत समान संख्या राज्य की आवश्यकताओं के अनुपात पर अ.सम्बन्ध होनी चाहिए। जहाँ तक मन्त्रिमंडल की शक्तियों का प्रश्न है, कौटिल्य ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि उसे राजा और उसके शत्रु दोनों के दलों से सम्बन्धित विषयों पर विचार करना पड़ता था। राजा को सदस्यों के बहुमत अथवा उनके द्वारा सुझाए हुए कार्य-सिद्धिकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपाय का अनुसरण करना पड़ता था[1] । इस संगठन की वैधानिक स्थिति भी कौटिल्य के इस विधान से पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि राजा को अनुपस्थिति सदस्यों से पत्र-व्यवहार के द्वारा मन्त्रणा करनी चाहिए 'अनासन्नैः सह पत्रसम्प्रेषणेन मन्त्रयेत्' (पृ० 29) ।

महाभारत के निम्नलिखित श्लोक इस संस्था के विधान का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं तथा साधारण मन्त्रियों के साथ इसके सम्बन्ध को सूचित करते हैं :

"वक्ष्यामि तु यथामात्यान् यादृशांश्च करिष्यसि ।।6
चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन् ।
क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणिनः ।।7
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेकविंशतिसंख्यया ।
त्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्म्मणि पूर्व्वके ।।8
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा ।
पन्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम् ।।9
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं विनीतं समदर्शिनम् ।
कार्य्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम् ।।10
वर्ज्जितं चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम् ।
अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत् ।।"11

(शान्तिपर्व, अध्याय 85)

[illegible] मन्त्रिपरिषद् में चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस शक्ति थी : शूद्र तथा एक सूत होते थे । सैंतीस सदस्यों के इस संग[illegible] साधारण कार्य के निर्वाह के लिए राजा आठ मन्त्रियों

1. कौटिल्य का अर्थशास्त्र (आर० शामशास्त्री द्वारा अनुवादित, पृ० 33) । शामशास्त्री इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं—"मन्त्रि-परिषद् को मंत्रियों के परिषद् के रूप में" । परन्तु उपर्युक्त कारणों से मैंने अन्य शब्द 'प्रिवी कौंसिल' का प्रयोग किया है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को चुन लेता था। इस तरह मन्त्रिपरिषद् के संविधान में प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को पूर्ण मान्यता प्राप्त थी, जिससे इसका लोकतान्त्रिक उद्भव सूचित होता है।

इस सम्बन्ध में यह देखना उपयोगी होगा कि भारतीय संविधान में प्रशासनतन्त्र का विकास कहाँ तक इंग्लैंड के प्रशासनतन्त्र की समानान्तर रेखाओं पर हुआ। इंग्लैंड की विशाल राष्ट्रीय परिषद् ने स्थायी परिषद् को जन्म दिया। यह आगे चलकर प्रिवी कौन्सिल के रूप में परिणत हुई, जिससे राजा अपने विश्वस्त मन्त्रियों को चुनता और मन्त्रिमण्डल बनाता था। ठीक इसी प्रकार वैदिक काल की समिति से मंत्रिपरिषद् का जन्म हुआ, जिसके कुछ सदस्यों को चुन कर राजा अपना आन्तरिक मन्त्रिमण्डल बनाता था। किन्तु जिस प्रकार विशाल राष्ट्रीय परिषद् ने इंग्लैण्ड को संसद दी उस प्रकार समिति ने देश को कोई विधान सभा नहीं दी। यह काम परिषद् के ऊपर आया जिसमें साधारणतः निम्नलिखित सदस्य होते थे: चार वेदों में निष्णात चार व्यक्ति, प्रथम तीन आश्रमों के तीन प्रतिनिधि तथा तीन विभिन्न धर्मशास्त्रों के जानकार तीन पुरुष[1]।

यवन लेखकों द्वारा उल्लिखित इस प्रकार की संस्थाएँ—यवन लेखक भी इस प्रकार की संस्थाओं के अस्तित्व की साक्षी देते हैं। उदाहरणार्थ, डायोडोरस ने एक 'महत्वपूर्ण नगर' का उल्लेख किया है, जिसका संविधान स्पार्टा के संविधान से बहुत समानता रखता था। जहाँ तक इस संविधान की विशेषताओं का सम्बन्ध है, उसने लिखा है : "इस समुदाय में युद्ध में सेना का नेतृत्व दो विभिन्न कुलों के दो आनुवंशिक राजाओं में निहित था, जब कि वृद्धों की एक परिषद् सर्वोच्च सत्ता के साथ सम्पूर्ण राज्य का शासन करती

1. **गौतम**, 28,49; मनु 12,110 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थी।"[1] वृद्धों की यह परिषद् निश्चय ही वैदिक काल की समिति की याद दिलाती है। यवन लेखक के इस स्पष्ट कथन से कि वह "सर्वोच्च सत्ता के साथ सम्पूर्ण राज्य का शासन करती थी" तत्कालीन सार्वजनिक प्रशासन में समिति के सर्वोच्च महत्व के विषय में मेरे विचार की पुष्टि होती है। इससे कौटिल्य द्वारा विहित इस सिद्धांत का भी स्पष्टीकरण हो जाता है कि राजा बहुमत का निर्णय मानने के लिए बाध्य था।

दक्षिण भारतीय साहित्य और अभिलेखों में वर्णित इस प्रकार की संस्थाएं—श्री वि० कनकसभई ने ईस्वी सन् की आरंभिक शताब्दियों में दक्षिण भारत में इस प्रकार की संस्थाओं के अस्तित्व को सिद्ध किया है। तत्कालीन तमिल साहित्य के अध्ययन से वे निम्नांकित निष्कर्ष पर पहुंचे हैं:

"वंशपरंपरागत राजा शासन का प्रमुख था। उसकी शक्ति पर पाँच सभाओं का, जो 'पाँच महासभाओं' के नाम से प्रसिद्ध थीं, नियन्त्रण था। इनमें जनता, पुरोहितों, चिकित्सकों, ज्योतिषियों अथवा भविष्य-वक्ताओं तथा मन्त्रियों के प्रतिनिधियों का समावेश था। प्रतिनिधि-सभा प्रजा के अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा करती थी, पुरोहित धार्मिक कृत्यों का निर्देशन करते थे, राजा और उसकी प्रजा के स्वास्थ्य से सम्बन्धित विषय वैद्यों के हाथ में थे, ज्योतिषी सार्वजनिक कृत्यों के लिए मंगलसमय निश्चित करते तथा महत्वपूर्ण घटनाओं की भविष्यवाणी करते थे, आय-व्यय तथा न्याय-प्रशासन का काम मन्त्रियों के हाथों था। इनमें से प्रत्येक सभा के अधिवेशन तथा

---

1. डायोडोरस, अध्याय 104। इस अंश का अंगरेजी अनुवाद मैक्क्रिन्डिल ने अपनी पुस्तक **इन्वेजन आफ इण्डिया बाइ अलैग्जैण्डर दि ग्रेट**, पृ० 296 में किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कार्यनिर्वाह के लिए राजधानी में अलग-अलग स्थान नियत थे। कुछ महत्वपूर्ण अवसरों पर वे सिंहासन कक्ष में राजकीय स्वागत समारोह तथा राजकीय जुलूस में सम्मिलित होते थे।...शासन की शक्ति पूर्णतः राजा और पाँच महासभाओं में निहित थी। इस सन्दर्भ में यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि शासन की यह पद्धति पाण्ड्य, चोल तथा चेर-इन तीन राज्यों में प्रचलित थी, यद्यपि वे एक-दूसरे से स्वतन्त्र थे। अतः यह विश्वास करना अनुचित न होगा कि उन लोगों ने शासन की उस पद्धति का अनुसरण किया जो मगध-साम्राज्य में, जहाँ से इन तीनों राज्यों के संस्थापक मूलरूप से आए थे, प्रचलित थी[1]।"

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ये तथाकथित पाँच सभाएं वस्तुतः एक महासभा की उप-समितियां थीं। लेखक ने इनकी उत्पत्ति मगध साम्राज्य से मानी है, किन्तु मुझे वे वैदिक समिति के, जिसने अपनी स्मृति भारत के प्रत्येक भाग में छोड़ी है, परिवर्तित रूप प्रतीत होती हैं। किसी भी दशा में इन संस्थाओं का प्रातिनिधिक स्वरूप तथा प्रशासन पर इनका वास्तविक नियन्त्रण स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इनमें से एक सभा मन्त्रियों की थी। यदि इन सभाओं के संघटित रूप को लिया जाए तो इनकी तुलना उपर्युक्त प्रिवी कौन्सिल के साथ की जा सकती है, तथा मन्त्रि-सभा मन्त्रि मण्डल से समानता रखती है जिसमें कुछ चुने हुए व्यक्ति होते थे। कुल मिलाकर मेरा निश्चित विचार है, कि ये तमिल सभाएं प्राचीन समिति का एक परिवर्तित प्रकार हैं, जो महाभारत तथा अर्थशास्त्र प्रभृति वेदोत्तर साहित्य में दृष्टिगत होता है।

---

1 तमिलस् एटीन हन्ड्रेड इयर्स एगो, पृ० 109–110।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बारहवीं शताब्दी के त्रावणकोर के एक अभिलेख[1] में मन्दिर के अधिकारियों के "वेणाड के छह सौ जिला अधिकारियों तथा प्रतिनिधियों" के अधीन होने का उल्लेख है। वेणाड त्रावणकोर का प्राचीन नाम था। इस अभिलेख के सम्पादक ने लिखा है: "यह प्रतीत होगा कि सम्पूर्ण वेणाड राज्य के लिए **छह सौ** नामक एक महत्वपूर्ण सार्वजनिक संस्था थी; जिसका एक कर्तव्य था मन्दिरों और उनसे सम्बद्ध दान-धर्मों के कार्यों का निरीक्षण करना। **छह सौ** के इस विलक्षण संस्थान के अन्य अधिकार और विशेषाधिकार क्या थे, इस प्रश्न का निश्चय भावी शोध के द्वारा ही हो सकता है। इतनी बड़ी संख्या, जो बृटिश लोकसभा के प्रायः निकट है, १२वीं शताब्दी के वेणाड-जैसे छोटे राज्य में मन्दिर-निरीक्षण के एकमात्र कार्य के लिए उद्दिष्ट नहीं हो सकती थी।" क्या इसका आशय प्राचीन समिति की अवशेष राज्यपरिषद्-जैसी किसी संस्था से नहीं हो सकता ?

§ ५

सभा:—ऊपर हमने समिति अथवा केन्द्रीय सभा पर विचार किया है। अब हम स्थानीय सभा के विषय में विचार करेंगे, जिसका मूल नाम सभा था।

सभा-सम्बन्धी वैदिक वचन—प्राचीनतम वैदिक काल में भी ग्राम एक इकाई माना जाता था। ग्रामणी अथवा ग्राम के प्रमुख का उल्लेख ऋग्वेद (10,62,11; 107,5) तथा उत्तरकालीन

---

1. **इण्डियन ऐंटिक्वेरी,** जिल्द 24, पृ० 284–285।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संहिताओं और ब्राह्मणों में बहुधा दृष्टिगोचर होता है[1] । इस ग्रन्थ के पृ० 102 में उद्धृत वचनों से यह भलीभांति स्पष्ट है कि राजाओं के निर्वाचन में उसकी भी आवाज थी । ज़िमर के अनुसार वह ग्राम-सभा का सभापति था[2], किन्तु मैक्डानल इस मत को स्वीकार नहीं करते[3] । सभा धनी और निर्धन दोनों के मिलने का स्थान थी । ऋग्वेद 8,4,9 से ज्ञात होता है कि धनी लोग अपने पूर्ण वैभव के साथ वहाँ जाते थे :

"हे इन्द्र, तेरा मित्र सुन्दर है तथा घोड़ों, रथों और गायों का धनी है। वह सदा उत्तम अन्न से सम्पन्न है; वह ऐश्वर्य के साथ सभा में जाता है" (ज़िमर, पृ० 173) ।

गायों का प्रश्न उन अत्यधिक प्रिय विषयों में से एक था जिन पर वहाँ बहुधा विचार किया जाता था । "ओ गायो··· सभा में ऊंचे स्वर से तुम्हारी श्रेष्ठता की चर्चा की जाती है" (ऋग्वेद 6, 28,6; ज़िमर, पूर्वोक्त, पृ० 173) । सभा में गम्भीर राजनीतिक वादविवाद भी होते थे और उनका विशेषज्ञ महती इच्छा का विषय था :

"जो सोम को आहुतियाँ देता है, उसे सोम··· घर (सदन्य), सभा (सभेय[4]) तथा यज्ञ के कार्यों में कुशल (विदथ्य) पुत्र

---

1. वैदिक इण्डेक्स, जिल्द 1, पृ० 247, पादटिप्पणी 26 में संकलित सन्दर्भ देखिए ।
2. Der in der Sabhā versammelten Gemeinde prāsidierte wohl der grāmaṇī (Vrājapati). वही, पृ० 172 ।
3. वैदिक इंडेक्स, पृ० 427 ।
4. प्रस्तुत सन्दर्भ से उन लोगों के मत का खण्डन होता है जो यह मानते हैं कि 'सभेय' शब्द सभा की सदस्यता की मर्यादा को सूचित करता है । निस्सन्देह यहां ऐसा पुत्र अभीष्ट नहीं है जिसमें सभा का सदस्य बनने के लिए आवश्यक गुण हों, क्योंकि यह अभिप्राय अन्य दो विषयों-घर और यज्ञ-पर किसी दशा में लागू नहीं हो सकता ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देता है (ऋग्वेद 1,91,120; ज़िमर, पूर्वोक्त, पृ० 172) ।

वाजसनेय-संहिता में दो बार दुहराया गया पश्चात्ताप-सम्बन्धी एक विलक्षण नियम (3,45; 20,17) सभा के कार्य पर मनोरंजक प्रासंगिक प्रकाश डालता है : "हम ग्राम, वन तथा सभा में किए गए अपने प्रत्येक पापकर्म का प्रायश्चित यज्ञ के द्वारा करते हैं ।" टीकाकार महीधर ने सभा में किए गए पाप-कर्म की व्याख्या 3,45 में "महाजनतिरस्करणादिकमेनः" तथा 20,17 में "पक्षपातादि यदेनः" कह कर की है । प्रथम व्याख्या निश्चित रूप से वाद-विवाद के सन्दर्भ में महापुरुषों के विरुद्ध अनुचित भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करती है, और यह स्वतः सभा के कार्य के स्वरूप का एक चिह्न है । दूसरी व्याख्या सम्भवतः सभा की न्यायिक क्षमता से सम्बद्ध है, तथा उसका आशय विवादों के निर्णय में किए गए किसी प्रकार के पक्षपात से है ।

सभा की न्यायिक शक्तियां—अन्य अभिलेखों से भी यह सिद्ध होता है कि सभा न्यायिक अधिकारों का प्रयोग करती थी । इस प्रकार ल्युडविग[1] इसका अनुमान ऋग्वेद 10,71,10 में उपलब्ध 'किल्विषस्पृत्' शब्द से करते हैं, क्योंकि इस शब्द का एकमात्र अर्थ है 'वह जो अभियोग द्वारा किसी व्यक्ति पर लगाए गए कलङ्क को दूर करता है ।' पुरुषमेध की यज्ञबलियों में 'सभाचर' का समावेश होने से भी इस निष्कर्ष का समर्थन होता है । जैसा

1. Es scheint, dasz in der sabhā auch gerichtliche Verhandlungen vorkamen; ander bareits citierten Stelle X. 71.10. Kommt der Auszdruck 'Kilvishasprit' vor, was nur entferner des (durch die anklage jemanden angehefteten) Flecken heiszen Kann.
(ऋग्वेद, अध्याय 3, पृ० 254) ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि मैक्डानेल ने लिखा है: "धर्म अथवा न्याय के लिए उसका उत्सर्ग किया गया है, अतः उसे सभा का एक सदस्य, सम्भवतः अभियोगों का निर्णय करनेवालों में से एक, न मानना कठिन है।" मैक्डानेल के मत में 'सभासद' शब्द का आशय न्यायाधीश के सहायकों से है, जो सभा में बैठ कर व्यवहार-सम्बन्धी विषयों का निर्णय करते थे। वे आगे चलकर लिखते हैं: "यह भी सम्भव है कि सभासदों से, जो सम्भवतः कुलों के प्रधान थे, साधारण जन की तुलना में सभा में प्रायः अधिक बार उपस्थित रहने की अपेक्षा की जाती थी। साधारण विवाद तथा निश्चय की अपेक्षा न्यायकार्य के लिए सभा के अधिवेशन बारंबार होते रहे होंगे।" जैसा कि मैक्डानेल का विचार है, यह भी सम्भव है कि न्यायसम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग सम्पूर्ण सभा नहीं अपितु उसकी एक स्थायी समिति करती थी।[1]

जातकों में उल्लिखित ग्राम-संगठन—एक प्रमुख के तत्वावधान में राजनीतिक इकाई के रूप में ग्राम के संगठन का उल्लेख जातक कथाओं में प्राप्त होता है। इस प्रकार खरस्सर जातक[2] से ज्ञात होता है कि कर एकत्र करना तथा स्थानीय पुरुषों की सहायता से लुटेरों के अत्याचारों से ग्राम की रक्षा करना ग्राम-भोजक का कर्तव्य था। प्रस्तुत उदाहरण में ग्रामभोजक का पद एक राजकीय मन्त्री को दिया गया था, जिसे कुछ ही समय पश्चात् राजा ने इस अपराध के लिए दण्डित किया कि वह डाकुओं की एक टोली के साथ, जिसने गाँव को लूटा था, किसी रूप में मिला हुआ था। इसी प्रकार की एक कथा इस जातक के प्रास्ताविक भाग में पाई जाती है। अन्तर केवल यही है कि यहाँ ग्रामभोजक

1. **वेदिक इंडेक्स**, जिल्द 2, पृ० 427–428।
1. **जातक**, जिल्द 1, पृ० 354।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पदच्युत कर दिया गया था तथा उसके स्थान पर एक अन्य ग्राम-भोजक नियुक्त हुआ था। कुलावक जातक[1] से ग्राम के संगठन पर और अधिक प्रकाश पड़ता है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ग्राम के पुरुष स्थानीय कार्य स्वयम् करते थे। प्रतीत होता है कि ग्रामणी को मद्य पर आर्थिक दण्ड देने तथा शुल्क वसूलने का अधिकार था। क्योंकि जब बोधिसत्व के प्रयत्नों से ग्रामीणों के चरित्र में कुछ सुधार हुआ तब ग्रामणी चिल्ला पड़ा: "जब ये लोग मद्यपान कर हत्या आदि करते थे मुझे उनसे न केवल उनके पान के मूल्य पर अपितु आर्थिक दण्ड तथा शुल्क के रूप में बहुत अधिक धन मिलता था।" बोधिसत्व और उनके अनुयायियों से छुटकारा पाने के उद्देश्य से उसने राजा के समक्ष उनपर 'लुटेरों का दल' होने का आरोप लगाया, किन्तु राजा ने उसकी दुष्टता को पहचान लिया, उसे उन मिथ्या अभियुक्त व्यक्तियों का दास बनाया तथा उन्हें उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति दे दी। इस प्रसङ्ग में राजा के द्वारा ग्राम के नये मुखिया की नियुक्ति की बात नहीं कही गई, और यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ग्रामीण अपने ग्राम से सम्बद्ध कार्यों का निश्चय स्वयम् करते थे। अतः यह पूर्णतः संभव है कि वे अपने प्रमुख का चुनाव स्वयम् करते थे। उभतोभट्ट जातक[2] में ग्रामभोजक की न्यायिक शक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है। उसने एक मछुए की पत्नी को झगड़ा उकसाने के अपराध में आर्थिक दण्ड दिया। आर्थिक दण्ड प्राप्त करने के लिए उसे बाँधा और पीटा गया।

पानीय-जातक[3] से ज्ञात होता है कि काशी राज्य के दो ग्राम-भोजकों ने क्रमशः पशुबध तथा तीक्ष्ण मद्य के विक्रय पर प्रतिबन्ध

---

1. वही, पृ० 198।
2. वही, पृ० 482।
3. जातक, जिल्द 4, पृ० 14।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लगाया । किन्तु जनता ने प्रतिवाद करते हुए कहा कि ये परम्परागत प्रथाएं हैं और अन्त में इन दोनों आदेशों को रद्द करना पड़ा। गहपति जातक[1] में हम देखते हैं कि एक दुर्भिक्ष के समय ग्रामीण एकत्र हुए तथा उन्होंने अपने मुखिया की सहायता माँगी। उसने उन्हें इस शर्त पर मांस दिया कि 'अबसे दो महीनों के पश्चात् फसल के कट जाने पर वे उसे परिवर्तन के रूप में चुका देंगे।' जातकों के इन उदाहरणों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि एक राजनीतिक इकाई के नाते ग्राम का संगठन उस काल में समाज की एक सुविदित विशेषता थी। कभी-कभी ग्रामणी सीधे राजा द्वारा नियुक्त किया जाता था, किन्तु यह प्रथा अधिक प्रचलित प्रतीत नहीं होती। प्रत्येक दशा में, जैसा कि एक जातक कथा में स्पष्ट कहा गया है, इस संस्था का सार यही था **कि ग्राम से सम्बद्ध कारबार ग्रामीण स्वतः करते थे**। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है, यद्यपि ग्रामणी के हाथ में पर्याप्त कार्य-कारिणी तथा न्यायिक शक्ति थी, किन्तु जनमत उसके निर्णयों पर एक महान् तथा सक्षम नियन्त्रण का काम करता था।

वेदोत्तर काल में स्थानीय निगम—वेदोत्तर काल में 'पूग' और 'गण' इन परिभाषिक शब्दों का व्यवहार सम्भवतः नगरों और ग्रामों के स्थानीय निगमों के लिए किया जाता था। इस प्रकार **वीरमित्रोदय** में 'गण' तथा 'पूग' शब्दों की व्याख्या क्रमशः 'गणशब्दः पूगपर्यायः' तथा 'पूगःसमूहः भिन्नजातीनाम् भिन्नवृत्तीनाम् एक-स्थानवासिनाम् ग्रामनगरादिस्थानानाम्' कह कर की गई है। याज्ञवल्क्य (2,187) की अपनी टीका में विज्ञानेश्वर भी गण शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं : 'ग्रामादिजनसमूह।' इसमें

1. जातक, जिल्द 2, पृ० 134।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सन्देह नहीं कि साधारणतः इन दोनों शब्दों का उपयोग केवल संघटनों के लिए किया जाता था, किन्तु प्रस्तुत उदाहरण में टीकाकार उन्हें ग्राम अथवा नगर के अर्थ में लेते हैं, जिससे स्पष्ट है कि कभी-कभी ये शब्द विशिष्ट प्रकार के निगमों के लिए प्रयुक्त होते थे। पाणिनि 5,3,112 पर काशिका के नानाजातीया : अनियतवृत्तयः अर्थकाम प्रधाना संघाः पूगाः इस कथन से भी पूग शब्द की इस व्याख्या का समर्थन होता है। किन्तु गण शब्द का प्रयोग अन्य पारिभाषिक अर्थ में भी होता था। इसकी चर्चा उचित स्थान पर की जाएगी।

विनय-पिटक (चुल्लवग्ग, 5,5,2; 8,4,1) में प्रयुक्त 'पूग' शब्द का आशय नगर अथवा ग्राम के संघटन से प्रतीत होता है। यहाँ कहा गया है कि उस समय संघ को भोजन देने की पारी एक विशेष पूग ('अञ्ञातरस्स पूगस्स') की थी। यह वाक्य बहुधा दृष्टिगोचर होता है और पूग शब्द को प्रोफेसर रीज डेविड्स तथा ओल्डेन-बर्ग[1] द्वारा सुझाए हुए 'सन्दिग्ध तथा अनिश्चित भीड़' की अपेक्षा उस अर्थ में लेना अधिक उपयुक्त होगा जो मैंने सुझाया है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं एक उत्तरकालीन टीकाकार ने 'पूग' को स्पष्ट रूप से नगर अथवा ग्राम-निगम के अर्थ में लिया है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना बहुत महत्वपूर्ण है कि विनय-पिटक में अन्यत्र (भिक्खुनि-पातिमोक्ख, संघादिसेस 2) स्पष्ट रूप से पूग का उल्लेख कार्यकारिणी शक्ति से सम्पन्न एक संघटन के रूप में किया गया है। उसके प्रभावक्षेत्र के अन्तर्गत किसी स्त्री चोर को भिक्षुणी बनाने के लिए उसकी अनुमति अनिवार्य थी। अतः विनयपिटक में 'पूग' शब्द को नगर अथवा ग्राम-निगम

1. सै० बु० ई०, जिल्द 20, पृ० 74, 284।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के रूप में लेना उपयुक्त है ।[1] इस प्रकार इन संस्थाओं के आस्तित्व के चिह्न हमें पूर्व-बौद्ध काल में प्राप्त होते हैं ।

अर्थशास्त्र में ग्राम-संगठन का उल्लेख—कौटिल्य ने ग्राम-संगठन का उल्लेख एक सामूहिक राजनीतिक इकाई के रूप में किया है । अर्थशास्त्र के अधिकरण 3, अध्याय 10 में वे निम्ननिर्दिष्ट नियमों का विधान करते हैं :

"जब ग्रामिक ग्राम के किसी कार्य से यात्रा करे तो ग्रामीण पारी-पारी से उसके साथ जाएँ ।

"जो लोग ऐसा न कर सकें वे प्रतियोजन $1\frac{1}{2}$ पण दें । यदि ग्रामिक चोर अथवा व्यभिचारी को छोड़ कर किसी व्यक्ति को ग्राम के बाहर भेजे तो उसे 24 पण का दण्ड दिया जाए तथा ग्राम को (इसी अपराध के लिए) उत्तम साहस दण्ड दिया जाए[2] ।"

पुनः,

"जो खेतिहर किसी ग्राम में पहुँच कर अपना काम नहीं करता उससे ग्राम स्वयम् आर्थिक दण्ड वसूल करे...

"जो व्यक्ति सार्वजनिक प्रेक्षा की तैयारी के काम में सहयोग नहीं देता वह और उसके सम्बन्धी प्रेक्षा का आनन्द लेने के अधिकार से वंचित कर दिए जाएं । यदि कोई ऐसा व्यक्ति, जिसने प्रेक्षा की तैयारी में सहयोग नहीं दिया है, छिपकर उसे सुनता अथवा देखता पाया जाए, अथवा जो व्यक्ति सार्वजनिक हित के कार्य में अपना अंश देने से इन्कार करे, उसे अपने अंश के मूल्य से दुगुना देने

---

1. **विनयपिटक**, 4,30 में एक 'नगर के अञ्ञतर पूग का उल्लेख मिलता है । इससे सूचित होता है कि कभी-कभी एक नगर में कई निगम होते थे ।
2. आर० शामशास्त्री का अनुवाद, पृ० 218–19 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए बाध्य किया जाए[1] ।"

ये निदेश ग्रामों के अशिथिल संगठन की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। ग्राम का प्रमुख ग्राम के कार्यभार का निर्वाह करता था तथा अपने उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य के पालन में वह ग्रामीणों का सहयोग प्राप्त कर सकता था। ग्रामणी तथा ग्रामीणों को अपराधियों को दण्डित करने का अधिकार प्राप्त था और वे किसी व्यक्ति को ग्राम से बहिष्कृत तक कर सकते थे। इस अधिकार के दुरुपयोग के लिए ग्रामणी तथा ग्रामीण दोनों दण्ड के भागी होते थे। इससे यह सूचित होता है कि इसका प्रयोग ग्रामीणों की एक सभा में किया जाता था, जिसका अध्यक्ष ग्रामणी होता था। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि व्यक्ति के अधिकार पूरी तरह निगम के अधिकारों के आधीन नहीं थे, किन्तु श्रेणियों के समान निगम में भी राजा को अन्तिम निरीक्षण का अधिकार प्राप्त था, जो इन दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का एक साधन माना जाता था। ग्राम का एक सार्वजनिक कोश होता था, जो अपने कर्तव्य की उपेक्षा करने वाले कृषकों और ग्रामीणों से वसूले गए अर्थदण्ड से निरन्तर बढ़ता रहता था। उसे सार्वजनिक कार्यों में प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने भाग का काम करने के लिए बाध्य करने का भी अधिकार था। निम्न-निर्दिष्ट प्रकार के नियमों से ग्रामीणों की सामूहिक भावना को प्रोत्साहन मिलता था—

"राजा को उन लोगों के प्रिय तथा हित का ध्यान रखना चाहिए जो अपने संयुक्त प्रयास से मार्ग पर सम्पूर्ण देश के लिए हितकारक भवन (सेतु) का निर्माण करते और अपने ग्रामों की शोभा बढ़ाते एवं उनकी रखवाली करते हैं[2] ।"

---

1. वही, पृ० 220 ।
2. वही, पृ० 221 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वेदोत्तरकाल में आद्योपान्त ग्राम एक संघटित राजनीतिक इकाई माना जाता रहा। इस प्रकार विष्णुस्मृति[1] और मनुस्मृति[2] में ग्राम को राज्यसंघटन की एक सबसे छोटी इकाई माना गया है तथा ग्रामिक अथवा ग्राम के मुखिया का उल्लेख किया गया है।

धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों में ग्राम-संगठन के उल्लेख—मनु स्पष्ट निर्देश करते हैं कि राजा को ऐसे व्यक्ति को राज्य से बाहर निकाल देना चाहिए जो ग्राम-समुदाय के समझौते का उल्लंघन करता हो।[3] धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों में गण और पूग के उल्लेख प्रायः मिलते हैं।[4] ये दोनों शब्द सम्भवतः नगर अथवा ग्राम-निगम के वाचक थे। वीरमित्रोदय तथा याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की टीका के उपरिलिखित उद्धरणों के अतिरिक्त कुछ और ऐसी बातें हैं जिनसे इस विचार की पुष्टि होती है। सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य (2,31) तथा नारदस्मृति (प्रस्तावना, 9,7) के बीच तुलना करने पर यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है कि पूग और गण समानार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते थे, और 'नगर अथवा ग्राम के निवासियों का निगम' ही वह एकमात्र अर्थ है जिसमें इन शब्दों का व्यवहार वहाँ सम्भव है। पुनः, जहाँ एक ओर मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पूगयाजकों और गणयाजकों को श्राद्ध

---

1. 3,7,11।
2. 7,115–116।
3. **मनु** (बूलर द्वारा सम्पादित), 8,219 तथा टिप्पणी और 8,221।
4. **गौतम**, 15,16, 18; 17,17; **आपस्तम्ब**, 1,18,16,17; **वासिष्ठ धर्मसूत्र**, 14,10; **विष्णु संहिता**, 50,1–7; 82,13; मनु, 3,151, 154, 164; 4,209; 219; **याज्ञवल्क्य**, 1,161, 361; 2,31, 190–195, 214; **नारद**, प्रस्तावना 7; **बृहस्पति**, 1,28–30।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में निमन्त्रित नहीं करना चाहिए (मनु, 3,151,154), वहाँ दूसरी ओर गौतम (15,16) तथा विष्णु (80,11–13) में इसी प्रकार का विधान ग्रामयाजकों के विरुद्ध दृष्टिगत होता है।

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में उद्धृत याज्ञवल्क्य (2,185–192) का ध्यान से अनुशीलन करने पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। यहाँ सर्वप्रथम लेखक पुर के प्रति राजकीय कर्तव्यों का वर्णन करते हुए कहता है कि राजा को वहाँ श्रेष्ठ ब्राह्मणों को बसाना चाहिए (2,185)। इसके अनन्तर गण के प्रति राजकीय कर्तव्य का उल्लेख करते हुए वह कहता है कि गण-द्रव्य का अपहरण करनेवाले को राजा दण्ड दे, इत्यादि-इत्यादि। वह अपना वक्तव्य इस कथन के साथ समाप्त करता है कि श्रेणियों तथा व्यापारियों (नैगमों) और विविध धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायियों के गणों के सम्बन्ध में भी राजा को इसी प्रकार के नियमों का अनुसरण करना चाहिए। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में गण शब्द का आशय नगरों अथवा ग्रामों के निगम से है, अन्यथा 'पुर' का उल्लेख निरर्थक व अप्रासंगिक होगा। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, टीकाकार विज्ञानेश्वर ने इस व्याख्या को स्वीकार किया है।

निम्नलिखित दो नियोगों से भी यह सिद्ध होता है कि धर्म-सूत्रों तथा धर्मशास्त्रों के युग में ग्राम एक नैगमिक संगठन माना जाता था :

(1) "राजा ऐसे ग्राम को दण्ड देगा जहाँ वेदों से अनभिज्ञ ब्राह्मण अपने धर्म का पालन कर भिक्षा से आजीविका चलाते हैं, क्योंकि वह ग्राम वस्तुतः लुटेरों का पोषण करता है (वसिष्ठ, 3,4; सें० बु० ई०, जिल्द 14, पृ० 17)।

(2) "गायों अथवा अन्य पशुओं के खो जाने पर अथवा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य सम्पत्ति के बलात् अपहरण कर लिए जाने पर अनुभवी पुरुष घटनास्थल पर जाकर उनका पता लगाएँगे ।

"जहाँ भी कहीं पदचिह्न पहुंचें, चाहे वह ग्राम हो चाहे चरागाह हो और चाहे परित्यक्त स्थल हो, उस स्थान के निवासी अथवा स्वामी क्षतिपूर्ति करेंगे ।

"जब पदचिह्नों को छिपाया जाए अथवा उनके साथ छेड़खानी की जाए, तो इसके लिए निकटतम ग्राम अथवा चरागाह उत्तरदायी माना जाएगा" (नारद, 14,22–24)' ।

इन दोनों दृष्टान्तों में ग्राम अथवा ग्रामवासी उत्तरदायी ठहराए गए हैं । किन्तु इन उत्तरदायित्वों का प्रश्न ही नहीं उठता, यदि इनके अनुरूप अधिकार ग्रामीणों को प्राप्त न होते । इस सन्दर्भ में यह वस्तुतः उल्लेखनीय है कि किसी अधिकारी अथवा अधिकारियों की चर्चा न कर समस्त दायित्व ग्राम का ही माना गया है । अतः यह मानना उचित होगा कि ग्राम राज्य की एक सामुदायिक इकाई समझा जाता था, जिसके अपने विशिष्ट अधिकार और कर्तव्य थे, और जिनके समुचित निर्वाह के लिए वह एक उच्चतर शक्ति के प्रति उत्तरदायी था ।

प्राचीन अभिलेखों में ग्राम-निगमों के उल्लेख––स्वायत्त शासन की इन स्थानीय संस्थाओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में साहित्यिक साक्ष्य की पुष्टि पुरातत्व की सामग्री से भी होती है । काल की दृष्टि से प्राचीनतम इलाहाबाद के निकट भीटा से प्राप्त एक मृण्मुद्रा है, जिस पर ई०पू०तृतीय अथवा चतुर्थ शताब्दी के अक्षरों में '**सहिजितिये निगमस**' लेख उत्कीर्ण है । यह मुद्रा मौर्यकाल के एक भवन में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त हुई है जहाँ सर जान मार्शल के अनुसार सम्भवतः सहिजिति के नगर निगम का कार्यालय था[1]।

भट्टिप्रोलु से प्राप्त पात्र पर उत्कीर्ण ई० पू० तृतीय शती के आस-पास के लेखों[2] में न केवल एक ग्रामणी का उल्लेख है, अपितु एक नगरनिगम के सदस्यों के नाम भी दिए गए हैं। वर्ष 4 और 84 के मथुरा-जैन अभिलेख[3] तथा अन्य प्राचीन लेखों में भी ग्राम के प्रमुख का उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रथम लेख में एक स्त्री का उल्लेख है जो ग्रामणी तथा उस की प्रथम पत्नी की पुत्रवधू थी। इससे सम्भवतः यह सूचित होता है कि ग्रामणी का पद उस कुल में पैतृक था।

उषवदात के नासिक अभिलेख में एक निगम-सभा अथवा नगर-परिषद् का उल्लेख है, जहाँ प्रथा के अनुसार उसके दान के कृत्य की घोषणा तथा उसका पञ्जीकरण किया गया था[4]। इसी स्थान से प्राप्त एक अन्य अभिलेख में नासिक के निवासियों द्वारा एक ग्राम के दान

---

1. **आर्किआलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया,** एनुअल रिपोर्ट, 1911–12, पृ० 31।
2. एपि० इण्डिका, जिल्द 2, पृ० 328। बूलर ने इस अभिलेख के नेगमा शब्द को श्रेणि के सदस्यों के अर्थ में लिया है। किन्तु जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं. **निगम** शब्द को वस्तुतः नगर के अर्थ में लिया जाना चाहिए। प्रो० भण्डारकर का निश्चित मत है कि नेगमा सम्भवतः संस्कृत **नैगमाः** (नागरिकों की इस प्रकार की सामुदायिक संस्था जिसका उल्लेख याज्ञवल्क्य और नारद स्मृतियों में दृष्टिगत होता है) के लिए इष्ट है।
3. **ल्यूडर्स लिस्ट,** सं० 48 और 69 ए।
4. एपि०, इण्डिका, जिल्द 8, पृ० 82।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में दिए जाने का निर्देश है[1]। इसी प्रकार साँची के स्तूप सं० २ की वेदिका पर उत्कीर्ण एक लेख पांडुकुलिका नामक ग्राम के एक दान का उल्लेख करता है,[2] जब कि अमरावती स्तूप के एक लेख में धञ्ञकटक-निगम के दान की चर्चा मिलती है[3]। ये अभिलेख निस्सन्देह सम्पूर्ण नगर के सामूहिक संगठन का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

भीटा से प्राप्त पकी मिट्टी की चार मुद्राओं पर कुषाण-कालीन लिपि में **'निगमस'** शब्द उत्कीर्ण है जब कि पाँचवीं मुद्रा पर गुप्त लिपि में **'निगमस्य'** शब्द पाया जाता है[4]। इनसे ईस्वी सन् की प्रथम चार अथवा पाँच शताब्दियों में नगर निगम का अस्तित्व सिद्ध होता है। वैशाली से उपलब्ध मृण्मुद्राओं से, जिनकी चर्चा ऊपर पृ० 43 पर की जा चुकी है, इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है।

चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य प्रथम के एक सामन्त ने, जो नासिक प्रदेश में शासन करता था, कुछ त्यक्त भू-भाग को पुनः बसाया। फिर उसे अपना एक आदेश जारी कर समगिरि की 'नगर-सभा को सौंप दिया। उस आदेश के अन्तर्गत निम्नलिखित विशेषाधिकार दिए गए :

"समगिरि में रहने वाले व्यापारी सदैव के लिए राज्य भर में चुंगी-कर देने से मुक्त रहेंगे। पुरुष उत्तराधिकारी के न होने पर

---

1. **ल्यूडर्स लिस्ट**, सं० 1142। एम० सेना की अपेक्षा मैं पण्डित भगवान-लाल इन्द्रजी और प्रो० देवदत्त भंडारकर की व्याख्या स्वीकार करता हूँ। तुलनीय कारमाइकेल लेक्चर्स, जिल्द 1, पृ० 177, पादटिप्पणी 1।
2. **एपि० इण्डि०**, जिल्द 2, पृ० 110, सं० 1।
3. **एपि० इण्डि०**, जिल्द 15, पृ० 263।
4. **आर्किऑलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट**, 1911–12, पृ० 56।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी उनकी सम्पत्ति राज्य द्वारा नहीं ले ली जाएगी······और उन्हें राजकीय अधिकारियों के लिए निवास अथवा सुविधाओं की व्यवस्था नहीं करनी पड़ेगी (नगर-सभा को यह अधिकार भी दिया जाता है कि वह) निम्नलिखित जुर्माने वसूल करे :

"किसी कुमारी का शीलभंग करने पर 108 रुपए; व्यभिचार करने पर 32 रुपये; कान काटने पर 16 रुपये; सिर को घायल करने पर 4 रुपये; यदि किसी व्यापारी का लड़का किसी मजदूरनी से अनैतिक संबंध रखते हुए पाया जाए तो उस पर 108 रुपये; और यदि कोई वस्तुतः व्यभिचार करते हुए पकड़ा जाए तो उसके लिए नगर-सभा के आठ अथवा सोलह वरिष्ठ जन जो निर्णय दें वही अंतिम माना जाएगा[1] ।"

ग्वालियर के वैल्लभट्टस्वामी मान्दिर के विक्रम संवत् 933 के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जब वणिज सव्वियाक, व्यापारी इच्छुवाक तथा सव्वियाकों के अधिकरण के अन्य सदस्य नगर का प्रशासन कर रहे थे तब सम्पूर्ण नगर ने नौ दुर्गाओं के मन्दिर को भूमि का एक खण्ड दिया जो उसकी (नगर की) अपनी सम्पत्ति थी[2] । इसी प्रकार उसने नगर की सम्पत्ति में से भूमि का एक और टुकड़ा विष्णु मन्दिर को दिया और साथ ही मन्दिर की तेल और माला सम्बन्धी दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने तैलिकों और मालाकारों की श्रेणियों को स्थायी प्राभूत दिया । इस संक्षिप्त लेख में एक ऐसे नगर-निगम की प्रामाणिक साक्षी सुरक्षित है जिसके कारबार को चलाने के लिए उसका अपना संगठन था । निगम की अपनी भूमिगत सम्पत्ति थी और वह सम्पूर्ण नगर के नाम से दान अथवा प्राभूत दे सकता था । दसवीं शती के मध्य में एक नगर-निगम

1. एपि० इण्डि०, 25, पृष्ठ 237–38 ।
2. एपि० इण्डि०, जिल्द 1, पृ० 161 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की इस प्रकार की गतिविधियों का उल्लेख सियाडोनी-अभिलेख में पाया जाता है, जिससे सम्भवतः यह सूचित होता है कि "पाँच व्यक्तियों की पञ्चकुल नामक सभा तथा समय-समय पर नगर द्वारा नियुक्त दो व्यक्तियों की एक समिति नगर का कार्यभार चलाती थी[1]।" इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि नगर-निगम प्राचीन भारत में अत्यन्त परवर्ती काल तक विद्यमान थे।

§ ६

ग्राम अथवा नगर के सामूहिक संगठन का अध्ययन निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है : (1) उसकी शक्तियाँ तथा कार्य तथा (2) प्रशासन-सम्बन्धी संस्था जो उनको कार्यान्वित करती थी।

ग्राम निगम के अधिकार और न्यायिक कार्य—वैदिक काल के सदृश ग्राम निगम के अधिकार और कर्तव्य मोटे तौर पर दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं : शासन सम्बन्धी और न्यायिक। जातक कथाओं में ग्रामभोजक की न्यायिक शक्तियों का उल्लेख है, परंतु इन कथाओं में यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है कि वह उन शक्तियों का प्रयोग ग्रामीणों के सहयोग से करता था। किन्तु कुलावक जातक (देखिए पृ० 131) से प्रतीत होता है कि कम से कम कुछ ग्रामों के सम्बन्ध में यह बात लागू होती थी। इस कथा में ग्रामभोजक बोधिसत्व द्वारा मद्यपों का चरित्र सुधार दिए जाने पर उनसे प्राप्त होने वाले अर्थदण्ड के क्षय पर दुःख व्यक्त करता है। इस दृष्टान्त में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ग्रामवासी स्वयम् अपने ग्राम के कार्यभार का प्रबन्ध करते थे। अतः यह मानना न्यायसंगत होगा कि न्यायकारी

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 1, पृ० 167 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकार, जिनका स्पष्ट उल्लेख किया गया है, इस कारबार के अंग थे। ऊपर उद्धृत अन्य दृष्टान्तों में कथालेखक केवल ग्रामभोजक द्वारा अपराधियों को दण्ड दिए जाने की चर्चा करते हैं। किन्तु इसका निश्चित आशय यह नहीं है कि एकाकी ग्रामभोजक को ही अभियोगों के निर्णय का अधिकार प्राप्त था, क्योंकि कथालेखकों का उद्देश्य अपराधियों को दिए गए दण्ड की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना मात्र था। इस निर्णय को देनेवाले न्यायाधिकरण के संविधान का स्पष्टीकरण देने के लिए रुकना उनके लिए आवश्यक नहीं था।

कुलावक जातक से यह भी सिद्ध होता है कि अपेक्षाकृत गम्भीर विवाद निर्णय के लिए राजसभा में भेज दिए जाते थे। इस कथा में ग्राम-भोजक ने लुटेरों के गिरोह की जाँच नहीं की। कथाक्रम से सूचित होता है कि यदि उसे अधिकार होता तो वह इस कार्य को अवश्य करता। किन्तु अभियुक्त परीक्षा के लिए राजा के पास भेज दिए गए। इस प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि उत्तरकालीन धर्मशास्त्र जहाँ एक ओर सहवासियों की सभाओं के द्वारा मनुष्यों के बीच पैदा होने वाले कानूनी विवादों के निर्णय की व्यवस्था करते हैं वहाँ दूसरी ओर साहस-सम्बन्धी विवादों को वे स्पष्ट रूप से उनके अधिकार-क्षेत्र से अलग रखते हैं।

जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, कौटिल्य भी ग्रामिक द्वारा ग्रामवासियों के सहयोग से प्रयुक्त न्यायकारी अधिकारों का उल्लेख करते हैं। वे लोग अपने कार्य की उपेक्षा करनेवाले कृषक को अर्थदण्ड दे सकते थे और किसी चोर अथवा व्यभिचारी को ग्राम की सीमा के बाहर निकाल सकते थे[1]। यहाँ ग्रामवासियों के सामूहिक चरित्र के विकास की दिशा में एक अगला कदम दिखाई देता है।

1. अर्थशास्त्र, पृ० 17।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्हें स्पष्ट रूप से कुछ संयुक्त अधिकार और दायित्व सौंपे गए हैं तथा उनके अधिकार के दुरुपयोग के लिए राजा उन्हें दण्ड दे सकता था।

धर्मशास्त्रों के काल में ग्रामों के सामूहिक संगठन ने अपने अधिकारों को बनाए रखा। हम ऊपर देख चुके हैं कि अन्य स्मृतियों के साथ-साथ मनु और विष्णु स्मृतियों में भी ग्रामिक की न्यायिक शक्तियों का उल्लेख है। किन्तु इस ग्रन्थ में ऊपर उद्धृत बृहस्पति स्मृति (1,28-30) में ग्रामवासियों द्वारा प्रयुक्त न्यायिक शक्तियों का सन्तोषजनक विवरण उपलब्ध होता है।

इनसे यह प्रतीत होता है कि ग्रामसभाएँ देश के चार मान्यताप्राप्त न्यायालयों में से एक थीं। महत्व की दृष्टि से उनका दूसरा स्थान था और वे शिल्पियों की श्रेणियों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनती थीं। यह भी सूचित होता है कि साहस को छोड़ कर वे अन्य सभी प्रकार के अभियोगों की सुनवाई कर सकती थीं। नारद-स्मृति से उद्धृत निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में धर्मशास्त्रों ने जनता को न्यायसभा के सदस्य होने के नाते उनके गम्भीर उत्तरदायित्वों को समझाने का भरसक प्रयत्न किया :

"या तो सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिए या सत्य बोलना चाहिए। जो व्यक्ति मौन रहता है अथवा असत्य बात कहता है वह पापी है।

"पाप का चतुर्थांश साक्षी को लगता है, चतुर्थांश सब सभासदों को लगता है और चतुर्थांश राजा को।

"अतः सभा में प्रवेश करने पर प्रत्येक सभासद को राग-द्वेष का त्याग करके सत्य बोलना चाहिए जिससे वह नरक से बच सके।" (सै० बु० ई०, जिल्द 33, पृ० 38–39)

नारद स्मृति के निम्नलिखित वचनों से यह भी सिद्ध होता है कि न्यायसभा में वृद्धों का महत्वपूर्ण स्थान था और प्राड्विवाक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(प्रधान न्यायाधीश) सभा की अध्यक्षता करता था :

"जिस प्रकार एक अनुभवी शल्य-चिकित्सक अपने औजारों की सहायता से शंकु को निकाल बाहर करता है, उसी प्रकार प्राड्-विवाक को विवाद से (अधर्म का) शंकु निकाल फेंकना चाहिए।

"जब सभा के सब सभासद् एकमत से यह घोषणा करते हैं कि अमुक बात ठीक है" तो विवाद का काँटा दूर हो जाता है, अन्यथा उसमें काँटा बना रहता है।

"वह सभा नहीं है जहाँ वृद्ध न हों। वे वृद्ध नहीं हैं जो सत्य नही बोलते……" (वही, पृ० 39–40)।

ऊपर उद्धृत द्वितीय वचन का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। इससे सम्भवतः यह सूचित होता है कि अभियुक्त के अपराध को सिद्ध करने के लिए सभासदों का एकमत आवश्यक था।

ग्रामसभा की न्यायिक शक्तियों के सम्बन्ध में दक्षिण भारतीय लेखों का साक्ष्य—दसवीं और बारहवीं शताब्दियों के कुछ दक्षिण भारतीय लेखों में स्थानीय लोकप्रिय सभाओं की न्यायिक शक्तियों को स्पष्ट करने वाले कुछ वास्तविक दृष्टान्त पाए जाते हैं। उनमें से कुछ का साराँश नीचे दिया जा रहा है[1]।

1. ग्राम के एक अधिकारी (?) ने एक स्त्री से कुछ करों की माँग की। स्त्री ने कहा कि कर का दायित्व उस पर नहीं था। अधिकारी ने सम्भवतः उसकी कठोर परीक्षा ली। स्त्री विष खा कर मर गई। "चार दिशाओं, अठारह विषयों तथा विभिन्न देशों से" एक सभा में एकत्र होकर लोगों ने निश्चय किया कि अधिकारी उसकी मृत्यु के लिए उत्तरदायी था। अपने पाप का प्रायश्चित्त

1. सं० 1—3 का सारांश गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की **रिपोर्ट**, 1907, परिच्छेद 42 (पृ० 77) से लिया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने के लिए उसने एक मन्दिर में एक दीपक जलाने के लिए 32 काशु दिए ।

2. एक शूद्र शिकार कर रहा था । उसका निशाना चूक गया और उसने एक वेल्लाल को मार डाला । "उन्नासी विषयों के किसानों" ने एकत्रित होकर शूद्र को अपराधी घोषित किया । उसे 64 गायें एक मन्दिर को दान में देनी पड़ीं ।

3. यह लेख खण्डित है । किन्तु अवशिष्ट भाग से प्रतीत होता है कि एक पुरुष ने अपनी पत्नी को धक्का दे दिया । सम्भवतः वह गिर पड़ी और उसकी मृत्यु हो गई । "चारों दिशाओं के…1500 लोगों" ने एकत्रित होकर पति को अपराधी ठहराया । उसे एक मन्दिर में दीपकों की व्यवस्था करनी पड़ी ।

4. राजकेसरि वर्मा के राजत्वकाल के एक लेख से ज्ञात होता है कि एक पुरुष ने अपने ही ग्राम के अन्य पुरुष को गलती से मार डाला । इस पर वह ग्राम जिस विषय का भाग था उस विषय के शासक और प्रजा ने एकत्रित होकर निर्णय किया कि अपराधी को असावधानी से किए अपराध के लिए मृत्युदण्ड न दिया जाए और वह केवल एक स्थानीय मन्दिर में एक दीपक जलते रहने की व्यवस्था करे । तदनुसार उसने 16 गायें दीं, जिनके दूध से दीपक जलाने के लिए घी तैयार किया जाने को था[1] ।

5. एक अन्य लेख[2] के अनुसार अपराधी शिकार के लिए गया था । उसका लक्ष्य चूक गया और गलती से एक पुरुष पर शस्त्र जा लगा । उस प्रदेश के लोगों ने तत्काल एकत्र होकर निर्णय किया कि अपराधी स्थानीय मन्दिर को सोलह गायें दे ।

प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने ऐसे अभियोगों के निर्णय के लिए

1. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1900, पृ० 11, परिच्छेद २६ ।
2. वही, 1900, सं० 77 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विशेष न्याय सभाओं की भी व्यवस्था की जिनके लिए कोई नियम विहित नहीं था। गौतम के अनुसार इस प्रकार की सभा में कम से कम दस निम्नलिखित सदस्य होने चाहिए—चार वेदों में पूर्णतः निष्णात चार पुरुष, प्रथम तीन आश्रमों के तीन प्रतिनिधि तथा तीन विभिन्न धर्मशास्त्रों के तीन विद्वान् (गौतम, 28,48-49)।

एक फौजदारी अभियोग का निर्णय एक विशेष न्यायसभा को सौंपने का वास्तविक उदाहरण एक दक्षिण भारतीय अभिलेख में पाया जाता है।[1] हरिण के आखेट के समय एक व्यक्ति गलती से मार डाला गया। अपराधी के लिए प्रायश्चित्त का विधान करने के लिए ओलक्कूर की ग्रामसभा के ब्राह्मण सदस्य और मुख्य विभाग तथा उप-विषय के निवासी एकत्रित हुए। उन्होंने यह निर्णय किया कि अपराधी एक मन्दिर के लिए दीपक की व्यवस्था करे।

अरगलूर मन्दिर में पूजा के अधिकार से सम्बद्ध विवाद इसका एक और उदाहरण है। न्यायाधीश ने जटिल प्रश्नों को कई अग्रहारों के महाजनों को सौंप दिया और अन्त में उनके निर्णय का अनुमोदन किया[2]।

इस सन्दर्भ में अभिलेखों में उपलब्ध 'पञ्च-मण्डली', 'पाञ्चाली' तथा 'पाञ्चालिक' जैसे शब्दों का उल्लेख करना उपयोगी होगा। फ्लीट के मत में ये वर्तमान पंचायत के समान हैं जिसमें पाँच या अधिक सदस्य होते हैं और जिसका अधिवेशन मध्यस्थता द्वारा किसी विवाद का निर्णय करने के लिए तथा किसी महत्वपूर्ण कार्य को देखने और उसका अनुमोदन करने के लिए बुलाया जाता है।[3]

---

1. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1910, पृ० 95, परिच्छेद 30।
2. वही, 1914, पृ० 696-97।
3. फ्लीट, गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० 32, पादटिप्पणी 5।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) **कार्यकारिणी शक्तियां**––ग्रामवासियों द्वारा प्रयुक्त कार्यकारिणी शक्ति में आजकल के कलेक्टर, मजिस्ट्रेट और नगरपालिका के अधिकारों का समावेश था। इस ग्रन्थ के पृ० 130 पर उद्धृत खरस्सर जातक से ज्ञात होता है कि ग्रामभोजक से राजा की ओर से कर वसूल करने तथा स्थानीय लोगों की सहायता से आसपास के प्रदेश में शक्ति बनाए रखने की अपेक्षा की जाती थी। कुलावक जातक से हमें ज्ञात होता है कि ग्रामभोजक के होते हुए भी ग्रामवासी अपने ग्राम के कारबार की देखभाल स्वयम् करते थे। अतः हमें यह मानना चाहिए कि ये अधिकार वस्तुतः उन्हें प्राप्त थे, यद्यपि इनका प्रयोग वे ग्रामभोजक के माध्यम से करते थे। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि ये दोनों कार्य ग्राम समुदायों के अस्तित्व के अन्तिम दिनों तक उनके अनिवार्य तत्व बने रहे। धर्मशास्त्र स्पष्ट रूप से सूचित करते है कि उक्त कर्तव्यों के अतिरिक्त[1] प्राचीन ग्राम संगठन नगरपालिका के अधिकारों का प्रयोग भी करते थे। उदाहरणार्थ, बृहस्पति-स्मृति में ग्राम-निगम के कर्तव्यों में से निम्नलिखित का विधान दृष्टिगत होता है––'सभा-भवन, यात्रियों के ठहरने का स्थान, प्याऊ, मन्दिर,[2] तालाब और उद्यान का निर्माण, असहाय अथवा निर्धन व्यक्तियों को शास्त्रविहित संस्कारों अथवा यज्ञीय कार्यों के अनुष्ठान में सहायता करना, जलाशयों और कुओं को खुदवाना तथा जल-प्रवाह को बाँधना[3]।'

इन कार्यों पर होने वाले व्यय की व्यवस्था सम्भवतः सामूहिक

1. तुलनीय ऊपर पृ० 136–37 पर उद्धृत नारद 14,22-24। वसिष्ठ, 3,6 इत्यादि और **मनु**, 7,115 प्रभृति से भी मिलान कीजिए,
2. तुलनीय ऊपर पृ० 140-41 पर वर्णित ग्वालियर अभिलेख।
3. ऊपर श्रेणियों के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोश से की जाती थी। ऊपर उद्धृत अनेक जातक कथाओं तथा कौटिल्य के वक्तव्यों से यह सिद्ध होता है कि नगर और ग्राम अपने निवासियों से अर्थदण्ड तथा शुल्क वसूल कर सकते थे, जब कि ग्वालियर अभिलेख (पृ० 140-1) से ज्ञात होता है कि उनकी अपनी सामूहिक सम्पत्ति भी होती थी।

ग्राम-निगमों का शासनतन्त्र—अब हम ग्राम-निगमों के शासन-तन्त्र के विषय में विचार करेंगे जो इन कर्तव्यों को पूरा करता था। निगम का सर्वोच्च अधिकारी उसका अध्यक्ष था, जिसे अभिलेखों में ग्रामाधिप, ग्रामणी, ग्रामकूट, ग्रामपति तथा पट्टकिल इत्यादि विविध नामों से और जातकों में ग्रामभोजक नाम से सम्बोधित किया गया है। कभी-कभी वह राजा द्वारा मनोनीत किया जाता था, यद्यपि अनेक दृष्टान्तों में यह पद आनुवंशिक था। दो, तीन अथवा पाँच व्यक्तियों की एक परिषद् उसकी सहायता करती थी। नारद (अध्याय 10) और बृहस्पति (अध्याय 17)-स्मृतियों में इस संस्था की वैधानिक शक्ति का विवरण कुछ विस्तार से दिया गया है। ऊपर श्रेणियों के सम्बन्ध में इस वैधानिक शक्ति का वर्णन किया जा चुका है और यहाँ उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं। वहाँ जो कुछ कहा गया है वह कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ ग्राम सभा पर भी लागू होता है। यहाँ यह कहना पर्याप्त होगा कि यद्यपि ग्रामणी और उसकी परिषद् को महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे तथापि अन्तिम रूप से वे जनता के प्रति उत्तरदायी थे जो अपने सामूहिक कर्तव्यों के निर्वाह के लिए सभा-भवन में नियमित रूप से एकत्रित होती थी। उसे अपने उपनियम बनाने और सदस्यों की उपस्थिति के सम्बन्ध में नियम निश्चित करने का अधिकार था। सभा में नियमित वाद-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विवाद होते थे तथा भाषण की स्वतन्त्रता का विचार सम्भवतः अज्ञात नहीं था।

मेगस्थनीज के विवरण से इन निगमों के शासन-तन्त्र की कार्यप्रणाली पर अत्यन्त मनोरंजक पार्श्वप्रकाश पड़ता है। पाटलिपुत्र के प्रशासन का उसका सुप्रसिद्ध विवरण अन्य स्थानीय निगमों पर भी लागू माना जा सकता है। इस सम्पूर्ण पद्धति का सार यह है कि एक साधारण सभा तथा उसकी अनेक छोटी-छोटी समितियाँ, जिनमें से प्रत्येक को एक विशिष्ट विभाग सौंपा गया था, नगर के स्वायत्त शासन का प्रबन्ध करती थीं। भट्टिप्रोलु करण्डक लेख (पृ० 138) से जिसमें नगरनिवासियों की एक समिति (गोष्ठी) का उल्लेख है मेगस्थनीज के विवरण का समर्थन होता है। अनेक दक्षिण भारतीय अभिलेखों से सिद्ध होता है कि यह पद्धति प्राचीन भारतीय इतिहास के अन्तिम काल तक प्रचलित रही।

§ ७

दक्षिण भारत में ग्रामनिगम——वस्तुतः ग्रामसभाओं के सबसे अधिक मनोरंजक उदाहरण दक्षिण भारत में उपलब्ध होते हैं। वहुसंख्यक अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि उनका संगठन अत्यधिक विकसित था और वे प्राचीन काल से राज्यतन्त्र का एक अत्यन्त अनिवार्य अंग मानी जाती थीं। इस प्रकार 'साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स', जिल्द ३, खण्ड १ (पृ० 1–22) में प्रकाशित उक्कल के विष्णु-मन्दिर में उत्कीर्ण चौदह अभिलेख उनकी प्रकृति तथा संविधान के सम्बन्ध में अत्यन्त उपयोगी जानकारी देते हैं। उनमें से प्रत्येक के महत्वपूर्ण अंशों के संक्षिप्त सारांश से आरम्भ करना अच्छा रहेगा :

1. ग्रामसभा ने एक अन्य ग्राम का शासन करने वाले प्रशासक (कमिश्नर) से स्वर्ण की एक राशि धरोहर के रूप में इस शर्त पर प्राप्त की कि उसके ब्याज से वह 12 ब्राह्मणों को भोजन कराएगी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रौर अन्य कार्य करेंगी (पृ० 3) ।

2. एक व्यक्ति ने भूमि का एक टुकड़ा महासभा को इस शर्त पर दिया कि उसकी उपज का उपयोग देवता को धान की एक निश्चित राशि देने के लिए किया जाए । अभिलेख निम्नलिखित वाक्य के साथ समाप्त होता है—

'सभा में उपस्थित होकर तथा (उनकी) आज्ञा सुनकर, मैंने जो मध्यस्थ (अमुक अमुक) हूँ, (यह) लिखा' (पृ० 3) ।

3. एक व्यक्ति ने सभा से भूमि का एक टुकड़ा खरीद कर उसे एक पुष्प-वाटिका की व्यवस्था के लिए ग्रामीणों को दिया (पृ० 6) ।

4. एक भूमिखण्ड प्राप्त करने पर सभा ने दाता द्वारा जनसाधारण को जल देने के लिए निर्मित एक जलकुण्ड के काम में लगे हुए विविध व्यक्तियों को धान देने का काम अपने हाथों में लिया (पृ० 7)।

5. सभा ने अपने पास धरोहर के रूप में जमा की गई धान की एक राशि के ब्याज के रूप में प्रतिवर्ष धान की एक राशि देना स्वीकार किया । 'वर्ष के लिए चुने हुए महान् पुरुष (पेरुमक्कल)' धान की राशि दिलाने का प्रबन्ध करेंगे (पृ० 6) ।

6. इस अभिलेख में सभा के एक अधिवेशन का उल्लेख है जिसमें दानकार्यों के (प्रबन्ध के) लिए चुने हुए महाजन (?) और ग्राम के 'सत्तन के (मन्दिर के) प्रबन्ध-अधिकारी' उपस्थित थे । सम्भवतः सभा ने एक मन्दिर के लिए चावल और तेल की दैनिक राशि निश्चित की । अन्त में कहा गया है 'कि जलाशय के (निरीक्षण के) लिए चुने हुए महाजनों' को जलाशय के कोष के लिए इस ग्राम के उन पान बेचने वालों से स्वर्ण की एक कलञ्जु अर्थ दण्ड के रूप में वसूल करने का अधिकार है जो पिडारि के मन्दिर को छोड़ कर अन्य स्थानों में (पान) बेचते हैं (पृ० 11) ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

7. इस अभिलेख के खण्डित होने के कारण आशय पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। यह 'एक भूखण्ड का उल्लेख करता है जो सभा की सामुदायिक सम्पत्ति है'। यह सभा द्वारा कुछ शर्तों पर उसके विक्रय का विज्ञप्ति पत्र है। 'उस वर्ष के लिए चुने हुए महाजन' अर्थदण्ड के भागी होते यदि वे कुछ निश्चित कार्य न करते जिनका स्वरूप ज्ञात नहीं है (पृ० 12)।

8. सभा ने एक धान्य-राशि का दान उसके ब्याज से प्रति दिन दो ब्राह्मणों को भोजन कराने की शर्त पर स्वीकार किया (पृ० 13)।

9. यह एक राजाज्ञा है जिसके द्वारा ग्राम को उस भूमि के बेचने का अधिकार दिया गया है जो पूरे दो वर्षों तक कर न चुकाए जाने के कारण ग्राम की सम्पत्ति बन गई है (पृ० 15)।

10. इस लेख में ग्रामसभा द्वारा एक राजपुरुष को एक भूखण्ड, जो ग्राम की सामुदायिक सम्पत्ति थी, और पाँच जलकुण्डों के विक्रय का उल्लेख है। राजपुरुष ने यह भूमि ग्राम के तालाब में चलने वाली दो नावों की व्यवस्था के लिए दी (पृ० 16)।

11. महासभा ने, जिसमें 'वर्ष के लिए चुने हुए महाजन' तथा 'तालाब (के प्रबन्ध) के लिए निर्वाचित महाजन' सम्मिलित थे, एकत्रित होकर मन्दिर के प्रबन्धक की प्रार्थना पर नयी साफ की हुई भूमि का एक टुकड़ा मन्दिर से सम्बद्ध विविध निर्दिष्ट प्रयोजनों के लिए दिया (पृ० 18)।

12. ग्रामसभा एक मन्दिर को उसकी पूजा-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पुष्पवाटिका सहित एक ग्राम दान में देती है। दान की शर्तों में निम्ननिर्दिष्ट बातों का समावेश है:

"हमें ग्राम से किसी प्रकार का कर वसूलने का अधिकार नहीं होगा। वर्ष के लिए निर्वाचित हम (महाजन) तालाब के (निरीक्षण के) लिए निर्वाचित हम (महाजन) तथा उद्यानों के (प्रबन्ध के)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिए निर्वाचित हम (महाजन) सभा की आज्ञा से ग्रामवासियों से बेगार (विष्टि) लेने के अधिकारी नहीं होंगे।

"(यदि) कोई अपराध (अथवा) पाप प्रकाश में आए तो भगवान् (मन्दिर के अधिकारी) ही (इसके लिए) नगरवासियों को दण्ड देंगे। (इस प्रकार) एकमत होकर हमने, सभा ने, (यह बात) शिला पर उत्कीर्ण की।

"उदासीनता के कारण इस निश्चय का पालन न कर सकने पर हम सभा के सदस्य एक सौ आठ कानम् प्रतिदिन दण्ड के रूप में देना स्वीकार करते हैं (पृ० 20)।"

13. यह लेख अपूर्ण है। अवशिष्ट भाग में महासभा के एक अधिवेशन की चर्चा है जिसमें वर्ष के लिए निर्वाचित महाजन, तालाब के (निरीक्षण) के लिए निर्वाचित महाभट्ट तथा (अन्य सब) सम्मान्य पुरुष सम्मिलित थे (पृ० 21)।

14. ग्राम के एक कृषक के पुत्र ने पड़ोस में भूमि का एक टुकड़ा दिया। उससे होने वाली आय से एक मण्डप के लिए, जहाँ ब्राह्मण बहुधा आया करते थे, जल तथा अग्निपात्र की व्यवस्था करनी और मण्डप में पानी के हौज के सामने एक जलकुण्ड का निर्माण करना था।

प्रत्येक वर्ष ग्राम का कारबार चलाने वाले महाजन इस दान की देखभाल करेंगे (पृ० 21)।

उक्त चौदह अभिलेख, जिनमें ९वीं, १०वीं और ११वीं शताब्दियों में एक ग्राम की सभा की आज्ञाओं का उल्लेख है, इन संस्थाओं के संगठन और महत्व का सर्वोत्तम प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

इन ग्राम-निगमों के सम्बन्ध में कुछ और उपयोगी जानकारी अन्य अभिलेखों से प्राप्त की जा सकती है। ये लेख विभिन्न कालों और विभिन्न स्थानों के हैं। अतः उनसे उपलब्ध सामग्री के आधार पर एक क्रमबद्ध चित्र प्रस्तुत करना पूर्णतः उपयुक्त न होगा। तथापि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन लेखों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करने पर हम दक्षिण भारत की इन ग्राम संस्थाओं की अनिवार्य विशेषताओं के सम्बन्ध में साधारण जानकारी प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं ।

साधारण सभा, उसका संगठन और महत्व—जैसा कि उक्कल अभिलेखों से स्पष्ट है, सभा अथवा महासभा इन ग्राम-निगमों की सबसे बड़ी विशेषता थी। ग्राम से सम्बन्धित सब विषयों में वह सर्वोच्च अधिकार का प्रयोग करती थी और दक्षिण भारतीय अभिलेखों में उसकी चर्चा प्रायः मिलती है । इन लेखों का ध्यान से अध्ययन करने पर जान पड़ता है कि इस संस्था का संगठन विभिन्न स्थानों और सम्भवतः विभिन्न कालों में भिन्न प्रकार का था । तिरुमुक्कुदल मन्दिर के एक अभिलेख के अनुसार स्थानीय सभा में ग्राम के युवकों और वृद्धों का समावेश था[1] । इससे यह जान पड़ता है कि वह केवल ग्राम के पुरुषों का समूह था । किन्तु अनेक अभिलेखों में सभा तथा ग्रामवासियों के बीच स्पष्ट भेद किया गया है, और कुछ चोल अभिलेखों[2] के अनुसार ग्रामसभा में कई समितियों का, जिनके सदस्य विद्वान् ब्राह्मण तथा ग्राम के सम्मान्य पुरुष होते थे, समावेश था । इससे यह स्पष्ट है कि कुछ या अनेक उदाहरणों में सभा एक चुनी हुई संस्था थी ।

ईसा की 9वीं शती का एक अभिलेख कुछ नियमों का निर्देश करता है । ब्रह्मदेय ग्रामों की सभाओं के विधान तथा कार्यों के विषय में अभिलेख की प्रस्तावना इस प्रकार है:"उस मननिलैनल्लूर

1. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1916, पृ० 116 ।
2. वही, 1905, पृ० ४६, परिच्छेद 7 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की महासभा के हम सदस्य गणों ने, जो कि कलक्कुडि-नाडु में एक ब्रह्मदेय (ग्राम) है, ढोल बजाकर साधारण सभा की बैठक की घोषणा करके, तथा फिर पवित्र गोबर्धन पर इकट्ठा होकर, इस ग्राम की महासभा की बैठकों की कार्यवाही संचालित कराने का निम्नलिखित प्रस्ताव ('व्यवस्थाई') किया। विनियम संक्षेप में इस प्रकार होंगे : यह कहा गया है कि ग्राम के हिस्सेदारों के पुत्रों में से केवल वही व्यक्ति जो विनीत हो और जिसने मन्त्र, ब्राह्मण और एक धर्म (धर्मशास्त्र) का अध्ययन किया हो ग्राम में अपने हिस्से का प्रतिनिधित्व करने के लिए ग्राम सभा का सदस्य हो सकता है; इन्हीं योग्यताओं वाला व्यक्ति खरीदे हुए उपहार के रूप में प्राप्त अथवा स्त्रीधन के रूप में अधिगत हिस्से का प्रतिनिधित्व करने के लिए सदस्यता प्राप्त कर सकता है (2) खरीदे हुए उपहार में दिए गए तथा स्त्रीधन के रूप में अधिगत हिस्से किसी व्यक्ति को केवल सभाओं की पूर्ण सदस्यता का भागी बना सकते हैं, और एक-चौथाई, आधी अथवा तीन-चौथाई सदस्यता किसी भी दशा में नहीं मानी जाएगी; (3) जो लोग हिस्से खरीदें उन्हें सभा में अपने हिस्सों का प्रतिनिधित्व करने के लिए केवल ऐसे व्यक्तियों को चुनना चाहिए जिन्होंने एक सम्पूर्ण वेद और उसके परिशिष्टों का सूक्ष्म रूप से अध्ययन किया हो; (4) वे लोग जिन्हें नियम 2 के अनुसार पूर्ण सदस्यता प्राप्त नहीं है (ग्राम-सम्बन्धी कार्यों के प्रबन्ध के लिए) किसी समिति के सदस्य नहीं हो सकते; (5) जो लोग निश्चित शर्तों की पूर्ति करते हों उन्हें किसी भी दशा में सभा के सामने लाए गए प्रत्येक प्रस्ताव के लिए 'नहीं नहीं' कहकर (सभा की कार्यवाही का) हठपूर्वक विरोध नहीं करना चाहिए और (6) जो लोग ऐसा करते हैं वे और उनके समर्थक ऐसे प्रत्येक प्रश्न पर (जिसमें उन्होंने ऐसा व्यवहार किया हो) पाँच कासु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अर्थदण्ड देंगे और साथ ही इन नियमों का पालन करते रहेंगे[1]।"

ये नियम ब्रह्मदेय ग्राम के लिए अभिप्रेत थे और स्पष्टतः इसी प्रकार के नियम साधारण ग्रामों की सभाओं के लिए भी थे। वस्तुतः साधारण ग्राम-सभाओं की सदस्यता के लिए वैदिक ज्ञान का होना अनिवार्य योग्यता के रूप में नहीं निर्धारित किया जा सकता था। चोल अभिलेखों में विशिष्ट साम्पत्तिक तथा शैक्षिक योग्यताओं का उल्लेख केवल सभा की कार्यकारिणी के अधिकारियों के संदर्भ में हुआ है।[2]

ग्रामसभा की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में उपरिलिखित अन्तिम दो धाराओं में निहित रोचक नियम की ओर ध्यान आकर्षित करना उपयोगी होगा। ये नियम कुछ विलक्षण अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनका प्रयोजन हठी सदस्यों पर नियन्त्रण करना था। कुछ विद्वानों के अनुसार ये अधिकार उच्चवर्ग के कुछ लोगों के हाथ में बहुमत के विरोध का मुँह बन्द करने के लिए हथकण्डे का काम करते थे। किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता।

जनता और सभा के बीच विद्यमान पारस्परिक सम्बन्ध तथा सभा पर जनता के नियन्त्रण के परिणाम की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करना कठिन है। नीचे उद्धृत मनलिक्करइ अभिलेख[3] के अनुसार राजकीय अधिकारियों, सभा के सदस्यों और ग्रामवासियों के मध्य विचार-विमर्श के पश्चात् एक महत्वपूर्ण राजकीय घोषणा प्रसारित की गई थी। पुनः, तिरु-

---

1. **गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1913, पृ० 98, पैराग्राफ, 23। अभिलेख क मूल विवरण तथा उसके अनुवाद के लिए देखिए **एपि० इण्डि०**, 22, पृष्ठ 5 से 11।
2. **एपि० इण्डि०**, 22, पृष्ठ 206।
3. **इण्डियन ऐण्टिक्वेरी**, जिल्द, 24, पृ० 308 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विडवन्दाइ इत्यादि कुछ विशिष्ट ग्रामों के सम्बन्ध में हमें ज्ञात होता है कि निजी दान कभी सभा को सौंपे जाते थे, कभी निवासियों को और कई बार सभा और निवासियों को।

चार उदाहरणों में सभा के सदस्यों की संख्या का स्पष्ट निर्देश मिलता है। एक तमिल अभिलेख से ज्ञात होता है कि तिरैमुर की सभा में 300 पुरुष तथा 400 के नागरिक सम्मिलित थे[1]। षष्ठ विक्रमादित्य के एक कन्नड अभिलेख[2] में कुक्कनुर के 1,000 महाजनों का उल्लेख है, जो भूमि का दान करने के लिए एकत्रित हुए थे। सुन्दर पाण्ड्य प्रथम के एक लेख[3] से हमें ज्ञात होता है कि एक ग्रामसभा में 512 सभासद् थे। पुनः, पश्चिमी चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल के एक लेख[4] में दो सौ महाजनों[5] और उसके प्रमुख कालिदास को दिए गए एक दान की चर्चा मिलती है। यह अभिलेख अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध करता है कि यदि सब में नहीं तो कम से कम अनेक उदाहरणों में ग्राम का एक प्रमुख होता था। अन्य अभिलेखों से भी इस पद के अस्तित्व की पुष्टि होती है।

इन सभाओं की स्थिति, जहाँ तक इसका अनुमान उनके अधिवेशन के स्थानों से किया जा सकता है, एक-दूसरे से बहुत भिन्न थी। यह भेद सम्भवतः उन ग्रामों के महत्व पर आधारित था जिनका वे प्रतिनिधित्व करती थीं। कुछ दृष्टान्तों में उनकी बैठकों के लिए

---

1. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1908, पृ० 23, सं० 212।
2. वही, 1914, पृ० 55, सं० 509।
3. वही, 1918, पृ० 153 पैरा 43।
4. वही, 1919, पृ० 18 सं० 213।
5. सम्भव है कि यह संख्या सभा की एक समिति की परिचय देती है, न कि स्वयं सभा का। नीचे परिच्छेद 7 से मिलान कीजिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजाओं द्वारा निर्मित सभाभवनों की चर्चा सुनने को मिलती है[1]। किन्तु साधारणतः उनकी बैठकें स्थानीय मन्दिरों में हुआ करती थीं, जब कि कुछ दृष्टान्तों में इस कार्य के लिए इमली के वृक्ष की छाया पर्याप्त समझी जाती थी[2]।

महाजन––महाजन नामक एक सामुदायिक संगठन की चर्चा प्रायः मिलती है। सामान्य रूप से यह शब्द ब्राह्मण गृहस्थों का वाचक है, किन्तु यह बहुत सम्भव जान पड़ता है कि कुछ दृष्टान्तों में महाजनों ने स्थानीय शासन की सभा का निर्माण किया था। आठवीं शती के आरम्भिक भाग के राजा विक्रमादित्य के लक्ष्मेश्वर स्तम्भ-लेख में श्रेणि इत्यादि अन्य संघटित संगठनों के साथ-साथ नगरपालिका के प्रदेश में उनका निर्देश भी एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में किया गया है[3]। राष्ट्रकूट राजा द्वितीय कृष्ण के एक कन्नड अभिलेख में तीन सौ महाजनों द्वारा एक दान दिए जाने का उल्लेख है[4]। इसी राजा के ई० स० 902–3 के एक और अभिलेख में कई ब्राह्मणों द्वारा 120 महाजनों की सहमति से एक दान दिए जाने की चर्चा पाई जाती है[5]। पश्चिमी चालुक्य राजा त्रैलोक्यमल्ल के ई० स० 1053–54 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि रच्चुरु के 120 महाजनों ने तीर्थंकर की पूजा के लिए एक उद्यान, एक तर खेत, पाँच घरों और एक तेल घानी का दान दिया था[6]। 774–75 ई० के सोमेश्वर

1. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1916, पृ० 116।
2. वही, 1910, पृ० 90, पैरा 21; वही, 1916, पृ० 23, सं० 260।
3. एपि० इण्डि०, जिल्द 14, पृ० 189।
4. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1904, पृ० 39, सं० 53।
5. एपि इण्डि०, जिल्द 13, पृ० 190।
6. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1919, पृ० 16, सं० 201।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वितीय के एक अभिलेख में रामेश्वर (शत्र) सम्प्रदाय वालों के एक स्थान पर निर्वाह के लिए अन्य ग्राम-वासी 300 महाजनों के नाम एक ग्राम के अनुदान का एक उल्लेख है[1] । पुली-अग्रहार के निगमाध्यक्ष सहित एक हजार का, पुली के एक सहस्र महाजनों का और सिवेयगिरि के एक सौ का भी उल्लेख है[2] । धारवार जिले में रोन के एक अभिलेख में रोन के बड़े अग्रहार के 102 महाजनों की चर्चा है[3] ।

धारवार जिले में विक्रमादित्य पञ्चम के समय के एक अभिलेख में 104 महाजनों के नाम एक ग्राम के अनुदान का इस शर्त के साथ उल्लेख है कि उसका उपभोग दाता, महाजन लोग तथा उस ग्राम के निवासी करेंगे[4] ।

चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल के ई० स० 1112 के एक अभिलेख से हमें इस संस्था के स्वरूप तथा संगठन के सम्बन्ध में कुछ उपयोगी जानकारी मिलती है[5] । राजा ने अग्रहार इट्टिगे के भगवान् महादेव के लिए प्रसाद, भोजन, भिक्षा तथा त्यौहारों के वस्त्रों की व्यवस्था के लिए पूरा गाँव दान में दिया था । यह सम्पति 'महान् अग्रहार इट्टिगे के प्रमुख तथा शेष चार सौ महाजनों के हाथों' सौंपी गई थी, जिनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वे वेदों के ज्ञान समेत सभी विचारणीय गुणों से सम्पन्न थे । यहाँ यह पूरी तरह स्पष्ट है कि साधारण ग्रामसभा के प्रमुख से समानता रखने वाले एक अध्यक्ष के नेतृत्व में चार सौ महाजनों ने उस अग्रहार के प्रशासन के लिए एक संस्था का गठन किया था । इसी प्रकार चालुक्य राजा द्वितीय

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 16, पृ० 69 ।
2. वही, 18, पृष्ठ 181, 183, 211 ।
3. वही, 19, पृष्ठ 236 ।
4. एपि० इण्डि०, 20, पृष्ठ 69 ।
5. एपि० इण्डि०, जिल्द 13, पृ० 36 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जगदेकमल्ल के ई० स० 1161 के मनगोलि अभिलेख से ज्ञात होता है कि मणिगवल्लि के पाँच सौ महाजनों और उनके प्रमुख महाप्रभु मडिराज की सहमति से राजा ने एक दान दिया[1]। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस संस्था का निर्देश भी केवल 'पाँच सौ' शब्द से किया गया है।

ऊपर एकत्रित तथ्यों से इस विषय में सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता कि महाजन नामक संस्था अग्रहारों का शासन ठीक उसी प्रकार करती थी जिस प्रकार ग्राम सभा एक साधारण ग्राम का शासन। 300, 400 और 500, इन संख्याओं से स्पष्ट है कि यह संस्था सभी वयस्क ब्राह्मणों की नहीं अपितु उनके प्रतिनिधियों की सभा थी, यद्यपि सम्प्रति इस चुनाव के आधारभूत सिद्धान्त का निश्चय करना कठिन है। किन्तु यह सम्भव है कि प्रतिनिधित्व का प्रकार उस पद्धति से बहुत मिलता-जुलता था जिसकी चर्चा ऊपर ब्रह्मदेय ग्रामों के सम्बन्ध में की जा चुकी है। इसी प्रकार की संस्थाएँ उत्तर भारत में थीं। गाजीपुर जिला (उ० प्र०) से प्राप्त ई० स० 1173 के अभिलेख में एक ग्राम में एकत्रित ब्राह्मणों द्वारा स्थानीय लोगों के एक वर्ग की अपराधी प्रवृत्तियों (चोरी, डकैती आदि) को रोकने के लिए की जाने वाली कार्यवाहियों का विवरण उपलब्ध है। ब्राह्मणों ने एक अध्यादेश (स्थिति) का प्रारूप तैयार किया, जो पारस्परिक समझौते (सम्विद्) से स्वीकार कर लिया गया। उसमें कहा गया था कि कोई भी व्यक्ति जो ग्राम को लूटेगा या अन्य ऐसे अपराध करेगा, जैसे पशुओं को पकड़ना, तो उसे अंधा कर दिया जाएगा,[2] और उसकी सारी सम्पत्त जब्त कर ली जाएगी। साथ

1. एपि० इण्डि० जिल्द, 5, पृष्ठ 9।
2. मूल शब्द 'चक्षुव्याधिः' है जिसका अर्थ अभिलेख के सम्पादक ने 'दृष्टि के सामने बध' लगाया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही अपराधियों को प्रोत्साहन देने वालों को ग्राम से निकाल दिया जाएगा और उनके घरों को ढहा दिया जाएगा। (अपराधी को) सलाह देने वाले को नियंत्रित (वारित) किया जाएगा और उसके साथ कुत्ते, चाण्डाल अथवा गधे-जैसा वर्त्ताव किया जाएगा।[1] ऐसे कठोर दण्डों वाले अध्यादेश की राजा द्वारा स्वीकृति का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। यह निश्चित कर सकना भी आसान नहीं कि ग्राम-सभा एवं ब्राह्मणों की स्थिति में क्या तालमेल था। पर जैसा स्मृतियों में व्याख्या दी गई है, इस प्रकार के अध्यादेश का प्रारूप राजा अथवा किसी संघटित निकाय द्वारा ही तैयार किया जा सकता था। इस प्रकार एकत्रित हुए ब्राह्मण, महाजनों की भांति, या तो स्थानीय प्रशासिका सभा के रूप में हो सकते हैं या हो सकता है कि उन्हें ग्राम-सभा द्वारा अध्यादेश का प्रारूप तैयार करने का अधिकार दे दिया गया हो। प्रत्येक दशा में, यह अभिलेख उत्तर भारत के ग्रामीण संघटनों के अधिकारों एवं कार्यों के एक दुर्लभ प्रमाण रूप में उपलब्ध है।

§ ८

ग्रामसभा की समितियाँ—कई प्रकार की ग्राम सभाएँ थीं जो अपने यहाँ के संविधान के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से जानी जाती थीं, जैसे—उर (पुर), नगर, सभा, इत्यादि। "यदि ग्राम वेल्लन जमींदारों का होता, जिसमें किसानों, कारीगरों नाइयों, कुम्हारों, धोबियों, चिकित्सकों आदि के आवश्यक परिवार रहते तो उसमें उर की सभा होती थी, जिसके निकाय के सदस्य वेल्लन जमींदार होते थे। यदि ग्राम व्यवसायियों, व्यापारियों तथा उत्पादन एवं उद्योग-धंधों में लगे व्यक्तियों का होता तो वह नगर-सभा के अधीन होता था। यदि वह ब्राह्मणों का ग्राम होता, जिसमें

1. एपि इण्डि०, 32, पृष्ठ 305–9।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकांशतः ब्राह्मण जमींदार होते और साथ ही किसानों आदि के भी उतने परिवार होते जितने ग्राम के कल्याण के लिए तथा उसकी भूमि पर खेती करने के लिए आवश्यक होते तो उसके प्रबंध के लिए सभा होती थी।" कुछ विद्वानों के अनुसार इनमें से प्रत्येक कार्य "एक विशेष वर्ग अथवा चुनाव-क्षेत्र" के लिए होता था और ऐसा "सोचना गलत होगा कि उर या सभा में जमींदारों का प्रतिनिधित्व कुम्हार, नाई इत्यादि करते थे[1]। लेकिन कभी-कभी इन तीनों शब्दों का प्रयोग एक ही निकाय को इंगित करने के लिए-निर्विशेष रूप से किया जाता था[2]।" जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, उक्कल अभिलेखों में उनमें से चार या पाँच का स्पष्ट उल्लेख मिलता है––

1. वर्ष के लिए चुने हुए महाजन (5, 7, 11, 12, 13)।
2. धर्मादा कार्यों की देखभाल के लिए चुने हुए महाजन (6)।
3. जलाशय के लिए निर्वाजित महाजन (6, 11, 12, 13)।
4. उद्यानों के लिए चुने हुए महाजन (12)।
5. वे महाजन जो प्रतिवर्ष ग्राम के कारबार की देखभाल करते हैं (14)।

उक्त समितियों में से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ का स्वरूप और कर्तव्य उनके नामों से ही पूर्णतः स्पष्ट है। पहला और पाँचवाँ सम्भवतः अन्य समितियों के कार्यक्षेत्र में न आने वाले साधारण और मिश्रित प्रकार के कार्यकलाप की व्यवस्था करनेवाली एक ही समिति के विभिन्न नाम थे। भिन्न-भिन्न ग्रामों में इन समितियों की संख्या और संगठन में भेद रहा होगा। उदाहरणार्थ उत्तर-मल्लुर के दो

---

1. एपि० इण्डि०, 25, पृ० 74।
2. वही, 24, पृष्ठ 30, विशेष विवेचन के लिए तुलना कीजिए वही, पृष्ठ 36–41।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेखों में निम्नलिखित चार और समितियों के नाम भी पाए जाते हैं—'वार्षिक निरीक्षण',' न्याय-प्रबन्ध', 'स्वर्ण निरीक्षण' तथा 'पञ्च-वार-वारियम्' । इनमें से प्रथम सम्भवतः उपर्युक्त संख्या 1 और 5 से अभिन्न है, दूसरी समिति सम्भवतः मुद्रा का नियमन करती और तीसरी सम्भवतः ग्राम की पाँच समितियों के कार्य का निरीक्षण करती थी[1] । एक यह भी मत व्यक्त किया गया है कि 'वार' का अर्थ 'हिस्सा' है और 'पञ्च-वार-वारियम्' एक समिति थी, जिसका कार्य राजा को दिया जाने वाला अनाज के रूप में वह भूमिकर एकत्र करना था जो विशेष प्रकार की भूमि पर लगाया जाता था तथा जो सम्पूर्ण अनुमानित राशि के 6 हिस्सों में से 5 हिस्सों के बराबर होता था ।[2]

उत्तर अर्काट जिले में प्राप्त 10वीं शताब्दी के कुछ चोल अभिलेखों[3] में अन्य अनेक ग्रामसमितियों के नाम पाए जाते हैं, यथा—(1) 'मुहल्लों (कुटुम्ब) की देखभाल के लिए महाजन', (2) 'खेतों के निरीक्षण के लिए महाजन', (3) 'दौ सौ महाजन', (4) 'ग्राम के निरीक्षक महाजन' तथा (5) 'उदासीनों (संन्यासियों?) की देखभाल करनेवाले महाजन ।' 'मन्दिर के कार्यों का प्रबन्ध करनेवाली समिति' का भी उल्लेख किया गया है, किन्तु यह सम्भवतः क्रमांक (4) और (5) से अभिन्न है । राजराज के ई० स० 996 के एक अभिलेख में 'जलाशय का निरीक्षण करनेवाली समिति' और 'ग्राम का निरीक्षण करनेवाली समिति' का उल्लेख पाया जाता है[4] ।

---

1. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1890, पृ० 23; 1913, पृ० 105 ।
2. एपि० इण्डि०, 23, पृष्ठ 23 ।
3. वही, 1905, पृ० 49, पैरा 7; 1915, पृ० 115—16 ।
4. वही, 1918, पृ० 143 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हमें 'भूमि-निरीक्षण समिति'[1] और 'न्याय समिति[2]' की भी चर्चा सुनने को मिलती है। 'न्याय समिति' के सदस्यों में एक महिला भी सम्मिलित थी।

चालुक्य राजा द्वितीय भीम (ई० स० 934-45) के मसुलिपतम् ताम्रपत्र लेख में 'पाँच की समिति' और 'समिति की बैठकों (वारगोष्ठी) में व्याख्यानपटु युवकों' का उल्लेख पाया जाता है[3]। इससे यह जान पड़ता है कि युवक इन समितियों में कार्य करते और वाद-विवाद में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेते थे। नत्तम से उपलब्ध तीन अभिलेख दो समितियों का उल्लेख करते हैं। इनमें से एक 'संवत्सरवारियम्' अथवा वार्षिक निरीक्षण समिति, जिसमें 12 सदस्य थे, विशाल ग्रामसभा का एक अंग थी। 'उरवारियम्' ग्राम के एक अधिकारी का अथवा अधिकारियों की समिति का नाम था। उसका कार्य स्पष्ट रूप से कृषि की देखभाल करना और फसल तैयार होने पर उपज एकत्रित करना था।

समितियों का संगठन—उत्तरमल्लूर के दो अभिलेख इन समितियों के संगठन का मनोरंजक और विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। ये चोल शासक परन्तक प्रथम के शासन काल के 12वें तथा 14वें वर्ष के हैं। 'उत्तर-मल्लूर के चिंगलपट जिले के प्रारंभिक अभिलेख पल्लव शासक दन्तिवर्मन् के काल से आरंभ होते हैं। ये इस शासक, इसके चार उत्तराधिकारियों, चोल शासक परान्तक प्रथम और रकलेसवर्मन् आदित्य के राज्यकाल के सूचक हैं।' इन शासकों के लगभग सभी अभिलेखों में इस स्थान की सभा का उल्लेख

1. वही, 1914, पृ० 30।
2. वही, 1910, पृ० 98-99, पैरा 35।
3. एपि० इण्डि०, जिल्द 5, पृ० 137-138।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त होता है । और क्योंकि परान्तक प्रथम के शासन-काल के पहले के छह अभिलेखों में समितियों का स्पष्ट उल्लेख है अतः यह निश्चित है कि इस स्थान पर ई० स० 907 में परान्तक प्रथम के सिंहासनारूढ़ होने के पहले, कम से कम छह शासकों के शासन काल में, अर्थात् कम से कम ईसा की 8वीं शती के मध्य से ही सभा और उसकी समितियाँ कार्य कर रही थीं[1] । इन दो लेखों में से उत्तरकालीन लेख (जो वस्तुतः प्राचीनतर लेख का एक संशोधित रूप है) का स्वतन्त्र अनुवाद यहाँ उद्धृत किया जा रहा है, जिससे इन समितियों की रचना-पद्धति की जानकारी प्राप्त होती है[2] :

"वर्ष में एक बार 'वार्षिक निरीक्षण', 'उद्यान निरीक्षण' तथा 'जलाशय निरीक्षण' (समितियों) के निर्वाचन के लिए (हमने, जो सभा के सदस्य हैं) इस प्रकार नियमों का निर्माण किया—

1. (उत्तरमल्लूर में) तीस समूह (अथवा मुहल्ले) होंगे ।
2. इन तीस मुहल्लों में से प्रत्येक मुहल्ले के निवासी एकत्रित होकर 'भाण्ड अभिज्ञानपत्र' (कुदवलै) के लिए व्यक्तियों का चुनाव करेंगे ।

"जो व्यक्ति 'भाण्ड अभिज्ञानपत्र' में अपना नाम लिखाना और उसे (भाण्ड में) डलवाना चाहता उसमें निम्नलिखित योग्यताओं का होना अनिवार्य था—

(क) करद भूमि के चतुर्थांश (वेलि) से अधिक पर उसका

---

1. एपि० इण्डि०, 24, पृ० 28–29 ।
2. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1899, पैरा 23; आर्किआलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1904–05, पृ० 140 ।
   इन दोनों संस्करणों के भेद तथा प्रथम संस्करण की अपेक्षा परवर्ती संस्करण में सुधार के लिए देखिए गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1899, पृ० 27–30 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वामित्व होना चाहिए ।

(ख) उसकी अपनी भूमि पर निर्मित उसका घर होना चाहिए ।

(ग) उसकी आयु 70 वर्ष से कम और 35 वर्ष से अधिक होनी चाहिए ।

(घ) उसे मन्त्र-ब्राह्मण का ज्ञान होना चाहिए (अर्थात्) उसे स्वयम् उसका ज्ञान होने के साथ ही दूसरों को उसे पढ़ाने की योग्यता भी होनी चाहिए ।

(ङ्) यदि कोई व्यक्ति भूमि के केवल आठवें अंश (वेलि) का ही स्वामी हो तो भी उसका नाम 'भाण्ड अभिज्ञानपत्र' पर लिखा जा सकता है और उसे भाण्ड में डाला जा सकता है, बशर्ते उसने एक वेद और चार भाष्यों में से एक का अध्ययन किया हो और (दूसरों को) उसे समझा सकता हो ।

(च) (उपरोक्त योग्यताओं से युक्त) लोगों में से'—

(1) केवल वे ही चुने जाएँगे जो धार्मिक नियमों के अनुसार कार्यकलाप तथा व्यवहार से भलीभांति परिचित हों, और (2) वे लोग भी चुने जा सकते हैं जिन्होंने अपना धन ईमानदारी से प्राप्त किया हो, जिनका मन शुद्ध हो और जो पिछले तीन वर्षों से (किसी) समिति के सदस्य न रहे हों ।

(छ) (1) जो लोग इनमें से किसी समिति पर रहे हों किन्तु जिन्होंने अपने हिसाब प्रस्तुत न किए हों उनके तथा उनके अधोनिर्दिष्ट सम्बन्धियों के नाम भाण्ड अभिज्ञानपत्रों पर नहीं लिखे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाएँगे और (भाण्ड में) नहीं डाले जाएँगे—

(2) उनकी माताओं की छोटी और बड़ी बहिनों के पुत्र,

(3) उनकी मातृश्वसा और मातुल के पुत्र,

(4) उनकी माँ के भाई,

(5) उनके पिता के भाई,

(6) उनके भाई,

(7) उनके श्वसुर (?)

(8) उनकी पत्नियों के भाई,

(9) उनकी बहिनों के पति,

(10) उनकी बहिनों के पुत्र,

(11) उनके जामाता,

(12) उनके पिता, और

(13) उनके पुत्र ।

(ज) (1) जिनके विरुद्ध व्यभिचार अथवा पाँच महापातकों में से प्रथम चार, अर्थात् (1) ब्रह्महत्या, (2) सुरापान, (3) चोरी, (4) गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार तथा (5) इन पापों के अपराधी का साथ करना, के अभियोग हों उनके और

(2) उनके उपर्युक्त विविध सम्बन्धियों के नाम भाण्ड अभिज्ञानपत्रों पर नहीं लिखे जाएंगे और (भाण्ड में) नहीं डाले जाएँगे।

(झ) जो लोग (निम्न जातियों का) साथ करने के कारण अपनी जाति से वहिष्कृत कर दिए गए हों उनके नाम तब तक भाण्ड अभिज्ञानपत्रों में नहीं लिखे और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाण्ड में नहीं छोड़े जाएँगे जब तक वे प्रायश्चित्त -विधि का अनुष्ठान न करें।

(ञ) उजड्ड लोगों के नाम भाण्ड अभिज्ञानपत्रों पर नहीं लिखे जाएँगे और भाण्ड में नहीं डाले जाएँगे। (यह धारा मूल लेख में पूर्णतः सुरक्षित नहीं है। लेख का यह अंश क्षतिग्रस्त हो गया है।)

(ट) जिन्होंने दूसरों की सम्पत्ति को चोर या लूट लिया है, उनके नाम भाण्ड अभिज्ञान पत्रों में नहीं लिखे जाएँगे और भाण्ड में नहीं छोड़े जाएँगे।

(ठ) जिन्होंने किसी प्रकार का निषिद्ध भोजन (?) किया है और जो प्रायश्चित्त का अनुष्ठान कर शुद्ध हो गए हैं, समितियों के (सदस्य के रूप में निर्वाचन के लिए) (उनके नाम) उनके जीवनपर्यन्त भाण्ड अभिज्ञानपत्रों पर नहीं लिखे जाएँगे और (भाण्ड में) नहीं डाले जाएँगे।

(ड) (1) जिन्होंने पापकर्म······किए हैं (यहाँ भी मूल त्रुटित है) और जो प्रायश्चित्त का अनुष्ठान करके शुद्ध हो गए हैं।

(2) जो ग्रामकण्टक रहे हैं और जो प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो गए हैं।

(3) जो अवैध यौन सम्बन्धों के अपराधी रहे हैं किन्तु प्रायश्चित्तीय विधि का अनुष्ठान करके शुद्ध हो गए हैं।

"इन सब उपरिनिर्दिष्ट लोगों के नाम किसी समिति के सदस्य के रूप में चुनाव के लिए भाण्ड अभिज्ञानपत्रों पर नहीं लिखे जाएँगे और भाण्ड में नहीं डाले जाएँगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"उपरिनिर्दिष्ट सब लोगों को छोड़ कर तीस मुहल्लों में भाण्ड अभिज्ञानपत्रों के लिए नाम लिखे जाएँगे और (उत्तरमल्लूर के) बारह पुरवों के तीस मुहल्लों में से प्रत्येक एक स्वतन्त्र लिफाफा तैयार करेगा और उस पर एक उपरिपत्र लगाएगा (जिसमें उसकी वस्तुओं का विवरण रहेगा)। (ये लिफाफे) एक बरतन में रखे जाएँगे, ये भाण्डमत पत्र इस प्रयोजन के लिए आयोजित सभा के सम्पूर्ण अधिवेशन में, जिसमें युवा और वृद्ध (सदस्य) सम्मिलित हों, खोले जाएँगे। मन्दिर के सभी पुजारी, जो उस दिन ग्राम में उपस्थित हों, बिना किसी अपवाद के सभाभवन (?) में, जहाँ सभा का अधिवेशन होना हो, बैठे रहेंगे। मन्दिर के पुजारियों के बीच जो ज्येष्ठ हो वह खड़ा होकर एक (रिक्त) भाण्ड को इस प्रकार उठाएगा कि वह सब उपस्थित लोगों को दिखाई दे। एक छोटा बालक, जो प्रस्तुत सम्बन्ध में कुछ भी न जानता हो, तीस मुहल्लों के लिफाफों में से एक उठाकर खड़े हुए पुजारी को देगा। (लिफाफे के भीतर रखी हुई) वस्तु (रिक्त) भाण्ड में उलट दी जाएगी और उसे (अच्छी तरह) हिलाया जाएगा। छोटा बालक (?) इस भाण्ड में से एक अभिज्ञान पत्र निकालकर मध्यस्थ को दे देगा। अभिज्ञानपत्र को संभालते समय मध्यस्थ उसे अपने हाथ की, जिसकी पाँचों अंगुलियाँ खुली हों, हथेली में लेगा। वह इस प्रकार लिये अभिज्ञानपत्रों पर लिखे हुए नाम को पढ़कर सुनाएगा। इस प्रकार पढ़े हुए अभिज्ञानपत्र को सभागृह में उपस्थित अन्य सब पुजारी भी पढ़कर सुनाएँगे। इस प्रकार पढ़ा हुआ नाम लिखा और स्वीकृत कर लिया जाएगा। इसी प्रकार तीस मुहल्लों में से प्रत्येक से एक प्रतिनिधि चुना जाएगा।

इस प्रकार चुने हुए तीस व्यक्तियों में से वे जो पहले 'उद्यान निरीक्षण (समिति)' और 'जलाशय निरीक्षण (समिति)', पर रह चुके हों और जो विद्या तथा आयु में ज्येष्ठ हों 'वार्षिक निरीक्षण (समिति)'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए चुने जाएँगे। जो लोग बच रहें उनमें से बारह 'उद्यान निरीक्षण (समिति)' के लिए और शेष छह 'जलाशय निरीक्षण (समिति)' के लिए चुने जाएँगे। अन्तिम दो समितियाँ मौखिक रूप से (?) विचार व्यक्त करने के पश्चात् चुनी जाएँगी। वे महाजन जो इन तीन समितियों के सदस्य चुने जाएँगे पूरे तीन सौ साठ दिन तक अपने पद पर रहेंगे और उसके पश्चात् अपना पद त्याग देंगे। यदि समितियों का कोई सदस्य किसी अपराध के लिए उत्तरदायी पाया जाएगा तो वह (तत्काल) निकाल दिया जाएगा। इन लोगों के पदत्याग के पश्चात् समितियों की नियुक्ति के लिए (उत्तरमल्लूर के) बारह विभागों में 'न्याय निरीक्षण समिति' के सदस्य मध्यस्थ की सहायता से एक बैठक बुलाएँगे। निर्वाचन के आवश्यक नियमों का निर्देश करने वाली इस आज्ञा के अनुसार भाण्ड अभिज्ञानपत्रों को निकालकर किया जाएगा"।

"पञ्चवारवारियम्" तथा 'स्वर्ण निरीक्षण (समिति)' के लिए तीस मुहल्लों में भाण्ड अभिज्ञानपत्रों के लिए नाम लिखे जाएँगे; ये तीस (लिफाफे) उपरिपत्रों के साथ एक भाण्ड में रखे जाएँगे और उपरिनिर्दिष्ट पद्धति के अनुसार तीस भाण्ड अभिज्ञानपत्र निकाले जाएँगे। इन तीस अभिज्ञानपत्रों में से बारह व्यक्ति चुने जाएँगे। इन बारह लोगों में से छह 'स्वर्ण निरीक्षण (समिति)' पर रहेंगे और शेष छह 'पंचवारवारियम्' पर। अगले वर्ष इन (दो) समितियों (की नियुक्ति) के लिए भाण्ड अभिज्ञानपत्र निकालते समय उन मुहल्लों को अलग कर दिया जाएगा जिनका प्रतिनिधित्व इन समितियों पर (इस वर्ष) हो चुका है और अवशिष्ट मुहल्लों से विचारों की मौलिक अभिव्यक्ति के द्वारा (?) ये नियुक्तियाँ की जाएँगी। उन लोगों के नाम, जिन्होंने गधों की सवारी और जालसाजी की है, भाण्ड अभिज्ञान-पत्रों पर नहीं लिखे जाएँगे और (भाण्ड में) नहीं डाले जाएँगे"।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"मध्यस्थ और ऐसे लोग जिन्होंने ईमानदारी से धनार्जन किया है, (ग्राम का) हिसाब लिखेंगे । जो व्यक्ति हिसाब रखता था उसकी इस पद पर पुनः नियुक्ति तब तक नहीं की जाएगी जब तक उसने हिसाब के लिए उत्तरदायी महासमिति के महाजनों को अपने कार्यकाल का हिसाब न सौंप दिया हो और वह ईमानदार घोषित न कर दिया गया हो । जो व्यक्ति जिस हिसाब को लिखता रहा है वही उसे जमा करेगा और दूसरे गणक उसके हिसाब को पूरा नहीं करेंगे ।

"इस प्रकार इस वर्ष से लेकर जब तक चन्द्र और सूर्य विद्यमान रहें तब तक समितियाँ सदा भाण्ड अभिज्ञानपत्रों से नियुक्त की जाती रहेंगी । इस आशय की राजाज्ञा प्राप्त हुई थी ।"

समितियों के निर्वाचन के लिए उपर्युक्त विस्तृत नियम इन ग्राम-निगमों के अतिलोकतान्त्रिक स्वरूप को अत्यन्त प्रभावजनक रूप से स्पष्ट करते है । यह प्रकट है कि निगमों के कार्य मुख्य रूप से इन समितियों द्वारा किए जाते थे और यही कारण है कि उन्हें भ्रष्टाचार से बचाने के लिए इतनी अधिक सावधानी बरती जाती थी । एक लोकप्रिय एवम् जनतान्त्रिक संविधान की आत्मा और चेतना को क्षति पहुँचाए बिना उसके सहज दोषों को निर्मूल करने का प्रयत्न किया गया, और इस प्रयोजन के लिए उन्होंने जिन नियमों का निर्माण किया वे विधान-रचना के बुद्धिमत्ता और दूर-दर्शिता से युक्त अद्‌भुत उदाहरण माने जाने चाहिए । उपर्युक्त नियमों में की गई कुछ व्यवस्थायें हमारी असीमित प्रशंसा की अधिकारिणी हैं । यद्यपि साधारणतः करद भूमि की चतुर्थांश 'वेलि' से कम का स्वामी इनमें से किसी समिति की सदस्यता के लिए उम्मेदवार के रूप में खड़ा नहीं हो सकता था तथापि एक निश्चित परिमाण में शिक्षा से युक्त व्यक्तियों के पक्ष में अपवाद किया जाता था । नियम (छ), जिसमें कहा गया है कि केवल वे लोग चुने जा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकेंगे जो गत तीन वर्षों में इनमें से किसी समिति पर नहीं रहे हैं, प्रत्येक ग्रामीण को समितियों में काम करने का अवसर देने के लिए अभिप्रेत था, जिससे वह स्वयं को उस निगम की उत्तरदायित्वपूर्ण सदस्यता के योग्य बना सके जिसका वह एक अंग था[1] ।

सदस्यों के चुनाव की भ्रष्टाचार और वैयक्तिक प्रभाव की सभी सम्भावनाओं से पूर्णतः मुक्त इस पद्धति की तुलना प्राचीन तथा आधुनिक संसार के लोकतान्त्रिक राज्यों के बारे में हम जो कुछ जानते हैं उसके साथ भलीभांति की जा सकती है । उत्तरमल्लूर के 922 ई० के एक अभिलेख में उन नौ व्यक्तियों के चुनने के संबंध में विस्तृत विनियम दिए हुए हैं जिनके जिम्मे व्यवहृत स्वर्ण की शुद्धता की जाँच का काम था । वे स्वर्ण-समिति-जैसी किसी व्यवस्थित समिति के रूप में थे, यह ठीक ज्ञात नहीं ।[2]

993–94 ई० के उत्तरमल्लूर के एक अन्य अभिलेख में महासभा के उस निर्णय का उल्लेख है जिसके अनुसार प्रत्येक जाति उसके ऊपर लगाए जुर्माने को 'राजप्रसाद के द्वार पर, न्यायालय में, मालगुजारी (विभाग) में अथवा अन्यत्र' जमा करेगी[3] ।

उत्तरमल्लूर के 758 ई० के एक तीसरे अभिलेख में यह रोचक विवरण प्राप्त होता है कि यदि कोई किसान उसकी भूमि की सीमाएँ निश्चित करने पर तदर्थ देयधन को बिना चुकाए ग्राम छोड़

1. एक चोल अभिलेख, जिसके अनुसार सभा ऐसे व्यक्तियों से ग्राम-प्रशासन की देखभाल कराने की व्यवस्था करती थी जो प्राचीन प्रथा का अनुसरण कर वर्ष के अन्त में अपना पद त्यागने का वचन देते थे, इस सिद्धान्त को और आगे ले जाता है(**गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1915, पृ० 18, सं० 92 ।)
2. **एपि० इण्डि०**, 22, पृ० 146 ।
3. **वही**, पृष्ठ 206 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दे तो उससे वह धन कैसे वसूल किया जाए[1] । 964 ई० के चौथे अभिलेख में परिषद् के माध्यम से 'महान् व्यक्तियों द्वारा, जो प्रत्येक वर्ष ग्राम की कार्यवाहियों का संचालन करते थे', सामान्य जुर्मानों की वसूली-संबंधी नियम दिए हुए हैं । यदि ये महान् व्यक्ति नियमानुसार कार्य-संचालन में असफल होते तो उनमें से प्रत्येक को जुर्माना देना पड़ता[2] । यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि उक्त दोनों लेखों में सभा के सदस्यों का, महत्वपूर्ण कार्यकर्ताओं सहित, जिन पर जुर्माने किए जाते (या जा सकते) थे, स्पष्ट उल्लेख है । यह प्रथम अध्याय में उद्धृत कात्यायन के मत के अनुरूप है । तृतीय अभिलेख से ऐसा प्रतीत होता है कि इन विनियमों का उल्लंघन करने वाले कार्यकारिणी के सदस्यों के विरुद्ध कठोर कार्यवाहियाँ की जाती थीं । आदि आवश्यक होता तो नियमों का उल्लंघन करने वाले इन सदस्यों को राज्यन्यायालय में ले जाया जा सकता था, जैसा कि बृहस्पति-संहिता में निर्दिष्ट है ।

उक्त नियमों के क्रियात्मक रूप पर एक अभिलेख[3] से रोचक पार्श्वप्रकाश पड़ता है । इसके अनुसार ग्रामसभा ने एक व्यवस्था करके ग्राम के एक मुनीम को, जिसने उसे ठगा था, पदच्युत किया और उसके वंशजों तथा सम्बन्धियों को ग्राम का हिसाब लिखने से रोका ।

जान पड़ता है कि कर्मचारियों द्वारा लिए हुए ऋण का दायित्व ग्राम-निगम के ऊपर होता था । प्रथम कुलोतुङ्ग के राजत्वकाल के 48वें वर्ष (ई० स० 1117–18)[4] के एक अभिलेख से ज्ञात

1. वही, 24, पृष्ठ 35 ।
2. वही, 25, पृष्ठ 42 ।
3. **गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1905, पृ० 27, 54 ।
4. वही, 1907, पृ० 76, पैरा 39 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है कि ई० स० 1115–16 में ग्राम का हिसाब लिखने वाले दो व्यक्तियों ने ऋण लिए किन्तु उन्हें बिना चुकाए वे ग्राम छोड़कर चले गए । उस ग्राम-निगम को, जिसके कर्मचारी वे मुनीम रहे होंगे, कुछ खेत बेच कर कर्ज चुकाना पड़ा ।

उत्तरी अर्काट जिले में ब्रह्मदेशम् नामक ग्राम से प्राप्त बहुसंख्यक चोल अभिलेखों[1] से ग्रामसभाओं की कार्यपद्धति के सम्बन्ध में कुछ रोचक बातें मालूम होती हैं । इन लेखों से ज्ञात होता है कि वह एक अग्रहार था जिसकी गणप्पेरुमक्कल अथवा गणवारियप्पेरु-मक्कल नामक एक संगठित ग्रामसभा थी । वे निरपवाद रूप सभा और उसकी गतिविधियों की चर्चा करते हैं । उनके तत्वावधान में अनेक समितियाँ कार्य करती थीं । उनमें से एक समिति ग्राम के कार्यों की व्यवस्था करती थी (गणवारियम्) और दूसरी मन्दिर के कार्यों की (कोयिल्वारियम्) । अन्तिम समिति का गाणनिक (accountant) त्रैराज्य-घटिका-मध्यस्थ[2] अर्थात् 'त्रैराज्य (नामक) विद्यालय का मध्यस्थ, कहलाता था । लेख सं० 194 में उल्लिखित दान महासभा द्वारा गणवारियम् के उन महाजनों को सौंपा गया था जो उस वर्ष अपने कर्तव्य का पालन कर रहे थे । आगे कहा गया है कि यदि वे अपने कर्तव्यों का पालन न करें तो राजा की ओर से श्रद्धामन्त (अर्थात् दानकार्य में रुचि रखने वाले लोग?) उस समिति के प्रत्येक सदस्य से अर्थदण्ड वसूल करेंगे । सभा के अन्तर्गत स्पष्ट ही मध्यस्थों की एक और समिति थी । ये मध्यस्थ जलाशय का हिसाब लिखते थे तथा आजीविका के लिए प्रतिदिन धान की चार 'नालि', प्रतिवर्ष सात कलञ्जु शुद्ध सोना और कपड़ों का एक जोड़ा प्राप्त करते थे । सभा द्वारा जाँच के लिए हिसाब प्रस्तुत

---

१. वही, 1916, पृ० 115–6 ।

२. इस अधिकारी के लिए उक्कल लेख सं० 2 भी देखिए ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करते समय इनमें से प्रत्येक अपनी शुद्धि का प्रमाण देने के लिए जलता हुआ लोहा हाथ में रखता था। यदि वह सुरक्षित रहता (और परिणामस्वरूप शुद्ध भी) तो उसे अतिरिक्त वचत का चतुर्थांश (पादशेष?) बोनस के रूप में दिया जाता था। इसके विपरीत यदि उसका हाथ जल जाता (और फलस्वरूप वह अशुद्ध पाया जाता) तो उसे और अधिक शारीरिक दण्ड न देकर 10 कलञ्जु का जुर्माना किया जाता था। गणप्पेरुमक्कल, जो सभा की सामान्य समिति के सदस्य थे, कभी-कभी मन्दिर की व्यवस्था करते हुए पाए जाते हैं। अपनी इस क्षमता में उन्होंने एक बार यह व्यवस्था दी कि यदि वे उस मन्दिर को दिए हुए सोने का नाश करें तो उनमें से प्रत्येक मन्दिर के महेश्वरों को 24 कानम् का जुर्माना भरेगा।

§ ९

ग्रामसभाओं और केन्द्रीय सरकार का सम्बन्ध—ग्राम की भूमि पर निगमों का पूर्ण अधिकार था और साधारणतः ग्रामों के आन्तरिक प्रबन्ध में कोई बाधा नहीं की जाती थी। किन्तु वे ग्राम पर आने वाले करों की अदायगी के लिए उत्तरदायी थे, और हमें एक ऐसा उदाहरण मिलता है जिसमें राजकर की न चुकायी हुई राशि के लिए एक ग्रामसभा के सदस्य पकड़ कर बन्दी बना लिए गए थे। ग्रामसभा के कुछ ब्राह्मण सदस्यों ने कर की अवशिष्ट राशि को चुकता करने के लिए 200 कासु में 80 वेलि भूमि बेच कर स्थिति को बचा लिया[1]।

तिरुवल्लम् अभिलेख[2] से जान पड़ता है कि राजकीय अधिकारी समय-समय पर उनके हिसाब का निरीक्षण करते रहते थे। उक्कल

1. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1913, पृ० 109।
2. साउथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स जिल्द 3, खण्ड 1, सं० 57।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अभिलेख सं० 12 तथा अन्य कई लेख[1] यह स्पष्ट करते हैं कि अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करने पर ग्रामसभा का जुर्माना देना पड़ता था। प्रथम राजराज के काल के ई० स० 996 के एक अभिलेख[2] में भी कुछ रोचक ब्यौरे के साथ इसी बात का उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि त्रिभुवन-महादेवि-चतुर्वेदि-मंगलम् की सभा ने एक मण्डप में अपनी बैठक कर एक व्यक्ति द्वारा सभा से खरीदकर स्थानीय मन्दिर को दान में दिए हुए ग्राम को लेक रनिम्नलिखित व्यवस्था दी: 'उक्त सभा सिद्धांत, दण्डाय और पञ्चवार' के अतिरिक्त अन्य कोई कर वसूल नहीं करेगी। इसका उल्लंघन करना अथवा शिल्लिरै-जैसे किसी और कर की, जिसका उल्लेख पूर्वनिश्चित दरों में नहीं है, वसूली करना उनके लिए अवैध होगा। जहाँ तक इस ग्राम का सम्बन्ध है, इस वर्ष काम करने वाले 'जलाशय निरीक्षण समिति' और ग्राम निरीक्षण समिति, के सदस्यत था 'ऊरमेशेय्वार' अमञ्जि के नाते चावल अथवा धान के रूप में किसी प्रकार का भुगतान प्राप्त नहीं करेंगे। समिति के ऐसे सदस्यों को, जिन्होंने इस प्रकार के करों का दुरुपयोग किया है और उनकी वसूली के आदेश पर हस्ताक्षर किए हैं, पच्चीस कलञ्जु सोना अर्थदण्ड के रूप में देना पड़ेगा और उसकी वसूली देवकन्मि (अर्थात् मन्दिर के प्रबन्धक) करेंगे। इन जुर्मानों को चुकाने के बाद भी उन्हें (वारियम् के सदस्य) धर्मासन (न्यायालय) को उसके द्वारा चुने हुए स्थान पर तथा इकरारनामें में निश्चित दरों के अनुसार एक और जुर्माना देना होगा। वारियम् के उस गाणनिक से, जिसने इस अवैध कर-वसूली की अनुमति दी, वेट्ट देने के लिए कहा जाएगा। जो लोग इस आदेश का पालन करने से इनकार करेंगे और जो उन्हें ऐसा करने के लिए

1. गवर्नमेंण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1903, सं० 342 और 343; 1911, सं० 268।
2. वही, 1918, पृ० 143।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रोत्साहित करेंगे उन्हें देवकन्मियों के धर्मासिन को 15 कलञ्जु जुर्माना देना होगा, और इसके पश्चात् वे उसी आदेश को मानने के लिए बाध्य किए जाएँगे।" तिरुमलपुरम्-अभिलेख में एक उदाहरण दिया गया है जिसके अनुसार राजा ने ग्रामसभा को मन्दिर के अधिकारियों की इस शिकायत पर अर्थदण्ड दिया था कि वह उनके लिए नियत करों के भाग का दुरुपयोग कर रही थी[1]। इसके विपरीत ग्रामसभा राजा का ध्यान अपने प्रदेश के किसी मन्दिर के कर्मचारियों के किन्हीं भी कुकृत्यों की ओर आकर्षित कर सकती थी[2]।

सभा द्वारा निश्चित कुछ नियमों के लिए राजा की स्वीकृति आवश्यक थी। उदाहरणार्थ, उत्तरमल्लूर अधिनियम के अन्त में कहा गया है कि "इस आशय की राजाज्ञा, प्राप्त हुई।" पुनः उक्कल के अभिलेख में एक राजाज्ञा है जिसमें ग्रामसभा को उन लोगों की भूमि बेचने की अनुमति दी गई है जिन्होंने कर नहीं चुकाये हैं[3]। इसके विपरीत ऐसी किसी राजाज्ञा को, जिससे ग्राम की स्थिति पर प्रभाव पड़ता हो पञ्जीकरण तथा लेखपाल के कार्यालय में भेजने के पूर्व ग्रामसभा की स्वीकृति के लिए भेजना अनिवार्य था। वीर राजेन्द्र के एक लेख से यह सिद्ध होता है[4]।

12वीं शताब्दी के दो त्रावणकोर-अभिलेख[5] ग्रामनिगमों के इस अधिकार को प्रभावजनक रूप से स्पष्ट करते हैं। प्रथम लेख एक मन्दिर में दैनिक प्रसाद की व्यवस्था के हेतु वेणाड के राजकीय

---

1. वही, 1907, पृ० 71।
2. वही, 1909, पृ० 83, पैरा 28।
3. **गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1910, पृ० 92 से भी मिलान कीजिए।
4. श्री एस० के० आयंगर ने **ऐन्श्यंट इण्डिया**, पृ० 177–78 में इसका उल्लेख किया है।
5. **इण्डियन ऐण्टिक्वेरी**, जिल्द 24, पृ० 257–58।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकारियों द्वारा धान के कुछ खेतों के दान किए जाने का उल्लेख करता है। दूसरा अभिलेख राजकीय अधिकारियों और ग्राम की जनता द्वारा एकत्रित होकर तैयार किए हुए आज्ञापत्र का काम करता है। इसमें कहा गया है कि राजकीय उद्घोषणा के अनुसार उन लोगों ने कुछ गौण करों और कटौती के आधीन धान के खेत मन्दिर के सेवकों को सौंप दिए। लेख इस स्मरणीय वाक्य के साथ समाप्त होता है: "जिसकी साक्षी में हम, तलक्कुडि के लोग, (नीचे) अपने-अपने हस्ताक्षर करते हैं।" और इसके बाद हस्ताक्षर दृष्टिगत होते हैं। इन दो लेखों का सम्पादक अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करता है: "यह स्मरणीय है कि तलक्कुडि के लोगों को राजकीय दानपत्र को कार्यान्वित करने और एक प्रकार से उसका अनुमोदन करने का अधिकार प्राप्त था। गौण करों और कटौतियों के सम्बन्ध में अपवाद, जो इस (दूसरे) लेख में पाया जाता है प्रथम में नहीं, उन उपकरों की ओर संकेत करता है जो ग्राम-संगठनों द्वारा उनके कार्यक्षेत्र में आनेवाले खेतों पर वसूल किए जाते थे।" एक अन्य त्रावणकोर-अभिलेख, जिसका सारांश नीचे दिया गया है, अपनी प्रस्तावना से यह स्पष्ट करता है कि उसमें उल्लिखित उद्घोषणा "राजकीय आधिकारियों, ग्रामसभा के सदस्यों तथा ग्राम की प्रजा के मध्य भलीभांति विचार-विमर्श के बाद" प्रसारित की गई थी। अनेक पाण्ड्य अभिलेख निश्चित रूप से यह सिद्ध करते हैं कि भूमिदान अथवा भूमि को करमुक्त करने से सम्बद्ध सब राजाज्ञाएं नियमित रूप से उस ग्राम की सभा के पास भेजी जाती थीं जिनके अन्तर्गत वे खेत होते थे। तब सभा की बैठक होती थी, जिसमें शासकीय लेख प्राप्त किया जाता था। कार्यकारी आदेश के द्वारा विशिष्ट खेतों को करमुक्त किए जाने की घोषणा की जाती थी और कभी-कभी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सीमाएँ भी निश्चित की जाती थीं[1]।

प्राचीन भारतीय राज्यतन्त्र में ग्रामसभा के महत्वपूर्ण स्थान को प्रमाणित करने के लिए अन्य अनेक अभिलेखों का उल्लेख किया जा सकता है। चोल राजा तृतीय राजराज का एक अभिलेख मुम्मड सोलपुरम् के नागरिकों के माध्यम से राजा द्वारा अपने एक कर्मचारी के दिए गए आदेश का उल्लेख करता है।[2] पाण्ड्य कुलशेखरदेव का एक अभिलेख एक स्थानीय मन्दिर के दूसरे प्रकार के निर्माण के लिए आवश्यक कुछ व्यक्तिगत घरों को अधिगत करने के लिए राजा की आज्ञा के अधीन ग्रामसभा के एक आदेश का पञ्जीकरण करता है।[3] प्रथम राजाधिराज के सन् 1048 के एक लेख में कहा गया है कि एक मण्डप में राजराज-चतुर्वेदि-मंगलम् की सभा की बैठक हुई जिसमें नगर का प्रशासक भी उपस्थित था। उसने राजसचिव के हस्ताक्षर के साथ प्रसारित इस राजाज्ञा को कार्यरूप दिया कि एक विशिष्ट मन्दिर के खेतों पर न्यूनतम दर के अनुसार कर वसूल किया जाए[4]।

जान पड़ता है कि कभी-कभी सार्वजनिक कार्यों के लिए सभा के सदस्य राजा का दर्शन करते थे। कुलशेखरदेव के राजत्वकाल के पाँचवे वर्ष के एक अभिलेख[5] में कहा गया है कि तिरुप्पुत्तुर की सभा के सदस्य राजा के प्रति अपना आदरभाव व्यक्त करना चाहते थे, और इस यात्रा के व्यय के लिए उन्हें धन की आवश्यकता थी। सम्भवतः यह यात्रा सार्वजनिक हित में थी। अतः सभा ने मन्दिर के कुछ खेतों को भाड़े से मुक्त कर दिया और कृषकों से १२० कासु

1. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1917, पृ० 110, पैरा 8।
2. वही, 1909, पृ० 10।
3. वही, 1917, पृ० 27, सं० 408।
4. वही, 1918, पृ० 147।
5. वही, 1909, पृ० 84, पैरा 28।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त किए ।[1]

सभा और राजा के सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध––सभा और राजा के बीच सौहार्द्रपूर्ण सम्वन्धों की चर्चा बहुधा पायी जाती है। एक कवि ने राजा की स्तुति में एक काव्य की रचना की। एक राजाज्ञा के अनुसार सभा को उसे सुनना और उसके गुणों का विचार करना पड़ा। सभा ने उसकी काव्यकृति से सन्तुष्ट होकर उपहार के रूप में उसे भूमि दी।[2] अनेक अभिलेखों[3] में राजा के स्वास्थ्य के लिए अथवा राजा की विजय का उत्सव मनाने के लिए सभा द्वारा भूमिदान अथवा अन्य धर्मकार्य और दानकार्य के किए जाने की चर्चा मिलती है। अलङ्गुडि के एक अभिलेख[4] से हमें ज्ञात होताहै कि राजपरिवार के एक सदस्य के आरोग्य के लिए ग्रामसभा के व्यय से मन्दिर में विशेष प्रार्थनाएं की गयी थीं। एक अन्य अभिलेख[5] में कहा गया है कि सभा ने राजा के साथ मिलकर जलकल खोला तथा ईश्वर का अभिषेक किया।

§ १०

ग्राम सभा के अधिकार और कर्तव्य––हमारे विचार में उक्कल अभिलेख ग्रामसभा के सामान्य अधिकारों और कर्त्तव्यों का बहुत अच्छा परिचय देते हैं। ये लेख निस्संशय रूप से यह सिद्ध करते हैं कि ग्राम निगम पूर्णता की अत्यन्त उच्च स्थिति पर पहुंच

---

1. तुलनीय––**वही**, पृ० 17, सं० 103, 104।
2. **वही**, 1919, पृ० 66, सं० 198।
3. **वही**, 1909, पृ० 26, सं० 195––196; 1916, पृ० 96, पैरा 18।
4. **वही**, 1899, पृ० 20, पैरा 53।
5. **वही**, 1918, पृ० 32, सं० 347।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चुके थे। वे देश के संविधान के अभिन्न अङ्ग माने जाते थे और ग्राम का सम्पूर्ण प्रबन्धकार्य उनके हाथों में सौंप दिया गया था। व्यावहारिक दृष्टि से नयी साफ की हुई भूमि सहित ग्राम की समस्त भूमि पर उनका पूर्ण स्वामित्व था, और वे कर की कुल राशि के लिए सरकार के प्रति उत्तरदायी थे। यदि किसी भूमिखण्ड का स्वामी अपना भाग नहीं देता तो वह (भूखण्ड) निगम की सामान्य सम्पत्ति हो जाता था। निगम को उसे बेचकर कर प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त[1] था (सं० 9, 7,10)। जान पड़ता है कि निगम न्यायकार्य करने के ऐकान्तिक अधिकार का भी प्रयोग करते थे (सं० 12; इस ग्रन्थ का पृ० 151 भी देखिए)।

उक्कल अभिलेखों के सूक्ष्म विवेचन से यह भी ज्ञात हो जाएगा कि निगम अपने संकुचित कार्यक्षेत्र में राज्य की समस्त शक्तियों का प्रयोग करता था। उसकी अपनी सामूहिक सम्पति होती थी (सं० 3, 7, 9, 10) जिसे वह मन्दिर की आवश्यकताओं की व्यवस्था करने (6, 11, 12), जान पड़ता है कि यह उसके कर्तव्यों का एक महत्वपूर्ण भाग था—जैसे सार्वजनिक हित के कार्यों के लिए (3, 7, 9, 10) बेच सकता था। वह सभी प्रकार के सार्वजनिक धर्मादा कार्यों का प्रन्यासी था, और धन (1), भूमि (2, 3, 4, 10, 14) और धान (5, 8) के निक्षेप

1. प्रथम राजेन्द्र चोलदेव के काल के एक अभिलेख में एक अन्य उदाहरण मिलता है। ग्राम सभा ने भूखण्ड के मूल स्वामियों की ओर से जो भूमि पर जमा हुए कर को चुकाए विना उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र रहने को चले गए थे, १५ वर्षों का कर चुकता करके भूखण्ड को सार्वजनिक रूप से नीलाम करके बेच दिया। (**गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट,** 1915, पृ० 8)। अन्य उदाहरणों के लिए देखिये **वही,** 1910, पृ० 92।
2. ये अंक उपरिलिखित अभिलेखों की जनसंख्या का निर्देश करते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनके ब्याज से दाताओं द्वारा नियत वस्तुओं की व्यवस्था करने की शर्त पर स्वीकार करता था। इन धर्मार्थ कार्यों में ब्राह्मण-भोजन (1), मन्दिर में प्रतिष्ठित भगवान् के लिए चावल की व्यवस्था (2), निर्दिष्ट व्यक्तियों के लिए धान की व्यवस्था (4, 5), पुष्पवाटिका का प्रतिपालन (3) नावों की व्यवस्था (10) तथा ब्राह्मणों के लिए जल और अग्निपात्रों की व्यवस्था (14) का समावेश था। निगम बाजार का नियन्त्रण कर सकता था और विशिष्ट पण्यों के विक्रय के लिए विशिष्ट स्थान नियत कर सकता था (6)। वह नियमित रूप से कर लागू कर सकता था (12) तथा सार्वजनिक उपयोगिता के विशिष्ट कार्यों के लिए अतिरिक्त कर भी वसूल कर सकता था। ग्राम के निवासियों से बेगारी लेने का अधिकार भी उसे प्राप्त था (12)। कभी कभी निगम अन्य ग्रामों पर अपने अधिकार का प्रयोग करता था। इस सम्बन्ध में सं० 12 में दिया हुआ उदाहरण मनोरंजक है, क्योंकि उससे यह पता चलता है कि उक्कल के निगम का तीन मील से अधिक दूर स्थित एक ग्राम पर अधिकार था, जिसे उसने सब करों और प्रचलित उपकरों से मुक्त करके स्वतः उक्कल के एक मन्दिर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दान कर दिया था।

§ ११

यातायात और सिंचाई के साधनों की समुचित व्यवस्था—ग्राम निगमों को यातायात और सिंचाई की समुचित व्यवस्था का विशेष ध्यान रखना पड़ता था। उत्तरमल्लूर के एक अभिलेख[1] से ज्ञात होता है कि एक विशेष सड़क पानी के अन्दर डूब गयी थी और फलस्वरूप पशुओं के भी उपयोग के योग्य नहीं रही थी। अतः

1. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1899, पृ० 23।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्राम निगम ने सड़क को चौड़ा करने का निश्चय किया। इस प्रयोजन के लिए ग्राम की रय्यत से खरीदकर भूमि अधिगत करनी पड़ी। भूमि को अधिगत करने तथा नयी सड़क को बनाने का काम 'उद्यान निरीक्षण समिति' को सौंपा गया।

अनेक लेखों में ग्राम निगमों द्वारा हाथ में लिए हुए सिंचाई के कामों की चर्चा मिलती है। इस प्रकार त्रिचनापल्ली जिले से प्राप्त दो अभिलेख[1] ग्रामसभा द्वारा पानी की धारा से इकट्ठी हुई मिट्टी को हटाने के लिए की गई व्यवस्था का उल्लेख करते हैं। प्रतिदिन मिट्टी की 140 डलियाँ तालाब से निकाल कर बाँध पर डालनी पड़ती थीं। कर्मचारियों में छह मजदूरों, एक निरीक्षक, एक बढ़ई एक लोहार और तीन मछुए सम्मिलित थे, जिन्हें धान की नियत राशि दी जाती थी। अनेक प्रकार के लेख व्यक्तियों द्वारा किए हुए धन के दान की, जिसके ब्याज से ग्रामसभा को प्रतिवर्ष पानी की धारा से इकट्ठी हुई मिट्टी को निकालने और बाँध पर डालने की व्यवस्था करनी थी, चर्चा करते हैं। एक दृष्टान्त में सभा ने एक दाता के दानकृत्य पर अपना सन्तोष व्यक्त किया और उसे कुछ विशिष्ट करों से मुक्त कर दिया। एक स्थायी निधि से एक 'दूसरी नाव' को रखने की व्यवस्था की गयी। इसका उपयोग पानी की धार से इकट्ठी हुई मिट्टी को हटाने के लिए किया जाना था। एक अन्य अभिलेख में कहा गया है कि उत्तरमल्लूर की ग्रामसभा ने एक स्थायी निधि स्वीकार की और प्रतिमास स्थानीय तालाब से पानी की धार से एकत्रित मिट्टी को हटाने का प्रबन्ध करने का वचन दिया[2]।

---

1. वही, 1903, सं० 342, 343।
2. तुलनीय—**एन्नुअल रिपोर्ट आफ आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया,** 1903—04, पृ० 206 इत्यादि में प्रकाशित श्री वेंकय्या का लेख जिस पर यह पैराग्राफ मुख्यतः आधारित है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एरिप्पट्टि-जैसे वैयक्तिक दानों से होनेवाली आय तो तालाबों की मरम्मत के काम में ली ही जाती थी, इसी प्रयोजन के लिए एरिआयम् नामक एक नियमित कर भी वसूल किया जाता था[1]। दसवीं शताब्दी के एक चोल अभिलेख[2] में कहा गया है कि ग्रामवासियों ने तालाब की मरम्मत में होनेवाले व्यय में अपना अंश देना स्वीकार किया। ग्राम की 'जलाशय निरीक्षण समिति' जनता से चंदा एकत्रित करती थी और उसने प्रतिवर्ष पानी की धारा से इकट्ठी हुई मिट्टी को हटाना स्वीकार किया।

वैयक्तिक दानों तथा साधारण कर के साथ हाथ सिंचाई के काम के लिए धन प्राप्त करने के लिए सभा अन्य उपायों का अवलम्बन करती थी। उदाहरणार्थ, हमें एक चोल अभिलेख[3] से ज्ञात होता है कि सभा ने एक व्यक्ति से मन्दिर में पूजोपहार तथा मन्दिर में उसी व्यक्ति द्वारा निर्मित सभाभवन में शिवधर्म की व्याख्या के निमित्त १०० कासु की निधि प्राप्त की। सभा ने इस राशि का उपयोग बाढ़ से क्षत विक्षत सिंचाई की नहरों की मरम्मत के लिए किया। एक अन्य अभिलेख से[4] मालूम होता है कि कुछ रय्यत अपने खेतों पर कर नहीं चुका सके। ग्राम सभा ने उनकी ओर से कर की राशि चुकायी तथा जलाशय के हित के लिए उनके खेत तीन वर्ष के लिए अपने अधिकार में ले लिए। यदि बाकीदार इस अवधि की समाप्ति पर अपना ऋण न चुकाते तो उनकी भूमि तालाब के हित में बेची जाने को थी।

---

1. **गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1919, सं० 140, 1919 की सं० 66 भी देखिए।
2. **वही**, 1902, सं० 178।
3. **वही**, 1812, पृ० 16, सं० 214।
4. **वही**, 1898, सं० 61।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सभा को सिंचाई के हेतु व्यक्तिगत भूमि को प्राप्त करने का पूरा अधिकार था, क्योंकि एक चोल अभिलेख[1] से हमें मालूम होता है कि सभा ने उन खेतों के बदले में, जो सद्यः निर्मित तालाब के तल में डूब गए थे, दूसरे खेत दिए।

इन विविध कर्तव्यों का निर्वाह निस्संदेह 'जलाशय निरीक्षण समिति' के प्रत्यक्ष निर्देशन में किया जाता था।

§ १२

कभी कभी भलीभांति सोच विचार कर बनायी हुई सिंचाई योजनाओं का भी असफल हो जाना पूर्णतः स्वाभाविक था और ऐसी दशा में ग्राम दुर्भिक्ष और अभाव से ग्रस्त हो जाता। ऐसे अवसरों पर ग्रामसभाओं के ऊपर बहुत बड़े उत्तरदायित्व आ जाते थे तथा उपलब्ध सामग्री से स्पष्ट है कि वे साहसपूर्वक उनका सामना करती थीं।

दुर्भिक्ष के समय सहायता—राजराज के राजत्वकाल के छठे वर्ष का एक अलङ्गुडि अभिलेख[2] अलङ्गुडि ग्राम के एक भयंकर अकाल पड़ने का उल्लेख करता है। ग्रामवासियों के पास अपने भोजन के लिए धान और खेती के लिए बीज एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं को खरीदने के लिए धन नहीं था। किन्हीं विशेष कारणों से दुर्भिक्ष-ग्रस्त ग्रामवासी अपने संकट में राजकोश से सहायता की आशा नहीं कर सकते थे। तदनुसार सभा ने एक स्थानीय मन्दिर के कोष से मन्दिर के रत्नों और बरतनों के रूप में सोने और चाँदी की एक निश्चित राशि उधार प्राप्त की। इसके बदले में ग्रामसभा के सदस्यों ने $8\frac{3}{4}$ वेलि भूमि ईश्वर के लिए अलग कर दी। इस भूमि की उपज

1. वही, 1907, सं० 84।
2. गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1899, पृ० 20, पैरा 53।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से मन्दिर से प्राप्त सोने और चाँदी पर ब्याज चुकाया जाना था।

एक चोल अभिलेख में यह भी कहा गया है कि सभा ने मन्दिर के कोश से 'दुष्काल' और 'अन्न की दुर्लभता' के कारण धन उधार लिया[1]।

जान पड़ता है कि गम्भीर उत्तरदायित्वों और सभा द्वारा अपने कर्त्तव्यों के निष्ठापूर्वक निर्वाह से सरकार भलीभांति परिचित थी। अतः कभी कभी वह निगमों को इस बात का अधिकार दे देती थी कि वे अपने अधीन प्रदेश की वास्तविक स्थिति को ध्यान में रखते हुए सरकारी करों का नियमन कर सके।

वीर रवि केरलवर्मा के कोल्लम संवत के 410वें वर्ष (शक 1156–1157 अथवा ई० सं० 1234–1235) के मनलिक्करै अभिलेख में इसका एक अत्यन्त स्मरणीय उदाहरण मिलता है। इस लेख का शारांश नीचे दिया जा रहा है।

"वर्ष 410 में वेणाड पर राज्य करनेवाले राजभक्त मुखियों, कोदैनल्लूर की सभा के सदस्यों तथा उस ग्राम की प्रजा और सरकारी कर वसूल करनेवाले अधिकारी कोन्डन् तिरुविक्रमान् के बीच भलीभांति विचार-विमर्श के पश्चात् निम्नलिखित उद्घोषणा प्रसारित की गयी है। इस विचार-विमर्श में हुए समझौते के अनुसार हम आज्ञा और आदेश देते हैं कि सरकारी खेतों से प्राप्त होनेवाला कर, धान के (अमुक अमुक माप के) बराबर माना जाए। अवृष्टि के काल तथा उसके परिणामस्वरूप फसलों के असफल होने पर ग्राम सभा के सदस्य और ग्राम की प्रजा खेतों का निरीक्षण करके यह निश्चय करेंगे कि किन खेतों में खेती नष्ट हुई है और किनमें नहीं। जिन खेतों में फसल नष्ट हो गयी हो उनका कर साधारण करों के पाँचवें भाग के बराबर निर्धारित करना चाहिए।

1. वही, 1914, पृ० 45, सं० 397।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसी प्रकार यदि सभी कर योग्य खेत समान रूप से असफल रहें हों तो सभा के सदस्यों और प्रजा को विभागाधिकारी को इस बात की सूचना देनी चाहिए, और जब उक्त अधिकारी अपने व्यक्तिगत निरीक्षण के बाद इस बात से सन्तुष्ट हो जाए तो समस्त करों का केवल पाँचवा भाग वसूल किया जाएगा। यदि सभा के सदस्य और जनता आपस में सहमत हों तथा मिलकर यह प्रार्थना करें कि कर वसूली का स्थगन ही अधिकांश लोगों के लिए एकमात्र उपाय है तो यह माँग (अर्थात् साधारण कर का पाँचवा भाग) सरकार को कर देने वाले सभी खेतों पर लागू की जाएगी (अर्थात् अगली फसल के समय कर वसूल किया जाएगा) किन्तु बिना ब्याज के[1]।"

§ १३

ग्रामसभा को ग्राम के खेतों और प्रजा पर पूर्ण शक्ति प्राप्त थी—ऊपर § 9 में यह कहा जा चुका है कि अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि ग्राम से सम्बद्ध सब मामलों में ग्रामसभा व्यावहारिक दृष्टि से निरंकुश शक्ति का प्रयोग करती थी जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, वह ग्राम की समस्त भूमि की स्वामिनी थी और खेतों को बेचने[2] तथा उन्हें करमुक्त करने[3] की उसकी शक्ति अनेक लेखों से स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है। ब्रह्मदेय के रूप में ग्राम के मुखिया के पास जो भूमि होती थी, उसे बेचने के लिए उसे ग्राम-सभा की अनुमति लेनी पड़ती थी[4]। एक ऐसा उदाहरण भी मिलता है जिसमें

1. **इण्डियन ऐण्टिक्वेरी**, जिल्द 24, पृ० 308 और आगे।
2. **गवर्नमेण्ट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1904, पृ० 32, सं० 386; 1907, पृ० 16, सं० 71, पृ० 32, सं० 287, 291; पृ० 33, सं० 297।
3. **वही**, 1919, सं० 153, एपि० इण्डि०, जिल्द 3, पृ० 285।
4. **एपि इण्डि०**, 17, पृ० 309।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रानी को सभा से भूमि खरीदनी पड़ी थी[1]। वह सामुदायिक कार्यों के लिए विविध प्रकार के कर और लगा सकती थी और धन उधार ले सकती थी[2]। विक्रम चोल के अभिलेख[3] से सिद्ध होता है कि वह स्वेच्छाचारिणी और निरंकुश न होकर साधारणतः संवैधानिक परम्पराओं तथा अन्य नियमों से नियन्त्रित थी। तिरुनरैयूर की सभा के सदस्यों ने सामुदायिक कार्य पर स्वीकृत राशि की अपेक्षा अधिक व्यय कर दिया, और चूंकि उन्हें जनता पर अतिरिक्त कर लगाने का अधिकार नहीं था, अतः उन्होंने उक्त राशि के बदले में, जो स्पष्ट ही मन्दिर के कोश से दी गयी थी; मन्दिर को भूमि का एक टुकड़ा बेच दिया।

अधोनिर्दिष्ट नियम उस शक्ति का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसका प्रयोग कभी कभी ग्रामसभा सामान्य व्यक्तियों पर करती थी—"जो व्यवित हिसाब किताब, बढ़ईगिरी इत्यादि के कार्यों में कुशल है उन्हें ये काम ग्राम में ही करने चाहिए। जो लोग ग्राम के बाहर अपने को इन कार्यों में लगाएंगे यह समझा जाएगा कि उन्होंने कानून का उल्लंघन किया है, सभा के विरुद्ध अपराध किया है और ग्राम का विनाश किया है[4]। स्थानीय स्वायत्त शासन के संशोधित रूप का संकेत जिला धारवार के सूदी स्थान से प्राप्त ई० 1051 के एक अभिलेख में मिलता है। इसमें उन संघटनात्मक विनियमों का विवरण है जो अधिकारियों की ओर से आठ सेट्टियों (जिनके नाम दिए हैं) तथा 80 गृहस्थों को प्रदान किए गए थे। चोल आक्रमणों के समय ये विनियम भंग हो गए थे। उन्हें नया रूप दिया गया।

---

1. **गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट,** 1905, पृ० 32, सं० 669।
2. **वही,** 1919, पृ० 67, सं० 212 तथा **गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट,** 1918, पृ० 143 से ऊपर दिया हुआ उद्धरण भी देखिए।
3. **वही,** 1909, पृ० 96, पैरा 46।
4. **वही,** 1919, पृ० 66, सं० 205।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन विनियमों के विषय व्यापक थे[8]।

§ १४

ग्रामसभा सार्वजनिक प्रन्यासी तथा स्थानीय बैंकों के रूप में— बहुसंख्यक दक्षिण भारतीय अभिलेखों से पता चलता है कि ग्रामसभा सार्वजनिक प्रन्यासी एवं स्थानीय बैंकों का कार्य करती थी। उक्कल अभिलेखों के सन्दर्भ में हम ऊपर देख आये हैं कि वह धन की निधियाँ रखती थी जिनके ब्याज से वह दाता द्वारा नियत शर्तों का पालन करती थी। ग्रामसभा के इस महत्वपूर्ण कर्तव्य का उल्लेख कुछ अतिरिक्त ब्योरे के साथ एक और स्थान से उपलब्ध प्राचीनतर लेख में मिलता है। पाण्ड्य राजा वरगुण (ई०स० की नवम् शती) के अम्बसमुद्रम् अभिलेख से पता चलता है कि उसने इलङ्गोक्कुडि की सभा के सदस्यों के हाथों में दो सौ नब्बे कासु दिए थे। मूलधन का व्यय नहीं करना था। उसके ब्याज से एक मन्दिर के लिए पूजोपहार की व्यवस्था करनी थी। इस (राशि) पर सभा के सदस्यों को दो 'क्लम्' प्रति 'कासु' की दर से पाँच सौ आठ 'कलम्' धान प्रतिवर्ष ब्याज के रूप में देना पड़ता था। इस (आय) में से भगवान् के सेवकों और सभा की समिति के सदस्यों को संयुक्त रूप से दिन में चार बार प्रसाद की व्यवस्था करनी थी। इस प्रयोजन के लिए व्यवहृत मान का अत्यन्त ब्योरेवार वर्णन किया गया है। वरगुने क्षेत्र में ही तिन्नेवेल्ली जिले के तिरुच्चेन्दूर स्थान में प्राप्त एक लंबा जिभिलेख इससे भी कहीं अधिक रोचक है। उसमें उसी क्षेत्र में बने हुए मंदिर की वार्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राजा द्वारा 17 ग्राम

1. एपि इण्डि०, 15, पृष्ठ 80।
2. एपि० इण्डि०, जिल्द 9, पृ० 84 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सभाओं के पास जमा किए गए धन का उल्लेख है[1]। 959 ई० के एक अभिलेख में जो मद्रास के पास से प्राप्त हुआ था, एक ग्राम सभा को दिए गए 100 स्वर्णनिष्कों के उपहार का उल्लेख है। इस पर तीन माशे प्रति निष्क वार्षिक की दर से ब्याज मिलता था, जिससे प्रतिवर्ष एक तिथि विशेष को एक स्थानीय मंदिर में विशेष पूजा होती थी। इसके लिए जिन-जिन वस्तुओं की व्यवस्था की जानी होती थी, तथा जो रसोइये तथा नौकर रखने होते थे, उनकी एक विस्तृत तालिका अभिलेख में दी हुई है।[2] चोल शासक परन्तक प्रथम के दो अभिलेखों में उसकी पुत्री द्वारा दो ग्रामों की साभाओं (उर) में जमा की गई धनराशि का उल्लेख है, जिससे एक स्थानीय मन्दिर को नित्य तेल भेजा जाता था। जिस दिन ऐसा नहीं किया जाता था, उस दिन के लिए जुर्माना देना पड़ता था।[3] संभवतः ऐसी ही धनराशि के जमा करने का उल्लेख विष्णुगुप्त के एक अभिलेख (8वीं शती) में हुआ है, जिसमें कहा गया है कि एक व्यक्ति ने एक मंदिर को अखण्ड दीप के लिए उसे 'अङ्गार ग्राम (जिला शाहाबाद, बिहार) के गृहस्थों से' खरीदा।[4] 1142 ई० के एक अभिलेख में आया है कि कटक जिला (उड़ीसा) के एक ग्राम-निवासियों ने सन्द नामक प्रधानी (मुखिया) के नेतृत्व में एक मंदिर में अखण्ड दीप के लिए स्वर्ण रूप में देय धर्म प्राप्त किया।[5]

तंजौर मन्दिर के चोल अभिलेखों में ग्रामसभाओं के इस

1. एपि० एण्डि०, 21, पृष्ठ, 101।
2. वही, 27, पृष्ठ 303।
3. वही, 26, पृष्ठ 234–35।
4. वही, पृष्ठ 246।
5. वही, 30, पृष्ठ 91।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार के कार्य के सतरह उदाहरण मिलते हैं[1]। उनके पास जमा की हुई निधि के ब्याज के रूप में उन्हें मन्दिर के लिए धन की निश्चित राशि अथवा नियत परिणाम में धान की व्यवस्था करनी थी।

तंञ्जौर जिला में लालगुडी के 9वीं शती के तीन अभिलेखों में तीन ग्राम सभाओं के पास उक्त ढंग की धनराशियों के जमा करने का उल्लेख मिलता है। उनमें से दो में लिखा है कि यदि ग्राम सभाएँ निर्धारित रूप में घी न प्रदान कर सकें, तो उनके सदस्यों को समूहिक अथवा व्यक्तिगत रूप से जुर्माना देना पड़ेगा। एक अभिलेख के अनुसार यह जुर्माना 216 'कणम्' है तथा दूसरे के अनुसार न दिए गए घी का दुगना तथा जुर्मानि के रूप में स्वर्ण के ५०० 'कणम्'।[2]

एक तमिल अभिलेख[3] इस शर्त पर सभा को भूमि के एक टुकड़े के दान का उल्लेख करता है कि उसे स्थानीय मन्दिर में एक दीपक जलाने की व्यवस्था करनी चाहिए। इस धर्मार्थ कार्य की देखभाल 'वार्षिक जलाशय निरीक्षण समिति' को सौंप दी गई थी। एक अन्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि सभा ने प्रतिदिन पाँच ब्राह्मणों को भोजन कराने की शर्त पर 75 कलञ्जु सोना प्राप्त किया[4]। हुल्श द्वारा प्रकाशित तिरुक्कोवालुर मन्दिरों के चौदह अभिलेखों[5] में से छह निश्चित धर्मार्थ कार्य करने की शर्त पर सभा के पास धन और धान की निधियों को जमा करने का उल्लेख करते है।

कभी कभी सभा स्थिर निधि प्राप्त करती थी और उसके

---

1. **साउथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स,** जिल्द 2, सं० 9—19, 25–28, 35, 54।
2. **एपि० इण्डि०,** 20, पृ० 52।
3. **गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट को रिपोर्ट** 1905, पृ० 33, सं० 685।
4. **वही,** 1919, सं० 155।
5. **एपि० इण्डि०,** जिल्द 7, पृ० 138 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्याज के रूप में कुछ खेतों, विशेषतः मन्दिर के खेतों पर, कर चुकाती थी। इस प्रकार के एक ज्ञात उदाहरण में स्थानीय मन्दिर के एक भक्त ने चन्दे 160 कासु एकत्रित कर मन्दिर की भूमि को करमुक्त करने की शर्त पर सभा के पास जमा कर दिए।[1] इसी प्रकार के एक और दृष्टान्त में सभा ने बाजार खोले गए स्टालों से कर वसूल करने की अधिकार एक स्थानीय मन्दिर को बेच दिया[2]। तिरुना-मनल्लूर के दो लेखों[3] में इस शर्त पर सभा को 100 'अमर (और) अजर' बड़ी भेड़ों के दान का उल्लेख है कि वह स्थानीय मन्दिर में दीपक जलाने के लिए नियत परिणामों में घी का प्रबन्ध करे। 'अजर' और 'अमर' इन विशेषणों का अभिप्राय यह है कि उन भेड़ों के मर जाने अथवा दूध देना बन्द कर देने पर उनके स्थान पर दूसरे मेमनों के, जो इस बीच वयस्क हो चुके हों, रखना पड़ता था।

कभी-कभी प्रजा सभा द्वारा स्वीकृत निधियों का अनुमोदन करती थी। राजराज चोल के एक अभिलेख[4] से विदित होता है कि एक बनिया ने धन की राशि का दान किया, जिसके सूद से सभा एवं तिरुविडवन्दै के निवासियों को स्थायी दीपक के लिए तेल का प्रबन्ध करना था। कभी-कभी इन निधियों में दुहरे लेन देन की व्यवस्था रहती थी। हमें एक चोल अभिलेख[5] से विदित होता है कि एक व्यापारी ने तैयूर के निवासियों को इस शर्त पर धन की एक राशि दी कि वे मन्दिर में एक दीपक जलाने और 35 ब्राह्मणों को भोजन कराने के लिए तिरुविडवन्दै की सभा को तेल और धान के रूप में ब्याज दें।

1. **गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1918, पृ० 150।
2. **वही**, 1911, पृ० 32, सं० 321।
3. **एपि० इण्डि०**, जिल्द 7, पृ० 137।
4. **गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1911, पृ० 27, सं० 261।
5. **वही**, पृ० 28, सं० 267।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं जिनमें दक्षिण भारतीय लेख ग्रामसभाओं को सार्वजनिक प्रन्यासी तथा स्थानीय बैंकों के रूप में चित्रित करते हैं। उनकी संख्या इतनी अधिक है कि विस्तारपूर्वक उनकी चर्चा करना सम्भव नहीं है।

§ १५

ग्रामसभा एवं स्थानीय मन्दिर के पारस्परिक सम्बन्ध—ग्रामसभा तथा स्थानीय मन्दिर के अधिकारियों के बीच घनिष्ट और बहुधा सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध था। 'ब्रह्मदेयों' एवं मिन्दर को सौंपे गए ग्रामों के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से लागू होती है। राजराज के एक अभिलेख[1] के अनुसार ऐसे ग्रामों के निवासियों को तंजौर के मन्दिर के लिए निम्नलिखित अधिकारियों की व्यवस्था करनी पड़ती थी: (1) मन्दिर के कोशाध्यक्ष, ऐसे ब्राह्मण जो भूमि, सम्पर्क और पूँजी की दृष्टि से सप्पन्न हों, (2) ब्रह्मचारी, मन्दिर के सेवक, तथा (3) (मन्दिर का) हिसाब लिखने के लिए मुनीम। इस राजा के तंजौर अभिलेखों में एक सौ चवालीस (144) ग्रामसभाओं का, जिन्हें मन्दिर के सेवकों के रूप में ब्रह्मचारियों की व्यवस्था करनी थी, और एक सौ पाँच (105) अन्य ग्रामसभाओं, का जिन पर मन्दिर के लिए चौकीदार जुटाने का भार डाला गया था, नाम सहित उल्लेख पाया जाता है।[2]

हम पहले ही देख चुके हैं कि ग्रामसभा तथा मन्दिर के अधिकारी किस प्रकार उत्साहपूर्वक अपने-अपने अधिकारों की रक्षा

1. **साउथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स**, जिल्द 2, पृ० सं० 69।
2. **वही**, जिल्द 2, सं० 57,70 ('यह निश्चित नहीं है कि सं० 57, जिसमें 105 में से 13 ग्रामों का उल्लेख पाया जाता है, राजेन्द्र चोलदेव का है या नहीं)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करते थे और यदि उनमें से कोई अपने विशिष्ट कर्त्तव्यों की अवहेलना करता तो वे एक दूसरे के विरुद्ध राजा के सामने शिकायत करते थे। एक दृष्टान्त में हम सुनते हैं कि मन्दिर के भाण्डागार की बागडोर सभा के कुछ सदस्यों के हाथों में थी।[1]

ग्रामसभा द्वारा स्थानीय धार्मिक और दानसम्बन्धी संस्थाओं का समुचित रूप से प्रतिपालन—किन्तु साधारणतः ग्राम निगम मन्दिरों तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं की देखभाल के अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह समझते थे। एडयारपाक्कम् से उपलब्ध एक अभिलेख[2] इसका एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। एक ब्राह्मण स्त्री ने ग्रामवासियों से भूमि का एक टुकड़ा खरीदकर उसे एक स्थायी दीपक की व्यवस्था के लिए एक मन्दिर को दे दिया। वह भूमि सिंचाई के अयोग्य पाई गई और कोई व्यक्ति उसमें खेती करने के लिए तैयार नहीं हुआ। परिणामस्वरूप दीपक को बन्द करना पड़ा और सम्भवतः मन्दिर के प्रन्यासियों ने ग्रामवासियों से प्रार्थना की कि वे उस भूमि को, जिसे कि एक समय उन्होंने उक्त ब्राह्मण स्त्री को बेचा था, अपने प्रबन्ध में वापस ले लें तथा उसके स्थान में दीपक की व्यवस्था के लिए आवश्यक संख्या में गऊएँ दें। यह प्रार्थना स्वीकार कर ली गई और भूमि वापस ले ली गई।

सभा कई बार मन्दिरों के खेतों की मालगुजारी कम कर देती थी और कभी कभी तो उनसे प्राप्य करों को माफ कर देती थी।[3]

1. **एपि० इण्डि०,** जिल्द 7, पृ० 145।
2. **गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट,** 1911, पृ० 73, पैरा 28।
3. **वही,** 1919, सं० 429, 438, (पृ० 37), 430 (पृ० 37), 508 (पृ० 42), 1905, पृ० 28, सं० 553; 1909, पृ० 33, सं० 292—294।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक चोल अभिलेख में तो यहाँ तक कहा गया है कि मन्दिर की सम्पत्ति पर कर वसूल न किए जाएं।[1]

कभी-कभी सभा मन्दिरों में मालाओं[2] एवं अन्य वस्तुओं[3] की नियमित व्यवस्था के लिए खेतों को दान में देती थी। वह स्थानीय मन्दिरों में दीपक जलाने[4] और भजनों के गाने[5] का भी प्रबन्ध करती थी। ऐसे अनेक दृष्टान्तों का उल्लेख मिलता है जिससे यह स्पष्ट है कि या तो सभा स्वयं भूमि का दान कर देती थी या अन्य लोगों को मन्दिर के लिए भूमि खरीदने में सहायता देती थी।[6]

एक अदभुत संस्था—ग्रामसभा शैक्षणिक तथा धर्मादा संस्थाओं की, जो अधिकांश में स्थानीय मन्दिरों से सम्बद्ध होती थीं, व्यवस्था भी करती थी। राजेन्द्र चोल (ई० स० 1025 के आसपास) के समय का एक अभिलेख[7] इस प्रकार की गतिविधि का एक स्मरणीय उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस लेख में यह कहा गया है कि राजा के शस्त्रों की सफलता के उद्देश्य से राजराजचतुर्वेदिमङ्गल की सभा ने राजराज-विण्णगर के मन्दिर में भगवान् के निमित्त निम्न-निर्दिष्ट बातों का प्रबन्ध किया। जैसा कि अधोलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाएगा, ये धर्मार्थ कार्य मुख्यतः एक छात्रावास तथा वेदों के अध्ययन के लिए खोले गए एक विद्यालय की व्यवस्था

1. वही, 1915 सं० 133, पृ० 21, 97।
2. **गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1918, पृ० 150।
3. **वही**, 1907, पृ० 13, सं० 43; पृ० 40, सं० 422; 1908, पृ० 44–45, सं० 489—492।
4. **वही**, पृ० 25, सं० 246।
5. **वही**, 1909, पृ० 47, सं० 423; 1915, पृ० 21, सं० 129।
6. **वही**, पृ० 32, सं० 374, 375, 378–380। 1918 की सं० 405 1919 की सं० 30 भी देखिए।
7. **वही**, 1918, पृ० 145 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए अभिप्रेत थे।

(१) मन्दिर में तिरुवाय्मोलि स्तोत्रों के पाठ के लिए चार ब्राह्मण नियुक्त किए गए थे। उनको प्रतिदिन तीन कुरणि धान दिया जाता था। इसमें होने वाले व्यय की पूर्ति के लिए ½ वेलि और 2 मा भूमि दी गई थी।

(2) उसी मन्दिर से सम्बद्ध मठ में पच्चीस श्री वैष्णवों को भोजन कराने के लिए एक वेलि और चार मा भूमि नियत की गई थी।

(3) सात दिन तक चलनेवाले आनि-अनुलम् नामक पर्व के अवसर पर एक हजार वैष्णवों तथा उत्सव देखने के लिए आनेवाले दासों (भक्तों) को भोजन कराने के लिए साठ कलम् धान और तीन कलञ्जु सोना भी दिया गया था।

(4) यात्रा में भगवान् को रथ में बैठाकर ग्राम के चारों ओर ले जाने, इस अवसर पर संन्यासियों को वस्त्र देने तथा भगवान् को पहिनाने के लिए वस्त्र खरीदने में होने वाले व्यय की पूर्ति तथा प्रसाद, स्नान और पूजा और कुछ धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान के लिए ½ वेलि 2 मा भूमि और कुछ सोना दिया गया था।

अधोलिखित छात्रों को भोजन कराया जाता था :

(क) पचहत्तर ऋग्वेद के अध्येता,
(ख) पचहत्तर यजुर्वेद के अध्येता,
(ग) पच्चीस छान्दोग-साम अध्येता,
(घ) बीस तलवकार-साम के अध्येता,
(ङ) बीस वाजसनेय के अध्येता,
(च) दस अथर्व के अध्येता,
(छ) दस बौधायन गृहकल्प एवं गण के अध्येता।

इस प्रकार कुल 230 ब्रह्मचारी उपर्युक्त वेदों का अभ्यास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करते थे। चालीस विद्यार्थी रूपावतार का अध्ययन करते थे। इस प्रकार कुल मिलाकर 270 विद्यार्थी थे। इनमें से प्रत्येक को प्रतिदिन छह नालि धान दिया जाता था।

इनके अतिरिक्त (ज) पच्चीस व्यक्ति व्याकरण का, (झ) पैंतीस प्रभाकर का और (ञ) दस वेदान्त का अध्ययन करते थे। इन सत्तर छात्रों के लिए प्रति व्यक्ति प्रतिदिन एक कुरणि और दो नालि के हिसाब से धान का प्रबन्ध किया गया था।

व्याकरण का अध्यापन करने वाले नम्बि को प्रतिदिन एक कलम्, प्रभाकर का अध्यापन करनेवाले को एक कलम् तथा वेदान्त पढ़ाने वाले को एक कलम् और एक तूणि धान मिलता था।

वेदों के अध्यापन के लिए दस अध्यापक नियुक्त किए गए थे। उनका विवरण इस प्रकार है :

तीन ऋग्वेद के अध्यापन के लिए,
तीन यजुर्वेद के अध्यापन के लिए,
एक छान्दोग्य पढ़ाने के लिए,
एक तलवकार-साम पढ़ाने के लिए,
एक वाजसनेय के अध्यापन के लिए, और
एक बौधायन, गृह एवं कल्प तथा काठक का अध्यापन करने के लिए।

उक्त अध्यापकों के शुल्क का विस्तृत विवरण दिया गया है, और ऐसा प्रतीत होता है कि कुल मिलाकर $61\frac{1}{2}$ कलञ्जु सुवर्ण और धान के लिए, जो इस विशाल संस्थान को चलाने के लिए आवश्यक थे, 45 वेलि भूमि मन्दिर के अधिकार में दे दी गई थी।

कभी-कभी सभा दूसरों के द्वारा स्थापित धर्मार्थ संस्थाओं का संचालन करती थी। एक अभिलेख से हमें विदित होता है कि राजेन्द्र चोल के एक सेनापति ने राजा की स्वास्थ्य-प्राप्ति के निमित्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जो धर्मार्थ संस्था स्थापित की थी उसकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए त्रिभुवन-महादेवि चतुर्वेदि-मङ्गलम् की सभा ने भूमि खरीदी थी। कुल 72 वेलि भूमि खरीदी गई थी। इससे वार्षिक शुल्क के रूप में 12,000 कलम् धान मिलता था, जिससे निम्न-निर्दिष्ट बातों की व्यवस्था की जाती थी :

(1) बड़े पैमाने पर पूजा, प्रसाद इत्यादि,
(2) उत्सव मनाना और वैष्णवों को भोजन कराना,
(3) 12 वैदिक अध्यापकों को भोजन कराना,
(4) अन्य विषयों के 7 अध्यापकों को भोजन कराना,
(5) 190 वैदिक विद्यार्थियों को भोजन कराना, तथा
(6) 70 अन्य विद्यार्थियों को भोजन कराना।

तीन निर्दिष्ट करों को छोड़कर भूमि अन्य सभी प्रकार के करों से मुक्त कर दी गई थी और छात्र एवं अध्यापक कुछ विशिष्ट करों और दायित्वों से मुक्त कर दिए गए थे[1]।

कुछ ऐसे दृष्टान्तों का भी उल्लेख मिलता है जिनमें भोजन-सत्र को चलाने के लिए सभा ने भूमि बेच दी[2]। इस प्रकार के उदाहरण बहुत बड़ी संख्या में प्रस्तुत किए जा सकते हैं, किन्तु उपर्युक्त उदाहरण सभा के लोकोपकारी कार्यों का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं।

§ १६

ग्रामसभा ग्राम के रक्षक के रूप में—तिरुप्पुतूर के दो अभिलेखों[3] से ग्राम की सुरक्षा के सम्बन्ध में ग्राम निगमों के उत्तर-

1. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट 1919, पृ० 96, पैरा 18।
2. वही, 1919, पृ० 61, सं० 151–152।
3. वही, 1909, पृ० 82–83, पैरा 27।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दायित्व पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । पड़ाव डाले हुए मुसलमानों ने ग्राम के एक मन्दिर को अपने अधिकार में ले लिया था । यह घटना सम्भवतः दक्षिण भारत पर उनके प्रथम धावे के समय की है । इसके परिणामस्वरूप ग्रामवासी व्यग्र हो गए । ऐसे समय में विशालय-देव नामक एक व्यक्ति ने मन्दिर की पुनः प्रतिष्ठा की और स्पष्ट रूप से लोगों को आसन्न नैतिक और धार्मिक अधःपतन से बचाया । ग्रामवासियों ने स्वयं अपनी इच्छा से आपस में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा काटी हुई फसल में से अनाज का एक निश्चित भाग देकर तथा मन्दिर में कुछ विशेषाधिकार देकर विशालयदेव के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने का निश्चय किया । दूसरे लेख से विदित होता है कि तिरुप्पुतूर के निगम ने दो वर्ष पूर्व माधव चक्रवर्ती नामक व्यक्ति को पाडिक्कावल का अधिकार दे दिया था । सम्भवतः इस शब्द का अर्थ है (बाहरी लोगों से) ग्राम की रक्षा करना । सम्भवतः मुस्लिम आक्रमण के भय के कारण ही ग्राम निगम इस कदम को उठाने के लिए बाध्य हुआ होगा ।

मदकसिर तालुक के नवीं से सतरवीं शती तक के सुदीर्घ काल के बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त अभिलेखों से जान पड़ता है कि ग्राम-भक्तों और ग्राम के हित में उनके वीरता पूर्ण त्याग के लिए लोगों ने हृदय में समानरूप से अत्यधिक आदरभाव था । इनमें से कुछ लेखों में प्राप्त विवरण अत्यन्त मनोरंजक है । हरति के मुखिया ने शत्रुओं को दो या तीन विनाशकारी धावों के समय सफलता पूर्वक ग्राम की रक्षा करने के बदले एक व्यक्ति को एक खेत दिया । ई० स० 966 के आसपास अय्यपदेव के सेवक एरेग ने चोलों के साथ सफलतापूर्वक युद्ध किया जिसके फलस्वरूप पेन्जेरु के सब लोगों ने उसकी प्रशंसा की । रक्तपात से सम्बन्धित कुछ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य दानों के भी उल्लेख[1] मिलते हैं। यह रक्तपात सम्भवतः ग्राम अथवा समुदाय की रक्षा के हेतु किया गया था। पुनः, मुरुदाडु से प्राप्त प्रथम राजराज के आठवें वर्ष के एक अभिलेख में कहा गया है कि विनाश से अपने ग्राम की रक्षा करने के कार्य में कलिप्पेरुमाण् नामक व्यक्ति ने अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया। उस प्रदेश के कृतज्ञ निवासियों ने हुतात्मा की पुण्य-प्राप्ति के उद्देश्य से स्थानीय मन्दिर में एक दीपक स्थायी रूप से जलाने की व्यवस्था की[2]। ऐसे सौ पान बेचने वालों का उल्लेख भी मिलता है, जिन्होंने उस स्थानीय योद्धा की स्मृति में अनुदान दिए, जिसने उनकी गायों की उस समय रक्षा करते हुए अपने प्राण गँवाए, जब डाकू उन्हें खेदे लिए जा रहे थे।[3]

तिरुमेय्ञ्ानम् से उपलब्ध एक अभिलेख[4] ग्रामवासियों की सामुदायिक भावनाओं के सम्बन्ध में एक मनोरंजक सूचना देता है। नालूर की सभा ने अपने ग्राम में इमली के वृक्ष की छाया में एकत्रित होकर यह निश्चय किया कि ग्राम के निवासियों को अपने ग्राम अथवा तिरुमयानम्-उडैयार के मन्दिर तथा इस प्रकार की इतर संस्थाओं के हितों के विपरीत कोई कार्य नहीं करना चाहिए। और यदि उन्होंने ऐसा किया तो उन्हें वही दुःख मिलेगा जो ग्राम-घातियों को मिलता है, तथा जो लोग इस निश्चय के विपरीत आचरण करेंगे, उन्हें शिवस्पर्श के विशेषाधिकार इत्यादि से वञ्चित कर दिया जाएगा।

शत्रु राजा भी ग्राम के नैगम स्वरूप को मान्यता प्रदान

---

1. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट 1917, पृ० 114, पैरा 18।
2. वही, 1913, पृ० 96, पैरा 21।
3. एपि० इण्डि०, 16, पृष्ठ 75।
4. वही, 1911, पृ० 75, पैरा, 30

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करते थे। इस प्रकार एक कुम्भकोणम् अभिलेख में कहा गया है कि जब प्रथम परान्तक ने मदुरा को जीत लिया तो कुम्भकोणम् सभा के सदस्यों से उसने 3,000 कलञ्ज सोना वसूल किया। लेख में यह भी कहा गया है कि सदस्यों ने उपर्युक्त परिमाण में स्वर्ण देना स्वीकार कर लिया था[1]। प्रथम कुलशेखर के राजत्वकाल के 36वें वर्ष के एक तिरुपत्तूर अभिलेख[2] से ज्ञात होता है कि वल्लुवनाडाल्वान् नामक एक व्यक्ति ने ग्राम पर अधिकार कर लिया था। आक्रान्ता ने ग्रामसभा के सदस्यों और दो अन्य व्यक्तियों से अपनी कुछ शर्तें मानने के लिए कहा। उन्होंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और अनेक लोगों ने ग्राम छोड़ दिया। सभा के उन सदस्यों को जो उसे मिल सके और दो साधारण व्यक्तियों को उसने इस आशा से मिन्दिर में बन्द कर दिया कि वे लोग उसकी बात मानने के लिए बाध्य हो जाएंगे। बाद में राजा ने स्थित को संभाल लिया। किन्तु यह बात कि एक आक्रमणकारी ने सभा को अपने आदेश मानने के लिए बाध्य किया, यह सूचित करती है कि ग्राम का सामूहिक स्वरूप संविधान का इतना अभिन्न अङ्ग था कि किसी भी व्यक्ति के लिए, चाहे वह शत्रु हो या मित्र, इसकी उपेक्षा करना असम्भव था।

§ १७

विस्तृत प्रदेशों की जनता की सामूहिक गतिविधि—छोटी स्थानीय इकाइयों में विद्यमान अत्यन्त संगठित निगमों के अतिरिक्त दक्षिण भारत के लोगों की सामूहिक प्रवृत्ति अनेक अवसरों पर अपेक्षाकृत विस्तृत प्रदेशों के निवासियों की मिली जुली गतिविधियों के रूप में प्रभावजनक रूप से व्यक्त होती थी। उदाहरणार्थ, एक पल्लव

---

1. वही, 1912, पृ० 63, पैरा 15।
2. वही, 1909, पृ० 83, पैरा 28।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेख[1] में आविनै नदी के उत्तर और पेण्णी नदी के दक्षिण के प्रदेश के निवासियों के बीच एक समझौता होने का उल्लेख है। प्रादेशिक महासभा का, जिसकी बैठकें राजभवन में होती थीं, और जिसमें अन्य लोगों के साथ साथ 'सोलह में से आठ जिलों' का प्रतिनिधित्व था, भी उल्लेख मिलता[2] है। बहुधा साधारण धर्मभावना इन सामूहिक गतिविधियों के मूल में रहती थी। प्रथम कुलोत्तुङ्ग के राजत्वकाल के कुडुमियामलै अभिलेख[3] (ई० स० 1005–6) में इसका एक अच्छा उदाहरण मिलता है। इसमें कहा गया है कि रट्टपादिट्कोण्ड-चोल-वलनाडु (जिसमें मुदुकोत्ताई राज्य का एक बड़ा भाग शामिल था) नामक प्रदेश के निवासियों ने दो व्यक्तियों (स्पष्ट रूप से ब्राह्मणों) से यह समझौता किया कि वे उक्त प्रदेश में आयात किए गए पान के पत्तों पर दस्तूरी वसूल करें और इससे होनेवाली आय में से प्रतिवर्ष 30,000 सुपारियों और पान की 7550 गाँठों की व्यवस्था एक विशिष्ट मन्दिर के लिए करें। उक्त प्रदेश के निवासी तथा इस प्रदेश के सेना (पडै) के पाँच सौ निर्दोष पुरुष इस प्रबन्ध का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त किए गए थे। इससे भी अधिक मनोरंजक बात उस समझौते की है जिसे एक नाडु के बड़े संभाग में रहने वाले 'सात सौ' व्यक्तियों, ग्रामीणों, नगरनिवासियों तथा एक विस्तृत क्षेत्र के स्थानीय जमींदारों ने, एक मंदिर को चावल प्रदान करते रहने और उसमें अखंड दीप के लिए किया था[4]।

जटावर्मा वीरपाण्ड्य के 10वें वर्ष के एक कामरसवल्लि

---

1. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1907, पृ० 18, सं० 96।
2. एपि० इण्डि०, जिल्द 5, पृ० 23।
3. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1905, पृ० 52, पैरा 17।
4. एपि० इण्डि०, 16, प० 342।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेख[1] में इस प्रकार के संगठन और ऐक्य का एक और उदाहरण मिलता है। इसमें कहा गया है कि 79 जिलों के 18 उपविभागों के निवासियों ने मिलकर कुछ विशिष्ट पण्यों से होने वाली आय को मन्दिर की मरम्मत के कार्य के लिए अलग रखने का निश्चय किया।

दक्षिण भारतीय अभिलेखों में इस प्रकार की गतिविधियों के कुछ और उदाहरण भी पाए जाते हैं। मनगोलि अभिलेख[2] में कहा गया है कि अय्यवोले के पांच सौ स्वामी, मणिङ्गवल्लि के पाँच सौ महाजन, उस स्थान के सेट्ठि, नकर, माल लादने का व्यवसाय करनेवाले सेट्ठि पान पत्तों के गात्रिग, तेलियों की श्रेणि, तर्दवाडि 1000 के आटे और मथानी का मुद्रांकक अनेक प्रदेशों के गवरे, मुम्मुरिदण्ड, आठ प्रदेशों के सोलह व्यक्ति इत्यादि स्थानीय मन्दिर के आवश्यक व्यय तथा प्रचलित धार्मिक क्रियाओं का प्रबन्ध करने के लिए एकत्रित हुए। होय्सल वीर वल्लाल के एक अभिलेख[3] में इस बात का उल्लेख है कि एक मन्दिर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एलुगरै-नाडु के निवासियों ने भूमि का दान किया। राजेन्द्र चोल के एक अभिलेख[4] से हमें विदित होता है कि तीन प्रदेशों के निवासियों ने एक मन्दिर के एक सेवक को भूमि का पट्टा दिया। पुनः, प्रथम परान्तक का एक अभिलेख[5] सूचित करता है कि एक प्रदेश के निवासियों ने एक विशेष मन्दिर में, पूजा के प्रबन्ध के लिए अपनी इच्छा से शुल्क दिया। शुल्क का विवरण इस प्रकार दिया गया है : प्रत्येक कृषक पर $\frac{१}{२}$ पणम्, प्रत्येक विवाह संस्कार में वर से $\frac{१}{३}$ पण्म और वधू से $\frac{१}{३}$

1. वही, 1915, पृ० 104, पैरा 36।
2. एपि० इण्डि०, जिल्द 5, पृ० 23।
3. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1907, पृ० 42, सं० 444।
4. वही, 1909, पृ० 57, सं० 591।
5. वही, 1911, पृ० 69।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पणम् इत्यादि । एक अन्य अभिलेख[1] से पता चलता है कि एक प्रदेश के निवासियों ने एक मण्डप में एकत्रित होकर नदी के किनारे बाँध बनाने तथा एक मन्दिर को बाढ़ से किसी भी प्रकार की क्षति रोकने के लिए प्रत्येक ग्राम से 1 मडै एकत्र करने का निश्चय किया । एक पाण्ड्य अभिलेख[2] में चार प्रदेशों के कृषकों द्वारा सर्वसम्मति से एक मन्दिर को धान की एक निश्चित राशि देने का उल्लेख मिलता है ।

कुछ धर्म से असम्बद्ध कारण भी इस प्रकार के सामूहिक कार्यों के मूल में थे ।जटावर्मा सुन्दर पाण्डय् के बारहवें वर्ष के एक लेख[3] में लिखा है कि इरण्डुमलै-नाडु के सरदारों ने कुण्णाण्डार्कोयिल के मुखिया को यह वचन दिया कि जब कभी वे शस्त्र उठाएंगे और परस्पर एक दूसरे से युद्ध करेंगे तो वे न तो अपने संरक्षण में विद्यमान ग्रामों का नाश ही करेंगे और न स्थायी अथवा अस्थायी कृषकों को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाएंगे । किन्तु इस पर भी यदि किसी व्यक्ति को क्षति पहुँचे तो वे 100 पणम् अर्थदण्ड के रुप में देंगे और यदि कोई ग्राम बरबाद हो तो 500 पणम् दण्ड देंगे । यह सब करते हुए भी उन्होंने (ग्रामों और कृषकों) की रक्षा करना स्वीकार किया, भले ही वे अपने पारस्परिक युद्ध में मार-काट क्यों न करें । यहाँ भी हमें किसी एक निगम का नहीं, अपितु ग्रामों के संगठन का उदाहरण मिलता है ।

नीचे परिस्थितियों की विविधता से प्रेरित इस प्रकार के सामूहिक कार्यकलापों के कुछ और उदाहरण दिए जा रहे हैं, जिनसे उनका व्यापक स्वरूप स्पष्ट होगा ।

---

1. वही, 1912, पृ० 35, सं० 424 ।
2. वही, 1912, पृ० 47, सं० 12 ।
3. वही, 1 915, पृ० 103, पैरा 34 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तिरुक्कलाक्कुडि के एक लेख[1] में चार जिलों (नाडु) के मध्य हुए एक समझौते का उल्लेख है। इसके द्वारा उन्होंने भस्म प्राप्त करने, भगवान् का रथ खींचते समय उसकी रस्सियों को थामने, भगवान् की पूजा तथा विनायक के सामने नारियल फोड़ने के सम्बन्ध में पौर्वापर्य का निर्णय किया।

वीर पाण्ड्यदेव के एक तमिल अभिलेख[2] से पता चलता है कि दो नाडुओं के निवासियों ने चार कुलों को कतिपय दायित्वों से मुक्त करने का निर्णय किया। एक अन्य लेख[3] में किसी भूमि के क्षेत्रफल में संशोधन करने के लिए एकाम्बरनाथर के सभापतित्व में अठारह विभागों के निवासियों की एक सभा के आयोजन का उल्लेख है। एक अन्य लेख[4] से हमें ज्ञात होता है कि कृष्णा नदी के दोनों ओर स्थित अठारह जिलों के विभिन्न निवासियों ने निश्चय किया कि प्रत्येक नाव पर एक बड़ा फनम् कर के रूप में दिया जाना चाहिए। एक अन्य लेख[5] के कथनानुसार 12 ग्रामों के किसानों ने भारी कर के विरोध में अपने खेत छोड़ दिए जिसके परिणामस्वरूप कर नियमित किए गए।

इस प्रकार के सामूहिक कार्यों के अन्य उदाहरण ग्रामसभा की न्यायिक शक्तियों के सम्बन्ध में ऊपर पृ० 151 पर दिए जा चुके हैं।

---

1. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1916, पृ० 125।
2. वही, 1910, पृ० 21, सं० 184।
3. वही, 1913, पृ० 72, सं० 28।
4. एपि० इण्डि०, जिल्द 3, पृ० 92।
5. गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, 1914, पृ० 74, सं० 26।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

§ १८

एक ग्राम से बड़ी प्रादेशिक इकाइयों के सामूहिक संगठन—इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि कभी कभी ये अस्थायी कार्यकलाप अधिक विस्तृत प्रदेशों के सामूहिक संगठन में सहायक होते थे। नन्दिवर्मा के उदयेन्दिरम् ताम्रपट्ट[1] के तमिल समर्थन में दो ग्राम निगमों के स्थायी संघ का स्पष्ट उदाहरण मिलता है। राजा प्रथम परान्तक(ईसा की दूसरी सदी) के 26वें वर्ष में उत्कीर्ण यह अंश इस प्रकार है : "हम, काञ्चिवयिल की सभा (के सदस्य) और हम उदयचन्द्रमङ्गलम् के सभा (के सदस्य) : हम, इन दो ग्रामों के निवासी मिलकर (और) एक होकर आज से एक ग्राम के रूप में समृद्ध होंगे"।

तृतीय कुलोत्तुंग के राजत्वकाल के तिरुवरङ्गुलम् मन्दिर के एक लेख में सम्पूर्ण जिले (नाडु) के एक संगठन का उल्लेख मिलता है। देश की अशान्त परिस्थित में वाल्लनाडु नामक उपविभाग के निवासियों की सभा ने यह घोषणा की कि आगे वह तिरुवरङ्गुलम् नामक पवित्र ग्राम की चार सीमाओं एवं (उसके) देवदान ग्रामों में रहनेवाले किसानों को शरण देगी। यदि इस संरक्षण के काल में सभा का कोई सदस्य किसानों को लूटता, उनकी गायों को पकड़ता अथवा उनके साथ अन्य किसी प्रकार की शरारत करता हुआ पाया जाता तो इस अपराध के दण्ड के रूप में सभा ने मन्दिर को दो या तर भूमि देना स्वीकार किया[2]। हग्गडे (मुखियों ?) और सामन्तों की एक प्रादेशिक सभा का उल्लेख भी एक लेख में पाया जाता है[3]। 'नाडु के निर्दोष पाँच सौ' 'और नाडु का मुखिया' की चर्चा भी मिलती

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 3, पृ० 144।
2. **गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट**, 1915, पृ० 99, पैरा 27, सं० 271, 273, पृ० 31।
3. वही, 1919, पृ० 17, सं० 209।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है[1]। इन सब बातों से हम इस निष्कार्ष पर पहुँचते हैं कि कम से कम कुछ दृष्टान्तों में सम्पूर्ण उपविभाग अथवा जिले का अथवा लोगों के ऐसे विशाल समुदाय का एक स्थायी संगठन था। इससे भूमिदान के सम्बन्ध में पाए जानेवाले कानूनी वक्तव्यों का स्पष्टीकरण सहज हो जाता है। उदाहरणार्थ, द्वितीय पृथ्वीपति के उदयेन्दिरम् के दान-पत्र[2] में निम्नलिखित वक्तव्य दृष्टिगत होता है : तदनुसार "जिले (नाड्) के (निवासियों) ने एकत्रित होकर, (उन्हें दान दी हुई) भूमि (की सीमाएं) पार कराकर···इत्यादि"। यह स्पष्ट है कि यहाँ जिले के सब निवासियों की कल्पना नहीं की जा सकती, किन्तु आशय केवल उनके प्रतिनिधियों से प्रतीत होता है। जिले के ऐसे निवासियों के उल्लेख मिलते हैं जो भूमि-अनुदान संबंधी राजकीय आदेशों को प्राप्त करते थे और उन्हें क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक कार्यवाहियाँ करते थे। यह निश्चय जिले का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों के एक छोटे वर्ग का द्योतक है[3]। 1143–44 ई०) के मिराज अभिलेख में "सभी जिलों की (जिलों के नाम दिए हुए हैं) साधारण जनपद-समिति" का भी उल्लेख है।[4] राजराज चोल के एक अभिलेख में बारह नाडुओं की महासभा की चर्चा मिलती[5] है। और पश्चिमी चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल के एक लेख में विभिन्न स्थानों के 32,000 प्रतिनिधियों का उल्लेख पाया जाता है।[6]

---

1. साउथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स, खण्ड 2, भाग 3, पृ० 360।
2. वही, पृ० 389।
3. एपि० इण्डि०, 18, पृ० 124।
4. वही, 19, पृ० 40।
5. वही, 1909, पृ० 59, सं० 600।
6. वही, 1919, पृ० 18, सं० 214।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१९

दक्षिण भारत में ग्राम्य संस्थाओं की प्राचीनता और विस्तार– अन्त में दक्षिण भारत में इन ग्राम्य संस्थाओं की प्राचीनता और प्रसार के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहना अनुचित न होगा। पल्लव राजा नन्दिवर्मा का कसकुडि ताम्रपट्ट निस्सन्देह ग्राम के किसी प्रकार के नियमित संगठन के अस्तित्व की सूचना देता है, क्योंकि अन्यथा भूमिदान के सम्बन्ध में राजाज्ञा निवासियों के पास न भेजी जाती न वे एक तरह से सार्वजनिक रूप से अनुमोदन करके राजकीय उद्घोषणा की पुष्टि ही करते।[1] मन्दिवर्मा आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध[2] में हुआ। सम्प्रति यही वह प्राचीनतम काल माना जा सकता है जब कि अभिलेखों की सामग्री से ग्राम्य संस्थाओं के अस्तित्व का पता लगता है। कम्पवर्मा के दो उक्कल अभिलेखों (सं० 5 और 8)[3] तथा वरगुण के अम्बसमुद्रम् अभिलेख[4] से नवीं शताब्दी में उनका अविच्छिन्न अस्तित्व सिद्ध होता है। उपर्युक्त अनेक चोल और पाण्ड्य अभिलेखों तथा चालुक्य द्वितीय भीम के मसुलीपतम् दानपत्र[5] से दसवीं शताब्दी में और उसके बाद इन संस्थाओं का विकास भलीभांति सिद्ध होता है। मसुलीपतम् लेख से यह सिद्ध होता है कि ये संस्थाएँ तेलुगु प्रदेश तथा अधिक दक्षिण में तमिल प्रदेश में उन्नत अवस्था में थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त दक्षिण भारत में इन संगठनों का जाल बिछा हुआ था। उनके व्यापक स्वरूप का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि चोल राजा राजराजदेव द्वारा तंजौर में निर्मित एक मन्दिर के प्रबन्ध के सम्बन्ध में ऐसे दो सौ छियासठ ग्रामों का उल्लेख है जिनमें इस प्रकार की संस्थाएँ विद्यमान थीं[6]।

1. साउथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स, सं० 74, पृ० 360।
2. वही, जिल्द 1, पृ० 11 में कालक्रम देखिए।
3. वही, जिल्द 3, पृ० 8।
4. एपि० इण्डि०, जिल्द 9, पृ० 86।
5. वही, जिल्द 5, पृ० 134 और आगे।
6. इस ग्रन्थ के पृ० 195, 19[illegible]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

३ अध्याय

राजनीतिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ (२)

§ १

अराजक राज्य—अब तक हम ने राजा द्वारा शासित राज्य में रहनेवाले लोगों की सामूहिक गतिविधियों पर विचार किया है। ये कार्यकलाप विभिन्न सभाओं के माध्यम से किए जाते थे। ये सभाएँ राजशक्ति की सहायक और थोड़ी-बहुत उसके अधीन थीं। किन्तु प्राचीन भारत में अराजक राज्य भी थे, जहाँ उन्हें सहज रूप से अपनी गतिविधियों के लिए अपेक्षाकृत व्यापक क्षेत्र और उन्मुक्त वातावरण उपलब्ध थे। दुर्दैव वश हमें उनके विषय में अधिक जानकारी नहीं है। किन्तु उनका अस्तित्व ही इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि लोग एक सामूहिक संगठन के रूप में सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग करते थे। पिछले भाग में राजतन्त्रात्मक राज्य में प्रजा की संघटित प्रवृत्तियों पर विचार करते समय हमें इन गतिविधियों और उन्हें सम्पन्न करने वाले माध्यमों के स्वरूप का विश्लेषण करना पड़ा था। प्रस्तुत सन्दर्भ में हम अपने को केवल माध्यमों तक ही सीमित रखेंगे, क्योंकि उनकी गतिविधियों में राज्यशासन के समस्त विभागों से सम्बद्ध प्रत्येक बात का समावेश अवश्य रहा होगा।

आज से कई वर्ष पूर्व प्रोफसर रीज डेविड्स ने बौद्ध साहित्य में उपलब्ध कुछ उल्लेखों से इन 'गणतन्त्रात्मक' राज्यों के अस्तित्व क पता लगाया था।[1] उनके पश्चात् श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने माडर्न रिव्यू[2] के पृष्ठों में और प्रोफेसर देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने अपने कार्माइकेल व्याख्यानों[3] में इस विषय का अधिक विस्तृत

1. **बुद्धिस्ट इण्डिया,** पृ० 1, 2, 19 और आगे।
5.2. **माडर्न रिव्यू,** 1913, पृ० 535 और आगे।
6. **वही** जिल्द 1, पृ० 146 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विवेचन किया । यद्यपि अन्य विद्वानों ने उनकी युक्तियों का पूरी तरह अनुमोदन नहीं किया तथापि प्राचीन भारत में अराजक राज्यों के अस्तित्व के सम्बन्ध में उनका प्रमुख विचार अब साधारणतः स्वीकार कर लिया गया है । अगले पृष्ठों में हम इन राज्यों की संक्षिप्त रूपरेखा उसी योजना के अनुसार प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे, जिसका अनुसरण हमने श्रेणियों के सम्बन्ध में किया है ।

वैदिक काल—जहाँ तक शासन के अराजक रूप की प्राचीनता का सम्बन्ध है, इस बात को मानने के लिए कुछ आधार उपलब्ध हैं कि वैदिक काल में भी वह अज्ञात नहीं था । ऋग्वेद की अधो-निर्दिष्ट ऋचा में जिमर को अल्प जनतन्त्र का स्पष्ट चिह्न दिखाई देता है[1] :

"जिस प्रकार राजा लोग (राजानः) समिति में एकत्रित होते हैं उसी प्रकार औषधियां उसमें एकत्रित होती हैं जो भिषज् कहलाता है, जो व्याधि को दूर करता और राक्षस को नष्ट करता है ।" जिमर का विचार है कि इस ऋचा में शासन की उस पद्धति का उल्लेख है जिसमें राज्य पर एक राजा शासन नहीं करता, अपितु राजपरिवार के अनेक सदस्य संयुक्त रूप से राज्य करते हैं । उनका यह भी

1. 10,9,16 ।
"Bei dem die Kräuter Zusammenkommen wie die Rajānaḥ in der Samiti, der gilt für geschickten Arzt, Krankneit-vertreiber, Dämonenvernichter" Alt-indische Laben, P. 176 Macdonell however interprets it differently and does not accept the conclusion of Zimmer although he thinks that this state of affairs is perfectly possible." (वही 1,2 पेज 216) मैक्डानल इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से करते हैं और वे ज़िमर के निष्कर्ष को स्वीकार नहीं करते, यद्यपि वे यह मानते हैं कि इस प्रकार की स्थिति पूर्णतः सम्भव है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विश्वास है कि राजाओं के निर्वाचन से सम्बद्ध अथर्ववेद के ऊपर उद्धृत मन्त्रों में से कुछ वस्तुतः अल्प जनतन्त्र के सब सदस्यों पर एक सदस्य के प्रभुत्व के लिए होनेवाली स्पर्धा की ओर संकेत करते हैं। अपनी धारणा के समर्थन में वे अथर्ववेद के निम्ननिर्दिष्ट मन्त्रों का उल्लेख करते हैं:

(1) अथर्ववेद 1,9,3, जिसमें सर्वोच्चता के प्रत्याशी को उसके साथियों (सजात) के ऊपर प्रतिष्ठित करने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है।

(2) अथर्ववेद 3,4,3, जहाँ सफल प्रत्याशी के प्रति यह शुभ कामना व्यक्त की गई है कि, तेरे साथी तेरे पास आएँ।

(3) अथर्ववेद 4,22,1–2, जिसमें इन्द्र से कहा गया है कि वह 'क्षत्रिय को प्रजा का एकाधिपति' बनाए और उसे 'राजा के रूप में राजकुल (क्षत्राणाम्) के ऊपर प्रतिष्ठित करे।'[1] ज़िमर प्राचीन भारत में प्राचीन जर्मन जनों, विशेषतः चेरुस्कि (Cherusci) जन में, विद्यमान अल्पजनशासन का प्रतिरूप पाते हैं। (चेरुस्कि जन पर पहले आर्मीनियस और राजा की पदवी धारण करनेवाले उसके सम्बन्धी संयुक्त रूप से शासन करते थे। किन्तु आर्मीनियस जन का एकमात्र शासक बनना चाहता था। फलस्वरूप उनके मध्य एक संघर्ष छिड़ गया जिसमें वह हार गया)।

ज़िमर के मत का समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि अवेस्ता में अल्पजनतन्त्रात्मक शासन के स्पष्ट चिह्न दृष्टिगत होते हैं।

---

1. "An der Spitze der Königlichen Familie stehedieser als König, Zimmer, Aet-indisched P. 165."
ह्विट्ने का अनुवाद (जिल्द 1, पृ० 188) शब्दानुसार नहीं है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्पिगेल[1] ने यश्न 19,18[2] की सहायता से, जिसमें दो प्रदेशों के शासन के बीच विरोध प्रदर्शित किया गया है, इस बात को पूर्णत: स्पष्ट कर दिया है। इनमें से एक में सर्वोच्च प्रभुतासम्पन्न अधिकारियों में जरथुस्त्र के अतिरिक्त घर, सड़क और नगर के प्रमुखों का समावेश था। इसमें 'देश के शासक' की कोई चर्चा नही है, जो दूसरे दृष्टान्त में पाई जाती है।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने वैदिक काल में शासन के अराजक रूप के अस्तित्व के पक्ष में एक और प्रमाण प्रस्तुत किया है।[3] वे ऐतरेय ब्राह्मण के एक वचन (7,3,14) का उल्लेख करते हैं, जिसमें कहा गया है कि उत्तर कुरुओं और उत्तर मद्रों में शासन के लिए समस्त समुदाय का अभिषेक किया जाता था तथा उनकी संस्थाएँ 'वैराज्य' अथवा अराजक राज्य कहलाती थीं :

इस मत के विपरीत दो तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं : सर्वप्रथम, यह स्मरणीय है कि ऐतरेय ब्राह्मण के उक्त वचन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये दो जन हिमालय पर्वत के उस पार (परेण

---

1. Abhandlungen der K. bayer Akad der W.I.K I. 7 Band 3, Abth. P. 683.
2. डॉ० आई० जे० एस० तारापुरवाला ने मुझे प्रकृत वचन का निम्नलिखित शाब्दिक अनुवाद करके दिया है :
"(पाँच) नेता कौन (हैं) ? (वह) घर का, (वह) सड़क का, (वह) नगरका, (वह) देश का और पांचवा जरथुस्त उन देशों का नेता है" जो उन देशों से भिन्न हैं जो जोरोस्ट्रियन कानून के अधीन है (शाब्दिक अर्थ—जोरोस्ट्रियन कानून द्वारा शसित देशों से भिन्न)"।
"जरथुस्त्र का रघ (नगर) चार नेताओं के अधीन हैं। उसके नेता कौन (हैं) ? "(वह) घर का, (वह) सड़क का, (वह) नगर का और चौथा (स्वयं) जरथुस्त्र।"
3. माडर्न रिव्यू, 1913, पृ० 538।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिमवन्तम्) रहते थे और फलस्वरूप उनकी संस्थाएँ भारत में प्रचलित संस्थाओं के नमूने नहीं माने जा सकते! किन्तु ज़िमर[1] ने इस बात के सुदृढ़ आधार प्रस्तुत किए हैं कि वस्तुतः ये जन भारत में कश्मीर और उसके आसपास के प्रदेशों में रहते थे; और उनका यह कथन निराधार नहीं जान पड़ता कि मध्य देश के निवासियों की दृष्टि में कश्मीर हिमालय के पार (परेण हिमवन्तम्) रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

दूसरी बात यह है कि 'वैराज्य' शब्द, जिसे श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अराजक राज्य के अर्थ में लिया है, श्री मैक्डानल और कीथ के अनुसार एक प्रकार की राजशक्ति का वाचक है।[2] किन्तु चार दिशाओं में शासन के प्रकार का वर्णन करनेवाल निम्नलिखित चार वाक्यों की तुलना करने पर अन्तिम मत सम्भव प्रतीत नहीं होता। ये वाक्य इस प्रकार हैं :

'ये के च प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते'
'ये के च सत्वतां राजानः भौज्यायैव ते भिषिच्यन्ते'
'ये के च नीच्यानां राजानः येऽपाच्यानां स्वराज्यायैव ते ऽभिषिच्यन्ते'
'ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति 'वैराज्ययैव तेऽभिषिच्यन्ते'।

अन्तिम वाक्य में 'राजानः' के स्थान पर 'जनपदाः' शब्द का व्यवहार केवल आकस्मिक नहीं माना जा सकता और वस्तुतः श्री जायसवाल के इस मत की पुष्टि करता है कि यहाँ लोकसत्तात्मक शासन का उल्लेख है।

अथर्ववेद में एक वचन (5,18,10) है जो वैदिक काल

---

1. ए० एल०, पृ० 102।
2. 5,1,2, पृ० 221।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में अराजक शासन के अस्तित्व का निश्चित प्रमाण प्रतीत होता है। यह मन्त्र ब्राह्मण की गाय की हत्या के कारण दिए गए शापों की एक लम्बी लड़ी के मध्य में प्राप्त होता है। यह इस प्रकार है :

"ये सहस्रम् अराजन्नासन् दश शताउत।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्धा वैतहव्या पराभवन्।"

व्हिट्ने इस मन्त्र का अनुवाद इस प्रकार करते हैं :

"वे वैतहव्य, जो एक सहस्र लोगों पर राज्य करते थे और दस सौ थे, ब्राह्मण की गाय को खाकर नष्ट हो गए हैं।"(व्हिट्ने, अथर्ववेद, पृ० 251)।

ज़िमर,[1] म्यूर तथा अन्य विद्वान इसका अनुवाद कुछ भिन्न प्रकार से करते है :

"वीतहव्य के वंशज, जो एक हजार लोगों पर राज्य करते थे और संख्या में दस सौ थे, ब्राह्मण की गाय को खाने के बाद पराभूत हो गए।" (म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, जिल्द 1, पृ० 285)

चाहे जो भी भेद क्यों न हो यह मूलभूत सत्य है कि वैतहव्य, जो संख्या में एक हजार थे, एक प्रदेश पर राज्य करते थे, और इसमें सन्देह नहीं कि यह अल्पजनतन्त्रात्मक अथवा गणतन्त्रात्मक[2] जन का एक उदाहरण है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि मल्ल, लिच्छवि इत्यादि उत्तरकालीन अराजक जनों की भांति वे भी ब्राह्मण-धर्म विरोधी थे।

§ २

पाणिनि की अष्टाध्यायी में उल्लेख—वेदोत्तरकाल में शासन

---

1. ज़िमर, Altindisches Leben (बर्लिन, 1879), पृ० 200।
2. यदि हम म्यूर और जिमर का अनुवाद—एक हजार लोगों पर एक हजार लोगों का शासन–मान लें तो शासन का रूप लोकतान्त्रिक होना चाहिए।1,000 रूढ़ संख्या जान पड़ती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लोकसत्तात्मक रूपों का ग्रस्तित्व ग्रनेक प्रमाणों से भलीभांति सिद्ध हो जाता है । काल की दृष्टि से प्राचीनतम पाणिनि का व्याकरण-विषयक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें राजनीतिक संघों के ग्रस्तित्व के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं । इस प्रकार 'सङ्घे चानौत्तराधर्ये'[1] सूत्र स्पष्ट करता है कि उन दिनों 'संघ' का स्वरूप ग्रच्छी तरह ज्ञात था, क्योंकि यहाँ 'संघ' ग्रौर साधारण भीड़ या समुदाय के मध्य तीक्ष्णता से भेद दिखाया गया है, जिससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि संघ कानून ग्रौर नियमों से बंधा हुग्रा एक निश्चित संगठन था ।

पुनः, जैसा कि प्रोफेसर देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने स्पष्ट कर दिया है,[2] एक ग्रन्य सूत्र[3] से भी यही निष्कर्ष निकलता है । इसमें विख्यात वैयाकरण इस बात की ग्रोर संकेत करते हैं कि सङ्घात शब्द की भांति सङ्घ शब्द केवल एक समूह का वाचक न होकर गण ग्रर्थात् एक विशिष्ट प्रकार के समूह ग्रथवा 'संसृष्ट समूह' का वाचक है । इसके ग्रतिरिक्त श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने हमारा ध्यान पाणिनि के एक ग्रन्य सूत्र की ग्रोर ग्राकृष्ट किया है । यह सूत्र इस प्रकार है : "सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यजिनामण् ।" इसका ग्रर्थ यह है कि "सङ्घों के ग्रङ्कों ग्रौर लक्षणों के सम्वन्ध में (ग्रर्थात् उन्हें व्यक्त करने के लिए (ग्रञन्त ग्रौर यञन्त संज्ञाग्रों से ग्रण् प्रत्यय होता है ।"[4] यह केवल सङ्घ के ग्रस्तित्व को प्रमाणित ही नहीं करता ग्रपितु यह भी स्पष्ट करता है कि प्रत्येक सङ्घ का ग्रपना ग्रङ्क ग्रथवा लक्षण होता था, जिसकी पहचान श्री जायसवाल ग्रागे चलकर

---

1. 3,3,42 ।
2. **कार्माईकेल व्याख्यान**, प्रथम माला, पृ० 141–142 ।
3. 3,3,36 ।
4. **ज० बि० उ० रि० सो०**, जिल्द ५, पृ० 27 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य के, लाञ्छन से करते हैं।[1]

कई सूत्रों में पाणिनि 'पूग',[2] 'व्रात'[3] और 'आयुध जीवि सङ्घ'[4] के नाम से सङ्घों के विशिष्ट प्रकारों का उल्लेख करते हैं। इनमें से प्रथम शब्द के अर्थ का विचार हम ऊपर कर चुके हैं। 'व्रात' शब्द के वास्तविक अर्थ का निश्चय करना कठिन है, और जहाँ तक मुझे मालूम है अभी तक इस शब्द की कोई सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की गई है। काशिका की टीका में इसकी व्याख्या इस प्रकार दी गई है: 'नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः संघाः व्राता।'[5] प्रथम विशेषण सामाजिक निगमों से और दूसरा औद्योगिक निगमों से इसका भेद करता है। मेरे विचार में तृतीय विशेषण का अर्थ है 'वध अथवा हत्या पर जीवित रहनेवाले। इस व्याख्या के अनुसार व्रात का आशय उत्तरकालीन ठगों की तरह के लुटेरों के सङ्घ से होना चाहिए। कात्यायन[6] के एक वचन से इस विचार की पुष्टि होती है: "नानायुधधरा व्राताः समवेतास्तु कीर्त्तिता।"[7] 'आयुधजीविसङ्घ' सैनिकों के निगम का वाचक है। पाणिनि

---

1. वही।
2. 5,3,112।
3. 5,3,113।
4. 5,3,114।
5. व्रात विभिन्न जातियों के (उन लोगों का) संघ है जिनकी जीविका का कोई निश्चित साधन नहीं है, और जो हत्या अथवा वध द्वारा अपनी आजीविका चलाते हैं।
6. **वीरमित्रोदय,** पृ० 426 में उद्धृत।
7. "नाना प्रकार के शस्त्र धारण करनेवाले लोगों का समुदाय व्रात कहलाता है।" उत्सेध का अर्थ भी शरीर है। अतः यह सम्भव है कि 'उत्सेधजीवनः' का अभिप्राय विविध प्रकार के साधारण श्रमिकों के संघ से था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

5,3,117 से यह पूर्णत: स्पष्ट है कि यौधेयों का इस श्रेणी में समावेश था । आगे यौधेयों के इतिहास पर विस्तार से विचार किया जाएगा, किन्तु इस प्रकार के उदाहरणों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि आयुधजीविसङ्घ शब्द का अभिप्राय स्वतन्त्र राजनीतिक सङ्घों अथवा अराजक राज्यों से था ।

§ ३

बौद्ध साहित्य का साक्ष्य—हमारी सूचना का अगला स्रोत बौद्ध और जैन साहित्य है । अवदानशतक के एक वाक्य[1] से राज-सत्तात्मक राज्यों के साथ-साथ लोकसत्तात्मक राज्यों का अस्तित्व अत्यन्त निर्णयात्मक रूप से सिद्ध हो जाता है । अवदान सं० 88 में कहा गया है कि मध्यदेश के कुछ व्यापारियों ने दक्षिण की यात्रा की तथा उनके देश में प्रचलित शासन के स्वरूप के सम्बन्ध में पूछे जाने पर उन्होंने उत्तर दिया "कुछ राज्य राजाओं के अधीन हैं और कुछ गणों के[2] ।" एक प्राचीनतर जैन ग्रन्थ, आचारंगसुत्त, भी गणराय (गण द्वारा शासित प्रदेश) का उल्लेख करता है ।[3]

बौद्ध साहित्य में उल्लिखित अराजक राज्य—प्रोफेसर रीज डेविड्स ने उन जनों की एक सूची तैयार की है जो बौद्ध लेखकों के अनुसार गौतम बुद्ध के समय में विद्यमान थे । ये इस प्रकार हैं :

(1) कपिलवस्तु के शाक्य,

1. इस वाक्य की ओर मेरा ध्यान श्री रामप्रसाद चन्दा ने आकर्षित किया था ।
2. "केचिद् देशा गणाधीना: केचिद् देशा राजाधीना इति"
3. शासन के अराजक रूप के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले अन्य वचनों के लिए श्री रीज़ डेविड्स, श्री जायसवाल और प्रोफेसर दे० रा० भंडारकर की उपर्युक्त रचनाएँ देखिए ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(2) सुंसमारगिरि के भग्ग,
(3) अल्लकप्प के बुलि,
(4) केसपुत्त के कालाम,
(5) रामगाम के कोलिय,
(6) कुसिनारा के मल्ल,
(7) पावा के मल्ल,
(8) पिप्पलीवन के मोरिय,
(9) मिथिला के विदेह, } वज्जि[1]
(10) वेसालि के लिच्छवि, }

यद्यपि साधारणतः यह अनुमान किया जा सकता है कि ये सब जन अराजक शासनतन्त्र के अधीन थे, तथापि उनमें से किसी के संविधान और संगठन के सम्बन्ध में हमें अधिक जानकारी नहीं है। महापरिनिब्बानसुत्त का वह बहुधा उद्धृत वचन, जिसमें बुद्ध ने उन नियमों की चर्चा की है जिनका पालन करने पर वज्जि समृद्ध होंगे, क्षीण नहीं, इन संविधानों के सामान्य स्वभाव का परिचायक माना जा सकता है। एक बार जब बुद्ध राजगृह में थे तो मगध के राजा अजातशत्रु ने वज्जियों के नष्ट करने का निश्चय किया और अपने मन्त्री को भगवान् तथागत का सुझाव लेने के लिए भेजा। जब बुद्ध को यह संदेश मिला तो उन्होंने आनन्द को सम्बोधन करते हुए कहा: 'आनन्द क्या तुमने सुना है कि वज्जि बारम्बार पूर्ण सार्वजनिक सभाएँ करते हैं' ?

लिच्छवि जन का संविधान—आनन्द ने उत्तर दिया: 'भगवन् मैंने यह सुना है।' भगवान् बुद्ध ने पुनः कहना आरम्भ किया: 'आनन्द,

---

1. (**बुद्धिस्ट इंडिया**, पृ० 22। इस सूची में 'काशि के मल्ल' और जोड़े जाने चाहिए। द्रष्टव्य **जैन कल्पसूत्र** (जैकोबी द्वारा सम्पादित), पृ० 65।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जब तक वज्जि नित्य पूर्ण सार्वजनिक सभाएँ करते हैं तब तक व समृद्ध ही होंगे, क्षीण नहीं।

[इसी प्रकार आनन्द से प्रश्न कर और पहले जैसा उत्तर प्राप्त कर भगवान् बुद्ध ने वज्जिसंघ का कल्याण करनेवाली निम्नलिखित अन्य शर्तों की घोषणा की]।

"हे आनन्द, जब एक वज्जि एक होकर परस्पर मिलते और अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं; जब तक वे ऐसा कोई नियम नहीं बनाते जो पहले से नहीं चला आ रहा है और ऐसे किसी नियम को रद्द नहीं करते जो पहिले से चला आ रहा है, तथा प्राचीन काल में स्थापित वज्जियों के प्राचीन नियमों के अनुसार चलते हैं, जब तक वे वज्जिवृद्धों का आदर, सत्कार और मान करते, उनका साथ देते तथा उनकी बात सुनना अपना कर्त्तव्य समझते हैं; तब तक वज्जियों के क्षीण होने की नहीं, समृद्ध होने की आशा है"।[1]

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि इन दृष्टान्तों में लोकतांत्रिक संविधान के गुण और दोष दोनों ही विद्यमान थे। एक ओर तो साधारण सभा थी, जिसमें युवक और वृद्ध दोनों सम्मिलित थे, जिसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता निहित थी, जिसे नए नियमों के बनाने और पुराने नियमों को रद्द करने का अधिकार था। दूसरी ओर उनमें उस स्थिरता का अभाव था जो सुदृढ़ राजतन्त्र का एक विशिष्ट गुण है और साथ ही वे कभी भी भेद तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों की इच्छा के शिकार हो सकते थे। तथापि कुल मिलाकर उनके नियम अच्छी दृष्टि से देखे जाते थे और भगवान् बुद्ध को उनकी प्रशंसा करनी पड़ी थी। इस प्रकार लिच्छवियों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा: "हे भिक्षुओ, तुम लोगों में से जिन्होंने तावतिंस देवों को कभी न देखा हो वे लिच्छवियों की इस सभा (परिस) को देखें,

1. सै० बु० ई०, जिल्द 11, पृ० 3–4।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिच्छवियों की इस सभा का निरीक्षण करें और लिच्छवियों की इस सभा की तावतिंस देवों की सभा से तुलना करें[1]" ।

महान् बुद्ध लोकतन्त्र के अनन्य भक्त थे । अपने संघ-शासन की पद्धति में उन्होंने लोकतान्त्रिक विचारों का अनुसरण किया तथा स्वयम् वज्जियों को उपर्युक्त शर्तों की शिक्षा दी जिनका पालन करते रहने पर उनके क्षीण नहीं, समृद्ध होने की आशा थी[2] । इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने स्वयं अपने संघ के कल्याण के लिए इन्हीं शर्तों का इन्हीं शब्दों में निर्देश किया[3] । यह स्पष्ट है कि उन्हें जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले इन दो संगठनों के मूल में विद्यमान समानता का ज्ञान था और स्वभावतः ही उन्होंने इन दोनों को एक ही प्रकार के दोषों से मुक्त माना ।

जातक कथाओं के प्रास्ताविक भाग से लिच्छवि जनों के संविधान के विषय में कुछ जानकारी मिलती है । एकपण्ण-जातक (सं० 149, I,504) में कहा गया है कि वेशाली नगरी में "राज्य का शासन करने के लिए सदा सात हज।र सात सौ सात राजा थे तथा उपराजों, सेनापतियों और कोषाध्यक्षों की संख्या भी यही थी ।" चुल्लकालिङ्ग-जातक (सं० 301, III,1) भी कुछ अतिरिक्त विवरण के साथ यही सूचना देता है: "परम्परा के अनुसार सात हजार सात सौ सात संख्या का राजकुल वैशाली में ही रहता था, और वे सब वाद-प्रतिवाद में लगे रहते थे ।" भद्दसाल-जातक (सं० 465, IV, 149) में "वैशाली नगर की एक पुष्करणी की चर्चा पाई जाती है, जहाँ से राजकुल अभिषेक के लिए जल प्राप्त करते थे ।" इसमें

---

1. वही, पृ० 32 । मैंने समागम (कम्पनी) के स्थान पर सभा (परिष) शब्द का व्यवहार किया है ।
2. वही, पृ० 4 ।
3. वही, पृ० 5 और आगे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहा गया है: "पुष्करिणी के भीतर और बाहर कड़ा पहरा था; उसके ऊपर लोहे की जाली बिछी थी; एक चिड़िया भी उसमें प्रवेश नहीं कर सकती थी।" इसी जातक में यह कहानी कही गई है कि कोसल के सेनापति ने अपनी पत्नी को स्नान कराकर किस प्रकार इस पुष्करिणी की पवित्रता को भंग किया और पाँच सौ क्रुद्ध लिच्छवि राजाओं ने उसका पीछा किया।

यद्यपि जातकों की प्रास्ताविक कथाएँ, जिनसे उपर्युक्त बातें ली गई हैं, निस्सन्देह उस काल की तुलना में बहुत अर्वाचीन हैं जब कि ये घटनाएं घटित हुई थीं; किन्तु केवल इसी कारण हम उनके विवरणों को अविश्वसनीय कह कर नहीं ठुकरा सकते। यद्यपि उनमें पाई जाने वाली ठोस संख्याओं को अधिक महत्व देने की आवश्यकता नहीं है, तथापि उनमें वर्णित साधारण पद्धति वास्तविक स्थिति से बहुत दूर नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार जहाँ सात हजार सात सौ सात संख्या पूर्णत: रूढ़ मानकर ठुकरायी जा सकती है, वहाँ यह मानना उचित है कि राज्य की सर्वोच्च सभा के सदस्यों की संख्या काफी बड़ी थी और फलस्वरूप वह एक लोकप्रिय सभा मानी जा सकती है। महापरिनिब्बानसुत्त में भगवान् बुद्ध के उपर्युक्त वक्तव्य से हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उससे यह बात पूरी तरह मेल खाती है। चुल्लकालिङ्ग-जातक का यह विलक्षण वक्तव्य कि सदस्य वाद-प्रतिवाद में लगे रहते थे इस बात का समर्थन करता प्रतीत होता है कि लोकप्रिय सभा संविधान का केवल एक औपचारिक अङ्ग मात्र न होकर एक क्रियाशील एवं प्रभावशाली संस्था थी तथा राज्य में वास्तविक शक्ति का प्रयोग करती थी। वैशाली की पुष्करणी से सम्बद्ध विलक्षण घटना से इन सदस्यों के महत्व तथा उत्तरदायित्वपूर्ण स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस सम्पूर्ण कथा की रचना में लोक-कल्पना का भी भाग था, किन्तु इसमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

न्यूनाधिक ऐतिहासिक सत्य का पूर्ण अभाव मानना हममें यथार्थ आलोक दृष्टि के अभाव का द्योतक होगा। यह प्रतीत होता है कि राज्य में राजा की भाँति सर्वोच्च सभा के प्रत्येक सदस्य का एक प्रकार का अभिषेक होता था और वैशाली नगर में इस प्रयोजन के लिए निर्दिष्ट पुष्करिणी में स्नान करना इस संस्करण का एक महत्वपूर्ण अङ्ग था। यह धार्मिक कृत्य ही अपने आप में सदस्यों में निहित उच्चतम विश्वास तथा उनके पद से सम्बद्ध महान् उत्तरदायित्वों का एक अकाट्य प्रमाण है।

यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि ये सदस्य किस प्रकार चुने जाते थे। इस सम्बन्ध में एकपण्ण-जातक (1,504) से यह ज्ञात होता है कि सात हजार सात सौ सात राजाओं के अनुरूप उपराजों, सेनापतियों और कोषाध्यक्षों की भी यही संख्या थी। इसका अर्थ यह हुआ कि सर्वोच्च सभा के प्रत्येक सदस्य के पास राज्य के प्रशासन के लिए आवश्यक अधिकारियों का एक पूरा वर्ग था। इससे यह प्रतीत होता है कि इनमें से प्रत्येक सदस्य प्रशासन की एक इकाई का प्रमुख था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण राज्य में अनेक प्रशासनिक इकाइयाँ थीं, जिनमें से प्रत्येक अपने आप में एक छोटा-सा राज्य था और उसमें पूर्ण प्रशासनतन्त्र विद्यमान था। सम्पूर्ण राज्य का कार्यभार चलाने के लिए एक सभा थी जिसमें इन लघु राज्यों के प्रमुख सम्मिलित थे। ये प्रमुख अपने मुख्य अधिकारियों की सहायता से अपने लघु-राज्य का शासन करते थे। जो लोग एथेन्स के नगरराज्य के क्लेस्थेनी संविधान से परिचित हैं, उन्हें निश्चित रूप से वैशाली नगर में उसके मूलरूप के दर्शन होंगे, क्योंकि एथेन्स में भी एक केन्द्रीय सभा थी, जिसमें डेम नामक लघुतम स्थानीय इकाइयों के प्रतिनिधियों का समावेश था। ये इकाइयाँ, जो 'अधिकारियों, सभाओं और सामूहिक सम्पत्ति से युक्त निगम थीं' अपने स्थानीय कार्यों का प्रबन्ध स्वयं करती थीं। ...

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गण का स्वरूप—लिच्छवियों के लिए 'गण' शब्द का व्यवहार किया गया है। हम पहले ही कह चुके हैं कि स्मृति-साहित्य में इस शब्द का व्यवहार ग्रामों अथवा नगरों के निगमों के लिए हुआ है।[1] अभिलेखों और मुद्राओं की सामग्री में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि यह शब्द स्वतन्त्र राजनीतिक संघों के लिए भी प्रयुक्त होता था। इस प्रकार अभिलेखों में मालव तथा यौधेय गणों का उल्लेख मिलता है और समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में तो राजाओं द्वारा शासित राज्यों और उनके मध्य स्पष्ट भेद किया गया है। उनके द्वारा प्रसारित मुद्राओं के अध्ययन से इसमें सन्देह नहीं रहता कि वे स्वतन्त्र संघ थे। विजयगढ़ स्तम्भलेख में इस तथ्य का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि यौधेय गण अपने महाराज को चुनता था, जो सेनापति का कार्य भी करता था।[2]

वीरमित्रोदय (पृ० 426) में कात्यायन का निम्ननिर्दिष्ट वचन उद्धृत है:

"कुलानां हि समूहस्तु गणः सम्परिकीर्त्तित इति"।

कुल शब्द का मूल अर्थ है वर्ग, भीड़, समुदाय[3]। अतः इस व्याख्या के अनुसार गण शब्द का अर्थ होगा विभिन्न वर्गों अथवा समुदायों का संघ। लिच्छवियों की सर्वोच्च सभा के संगठन के

---

1. द्रष्टव्य—इस ग्रन्थ का पृ० 142।
2. 'यौधेयगणपुरस्कृतस्य महाराजमहासेनापतेः।' **फ्लीट (गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स,** पृ० 252) इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं—"यौधेय गण के नेता बनाए गए महाराज महासेनापति का।" इस अनुवाद के विरुद्ध कोई आपत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि कोशों में पुरस्कृत शब्द के अर्थों में से एक है 'चुना हुआ'।
3. प्रो० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर कुल को परिवार के अर्थ में लेते हैं और गण के संगठन की व्यवस्था भिन्न प्रकार से करते हैं (**कार्माइकेल लेक्चरस्,** जिल्द 1, पृ० 160 और आगे।)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्बन्ध में जातक कथाओं के आधार पर ऊपर मैंने जो विचार व्यक्त किया है उसके साथ यह अर्थ पूरी तरह मेल खाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन समुदायों में से प्रत्येक अपने आप में एक सूक्ष्म राज्य था जिसके पास आवश्यक अधिकारियों का पूरा समूह था, जब कि सर्वोच्च सभा में, जिस पर समस्त राज्य का शासन-भार था, इन समुदायों के प्रमुखों का समावेश था। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि महावग्ग (5,1) में मगध के राज्य के सम्बन्ध में राज्य की लघुतम प्रशासनिक इकाइयों के प्रमुखों की एक केंद्रीय सभा का उदाहरण सुरक्षित है। इस सभा की बैठक बिम्बिसार के राजत्वकाल में हुई थी। लिच्छवियों का विचाराधीन संविधान भी इसी काल से सम्बन्ध रखता है।

लिच्छविगण के प्रबन्ध-अधिकारी––महावीर की मृत्यु की रात्रि में दीपोत्सव के प्रसंग में जैन कल्पसूत्र "नव मल्लई नव लेच्छई कासी कोसलस्य अट्ठारस वि गणरायाणो[1]" का उल्लेख करता है। "नव गणरायाणो" का वास्तविक अर्थ अनिश्चित है। इसका अभिप्राय सर्वोच्च सभा के 7,707 लिच्छवि राजाओं में से केवल नौ से भी हो सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह होगा कि जैन धर्म लिच्छवि समाज के एक अति संकीर्ण भाग तक ही सीमित था। यह एक ऐसी बात है जिसे एक जैन लेखक शायद ही स्वीकार करना चाहेगा। दूसरी सम्भावित व्याख्या यह होगी कि इस शब्द को लिच्छवि गण के नौ राजाओं अथवा प्रमुखों अर्थात् प्रबन्ध-अधिकारियों के अर्थ में लिया जाए। हम ऊपर देख आए हैं कि श्रेणियाँ अपने कार्यभार के निर्वाह के लिए प्रबन्ध-अधिकारियों को नियुक्त करती थीं, और एक अथवा अधिक प्रबन्ध-अधिकारियों की सहायता के बिना एक विशाल सभा

---

1. **कल्पसूत्र**, (जैकोबी द्वारा सम्पादित), पृ० 65।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वारा राज्य के कार्यभार का निर्वाह सम्भव प्रतीत नहीं होता । इस प्रकार 'नवगणरायाणो' लिच्छवियों के समस्त राज्य के प्रतिनिधि प्रतीत होते हैं, और यह अर्थ सम्पूर्ण वचन के तात्पर्य के पूर्णतः अनुरूप है।

लिच्छवियों का न्याय-प्रशासन--लिच्छवियों के न्याय-प्रबन्ध की पद्धति के विषय में हमें कुछ जानकारी प्राप्त होती है। यह पद्धति अपनी अतिलोकतान्त्रिक भावना के लिए, जो इसकी एक प्रमुख विशेषता है, मुख्य रूप से उल्लेखनीय है, और इससे प्रशासन के उन सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ने की आशा है जिनका अनुसरण इन 'अराजक' राज्यों में किया जाता था । हमें अट्कथा[1] से विदित होता है कि अपराधी न्यायिक परीक्षा के लिए पहले "विनिच्चय महामत्त" नामक अधिकारी के पास भेजा जाता था। यदि वे अभियुक्त को निरपराध पाते तो उसे छोड़ देते थे, किन्तु यदि वह उनके मत में अपराधी होता तो वे उसे दण्ड नहीं देते सकते थे। इसके विपरीत उन्हें अभियुक्त को 'वोहारिक' के अगले उच्चतर न्यायालय में भेजना पड़ता था । वे भी यदि अभियुक्त को निर्दोष पाते तो उसे छोड़ सकते थे, किन्तु यदि वे उसे दोषी पाते तो उन्हें उसको 'सुत्तधर' के अगले उच्चतर न्यायालय में भेजना पड़ता था । इसी प्रकार के अधिकारियों से युक्त तीन और न्यायालय थे (1) अट्ठ कुलक, (2) सेनापति और (3) उपराज के । इसमें से प्रत्येक निर्दोष होने पर अभियुक्त को छोड़ सकता था, किन्तु यदि वह अपराधी पाया जाता तो उसे अगले उच्चतर न्यायालय के पास भेजा जाता था। राजा का न्यायालय अन्तिम था । केवल उसे ही अभियुक्त को दण्ड देने का अधिकार था, और दण्ड देने में वह 'पवेनि-

1. द्रष्टव्य इस महत्वपूर्ण वचन का टर्नर कृत अनुवाद, ज० ए० सो० बं०, जिल्द 7, पृ० 993—94 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुस्तक' अथवा पूर्व दृष्टान्तों के ग्रन्थ का अनुसरण करता था। इस प्रकार व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा किस रीति से की जाती थी इसके कम ही उदाहरण संसार में मिलते हैं। उसको केवल उसी दशा में दण्ड दिया जा सकता था जब कि सातों न्यायालय उसे एकमत होकर अपराधी पाते, और उनमें से एक भी यदि उसे निर्दोष पाता तो वह पूर्णतः सुरक्षित था। स्वयं जनता द्वारा शासित राज्य में जनता के अधिकारों की इस प्रकार रक्षा करना उचित ही है।

शाक्य गण—लिच्छवियों के अतिरिक्त शाक्यगण ही एक ऐसा गण है जिसके सम्बन्ध में हमें कुछ निश्चित जानकारी प्राप्त है। प्रोफेसर रीज डेविड्स ने इस विषय में उपलब्ध जानकारी का सारांश इस प्रकार दिया है :[1]

"संघ का प्रशासन और न्यायकार्य कपिलवस्तु के उनके साधारण सभागृह (सन्थागार) में सार्वजनिक सभा में, जिसमें युवक और वृद्ध समान रूप से उपस्थित होते थे, किया जाता था। इसी प्रकार की एक संसद् अथवा सम्मेलन में राजा पसेनदि के प्रस्ताव पर विचार किया गया था। अम्बट्ठ जब कार्य से कपिलवस्तु जाता है तो वह सन्थागार में प्रवेश करता है जहाँ उस समय शाक्यों की बैठक हो रही थी।

"एकमात्र प्रमुख अधिकारी चुना जाता था। वह किस प्रकार और कितनी अवधि के लिए चुना जाता था, ज्ञात नहीं है। वह अधिवेशनों का, और जब अधिवेशन नहीं होते तो राज्य की, अध्यक्षता करता था। वह राजाकी पदवी धारण करता था। इसका अर्थ रोमन कौन्सुल अथवा ग्रीक आर्कन के समान होना चाहिए। एक बार हम सुनते हैं कि भद्दिय, जो रिश्ते में बुद्ध का भाई लगता था,

---

1. बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० 19।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजा था । एक अन्य प्रसंग में बुद्ध के पिता शुद्धोदन (जो अन्यत्र एक साधारण नागरिक, शाक्य शुद्धोदन, उल्लिखित हैं) राजा कहे गए हैं ।"

शाक्य संघ के सम्बन्ध में प्रोफेसर रीज डेविड्स के विचार के कुछ महत्वपूर्ण पहुलुओं पर आक्षेप किए गए हैं । उदाहरणार्थ, वाटर्स का मत है कि कपिलवस्तु और उसके आसपास का प्रदेश कोसल राज्य में सम्मिलित था और फलस्वरूप हम एक शाक्य राजा अथवा राज्य की चर्चा नहीं कर सकते[1] । जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस मत के समर्थन में एकमात्र प्रमाण भद्दसाल जातक (सं० 465, IV,145) के आरम्भिक अंश में पाया जानेवाला 'आणापवत्तिट्ठान' शब्द है, जिसका प्रयोग स्वयं शाक्यों ने अपनी भूमि के सम्बन्ध में कोसल के लिए किया है । किन्तु इस शब्द का पूर्ण अभिप्राय निश्चित नहीं है तथा ओल्डेनवर्ग ने इसका यह अर्थ लिया था कि शाक्य कोसल राज्य को कुछ सम्मानसूचक कर देते थे । चाहे जो भी हो, उक्त जातक यह स्पष्ट कर देता है कि कपलिवस्तु कोसल राज्य की सीमाओं के बाहर था । इसमें कहा गया है कि जब विडूडभ ने शाक्यों का ध्वंस करने का निश्चय कर लिया तो बुद्ध कपिलवस्तु के लिए रवाना हुए और नगर से निकटवर्ती एक वृक्ष की छाया में बैठ गए । "उस स्थान के निकट ही एक विशाल और छायादार वटवृक्ष विडूडभ के राज्य की सीमा पर था"[2] । इससे स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि शाक्य प्रदेश कोसल की सीमा का स्पर्श करता था, किन्तु उसके अधिकार-क्षेत्र के बाहर था ।

1. **ऑन युआन च्वांग,** जिल्द II, पृ० 3 ।
2. **जातक, जिल्द 4,** पृ० 15 2 "ततो अविदूरेविडूडभसस रज्जसीमाय.."

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शासन का स्वरूप—प्रोफेसर रीज डेविड्स के मत के विरुद्ध दूसरा आक्षेप शाक्यों के संविधान से सम्बन्ध रखता है। प्रोफेसर देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर के मत में और किसी भी साधारण राज्य की भाँति शाक्य प्रदेश भी एक वंशानुगत राजा द्वारा शासित था[1]। किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि जातक कथाओं के प्रास्ताविक अंशों से यह सिद्ध होता है कि शाक्यों का संविधान लिच्छवियों के संविधान से बहुत भिन्न नहीं था। कुनाल जातक (सं० 536, V, 412 और आगे) शाक्यों और उनके पड़ोसी कोलिय जन के मध्य एक कलह का वर्णन करता है। इस समस्त अंश का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने पर इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि शाक्यों का शासन भी उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित था जिनपर लिच्छवियों का। इस प्रकार जब रोहिणी नदी के पानी के प्रश्न पर, जिसे प्रत्येक दल सिंचाई के प्रयोजन के लिए चाहता था, गम्भीर कलह उत्पन्न हुआ तो शाक्य सम्बद्ध सेवाओं के लिए नियुक्त अमात्यों के पास गए और उन्हें कलह के विषय में सूचना दी। अमात्यों ने राजाओं (अथवा राजकुलों) की भीड़ को इसकी सूचना दी[2]। इस पर इन राजाओं ने युद्ध करने का निश्चय किया और तदनुसार शाक्य युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर निकल पड़े। इन राजाओं की संख्या निश्चित रूप से नहीं बताई गई है किन्तु यह काफी बड़ी होनी चाहिए, क्योंकि दो सौ पचास राजाओं को बुद्ध के अनुचरों के रूप में भेंजने का प्रस्ताव शाक्यों ने किया था।

1. **कार्माइकेल लेक्चर्स,** प्रथम माला, पृ० 161।
2. **अमच्चा राजकुलानं कथेसुं** (पृ० 413)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केवल यही बात नहीं कि इस विस्तृत वर्णन में किसी व्यक्तिगत राजा का स्वल्पमात्र भी उल्लेख नहीं है, अपितु यह भी उल्लेखनीय है कि शाक्यों के सभी प्रमुख राजा कहे गए हैं। बुद्ध ने प्रश्न किया: "हे शक्तिशाली राजाओ, तुम लोग यहाँ क्यों आए हो ?" आगे चलकर हम पुनः यह वाक्य पाते हैं "विश्वास करके राजाओं ने कहा इत्यादि।" समुद्द-वाणिज जातक (सं० 466, 4, 158) में देवदत्त इस बात पर दुखी होता है कि शाक्यों के सब राजाओं ने उसका त्याग कर दिया था (सक्यराजकुलेहिपि)। इसी प्रकार भद्दसाल जातक (सं० 465, 4, 144) से हमें विदित होता है कि राजा पसेनदि ने शाक्य-कुल की एक कन्या को विवाह में माँगने के लिए अपना एक दूत भेजा। इस सन्देश के पाने पर शाक्यों ने एकत्रित होकर इस प्रश्न पर विचार किया। यहाँ भी किसी राजा की चर्चा नहीं है जिसे यह सन्देश दिया गया हो। परम्परागत प्रथाओं के अनुसार राजदूत एक राजा से दूसरे राजा के पास, यदि कोई राजा हो तो, भेजे जाते हैं, और इस सम्वन्ध में राजा का उल्लेख न होने से इस धारणा को बहुत बल मिलता है कि शब्द के वास्तविक अर्थ में शाक्यों का कोई राजा नहीं था। यह ठीक है कि कोसलराज पसेनदि महानाम और एक दासी से उत्पन्न वासभखत्तिया का उल्लेख शाक्य राजा की पुत्री कहकर करता है, किन्तु अन्यत्र (पृ० 147) महानाम के लिए केवल 'शाक्य महानाम' शब्दों का व्यवहार किया गया है। और वासभखत्तिया अपने पुत्र से कहती है, "मेरे पुत्र शाक्य राजा तुम्हारे पुरखे हैं।" युवा शाक्यों के लिए भी 'राजा' शब्द का व्यवहार किया गया है।

यद्यपि उपर्युक्त उल्लेखों से शाक्यों के संविधान की ब्यौरेवार जानकारी प्राप्त करने में अधिक सहायता नहीं मिलती, तथापि मेरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दृष्टि में वे प्रोफेसर रीज डेविड्स के इस मत के निर्णायक प्रमाण हैं कि शाक्यों का संविधान अराजक था। प्रोफेसर देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर[1] द्वारा प्रतिपादित इस मत को स्वीकार करना कठिन है कि भद्दिय, जो शाक्य-राजा कहा गया है, एक वंशानुगत राजा था। जातक कथाओं से उद्धृत उक्त उदाहरणों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि लिच्छवियों के समान शाक्यों में भी अनेक राजा थे, जो सम्भवतः राज्य का शासन चलाने वाली सर्वोच्च सभा के सदस्य थे। हम उपराज नामक अधिकारियों के एक अन्य वर्ग की भी चर्चा पाते हैं[2]। इससे यह सम्भव जान पड़ता है कि लिच्छवि राजाओं की भांति शाक्य राजा भी लघुतर प्रशासनिक इकाइयों के प्रमुख थे। अतः उपलब्ध प्रमाणों से जान पड़ता है कि शाक्य और लिच्छवि-संविधान एक दूसरे से बहुत अधिक समानता रखते थे।

बौद्ध और जैन साहित्य में उल्लिखित अन्य जनों के संविधान के बारे में हमें अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। उनका स्वरूप प्रायः लिच्छवियों और शाक्यों के समान था, और कुल मिलाकर प्रतीत होता है कि इन लोकतांत्रिक सिद्धान्तों के अनुसार शासित राज्य बहुत समृद्ध थे। अजातशत्रु के मन्त्रियों को बुद्ध ने जो उत्तर दिया था वह लिच्छवियों की अन्तर्निहित शक्ति का अकाट्य प्रमाण है। एकपण्ण जातक (सं० 149, 1, 504) से हमें यह भी विदित होता है कि उन दिनों वैशाली नगर की अद्भुत समृद्धि थी। नगर चारों ओर से तीन दीवालों से घिरा हुआ था। प्रत्येक दीवाल एक-दूसरी से एक योजन की दूरी पर थीं और उनमें पहरे की

1. **कार्माइकेल लेक्चर्स**, प्रथम भाषण, पृ० 161।
2. **जातक**, जिल्द 5, पृ० 413, पृ० 15।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मीनारों से युक्त तीन द्वार थे। लिच्छवि गण के लिए बुद्ध के मन में जो उदात्त आदर भाव था उसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। किन्तु जैसा कि बुद्ध ने कहा था, आपसी फूट इन राज्यों में सबसे बड़ा खतरा था। और जिस प्रकार अजातशत्रु ने वैशाली को उसके प्रमुखों में भेद के बीज बोकर जीता था[1] वह अनेक अन्य अराजक राज्यों के दुर्भाग्य का प्रतिनिधिभूत उदाहरण है।

लोकतांत्रिक राज्य में उच्चतम सभा के अधिवेशनों में अनुसृत कार्यविधि—इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थ इस तथ्य को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं कि प्राचीन भारत में कुछ राज्यों में शासन के लोकतान्त्रिक रूप प्रचलित थे। इसकी सर्वाधिक स्मरणीय विशेषता थी उच्चतम लोकप्रिय सभा, जिसके अधिवेशन राजधानी में सन्थागार में नियमित रूप से होते थे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि बुद्ध ने अपने संघ के प्रशासन में भी इन्हीं लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों को प्रचलित किया। बौद्ध ग्रन्थ स्वभावतः बौद्ध संघ के प्रशासन पर अधिक विस्तार से विचार करते हैं, और फलस्वरूप हमारे लिए उस कार्य-प्रणाली का निश्चित ज्ञान प्राप्त करना सम्भव हो जाता है जिसके अनुसार इन धार्मिक सभाओं में विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श होता था। कई वर्ष पूर्व प्रोफेसर ओल्डेनबर्ग[2] ने इस कार्य-पद्धति की कुछ विशेषताओं पर विचार किया था। इसके बाद श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने इस विषय पर क्रमबद्ध विचार किया है, और अधिक महत्व की बात यह है कि इससे उन्होंने अराजक राज्यों के संविधान के विषय में कुछ बहुमूल्य सूचना

---

1. तुलनीय टर्नरकृत **अट्ठकथा** का अनुवाद, **ज० ए० सो० बं०**, जि० 7, पृ० 944 इत्यादि और पादटिप्पणी।
2. **बुद्ध**, पृ० 349।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खोज निकाली है[1]। इस प्रकार वे कहते हैं "हम बौद्ध संघ में विचार-विमर्श हेतु अनुसृत पद्धति को मोटे तौर पर बिना किसी हानि के उस पद्धति से अभिन्न मान सकते हैं जिसका अनुसरण उसके मूलभूत राजनीतिक संघ में किया जाता था।" प्रोफेसर देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने भी मोटे तौर पर इस विचार का अनुमोदन किया है और मूलतः श्री जायसवाल द्वारा प्रस्तुत इस तर्क पर कुछ अधिक जोर दिया है कि बुद्ध ने ज्ञप्ति, प्रतिज्ञा–जैसे पारिभाषिक शब्दों के स्पष्टीकरण के लिए रुकना कभी आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि ये शब्द पहले से प्रचलित थे और उनके समय में भलीभाँति ज्ञात थे[2]।

किन्तु इस तर्क से छुटकारा पाना कठिन नहीं है। यह बात प्रायः सर्वमान्य है कि बुद्ध के निर्वाण के बहुत समय बाद तक बौद्ध धर्मग्रन्थ लिखे नहीं गए थे; और चूँकि इस मध्यवर्ती काल में भी ये पारिभाषिक शब्द निरन्तर व्यवहार में आते रहे, अतः वे भलीभांति ज्ञात थे और उनकी स्पष्ट परिभाषा की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। किन्तु यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं है कि बौद्ध धर्मग्रन्थों में कहीं भी इन शब्दों को स्पष्ट नहीं किया गया है, क्योंकि यद्यपि कोई तर्कसम्मत परिभाषा प्रस्तुत नहीं की गई है, तथापि प्रव्रज्या संस्कार के सम्बन्ध में, जबकि हम पहले-पहल इस विषय में कुछ सुनते हैं, ज्ञप्ति शब्द और सम्पूर्ण कार्य-प्रणाली को पूरी तरह समझाया गया है।

इस प्रकार हमें महावग्ग (1,12) से ज्ञात होता है कि आरम्भ में प्रत्याशी द्वारा इन वचनों को तीन बार कहने के बाद ही उसे पब्बज्जा और उपसम्पदा दीक्षाएँ दी जाती थीं: "मैं बुद्ध की शरण में

---

1. **माडर्न रिव्यू**, 1913, पृ० 664 और आगे।
2. **कार्माइकेल लेक्चर्स**, प्रथम माला, पृ० 184।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाता हूँ, मैं धम्म की शरण में जाता हूँ, मैं संघ की शरण में जाता हूँ"।

बाद में एक ब्राह्मण को पब्बज्जा देने के अवसर पर बुद्ध ने इस प्रकार निर्देश किया (महावग्ग, 1,28):

"भिक्खुओ, तीन बार शरण-गमन के द्वारा मैंने जो उपसम्पदा का विधान किया था आज से मैं उसका अन्त करता हूँ। भिक्खुओ, मैं तुम्हें संघ के एक औपचारिक कृत्य द्वारा, जिसमें घोषणा (ञत्ति) के पश्चात् तीन प्रश्न किए जाएंगे, उपसम्पदा देने की अनुज्ञा देता हूँ।

"और भिक्खुओ, तुम्हें उपसम्पदा इस प्रकार देनी चाहिए। एक विद्वान् समर्थ भिक्खु को संघ के सामने अधोलिखित ञत्ति उद्घोषित करनी चाहिए :"मान्यवर, संघ मेरी बात सुने। यह अमुक व्यक्ति, आयुष्मान् अमुक से उपसम्पदा प्राप्त करना चाहता। है यदि संघ सहमत हो तो अमुक व्यक्ति को अमुक उपज्झाय के साथ उपसम्पदा प्रदान करे। यह ञत्ति है।

"मान्यवर, संघ मेरी बात सुने। यह अमुक व्यक्ति आयुष्मान् अमुक से दीक्षा प्राप्त करना चाहता है। संघ अमुक व्यक्ति को अमुक उपज्झाय के साथ उपसम्पदा देता है। आप लोगों में से जो कोई अमुक व्यक्ति को अमुक उपज्झाय के साथ उपसम्पदा देने के पक्ष में हो वह मौन रहे, और जो इसके पक्ष में न हो वह बोले।

"और दूसरी बार मैं आप लोगों से कहता हूँ : संघ इत्यादि (पूर्ववत्)।

"और तीसरी बार मैं आप लोगों से कहता हूँ : संघ इत्यादि (पूर्ववत्)।

"अमुक व्यक्ति को अमुक उपज्झाय के साथ उपसम्पदा मिल चुकी है, मैं समझता हूँ कि संघ इसके पक्ष में है, इसलिए वह मौन है" (सै० बु० ई०, जिल्द 13, पृ० 169–170)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह कार्यप्रणाली की पूर्ण व्याख्या है और प्रत्येक व्यक्ति पहली बार सुनने पर भी उसे अच्छी तरह समझ सकता था। यदि बुद्ध ने केवल तत्कालीन संस्थाओं और रीतियों का अनुकरण किया होता तो वे इस बात का उल्लेख अधिक संक्षेप से करते। पुनश्च, महावग्ग (9,3) में विहित नियमों की लम्बी सूची से भी यह स्पष्ट है कि बुद्ध कार्यपद्धति के पूरे क्रम का निर्माण कर रहे थे, राज्य के नियमों का अनुसरणमात्र नहीं। अतः कार्य-प्रणाली को स्पष्ट करने की बुद्ध की पद्धति में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे यह सिद्ध होता हो कि यह प्रणाली पहले से ही प्रचलित थी और वे केवल अपने संघ में उत्पन्न होने वाले विशेष प्रकार के प्रश्नों के निबटारे के लिए उन्हें स्वीकार कर रहे थे। श्री जायसवाल ने अपने मत के समर्थन में जो एकमात्र अन्य तर्क दिया है वह यह धारणा है कि जहाँ तक उसके संविधान का प्रश्न है, बौद्ध संघ राजनीतिक संघ की प्रतिलिपि है। किन्तु यद्यपि हम साधारणतः यह विश्वास कर सकते हैं कि अपने संघ की रचना करते समय बुद्ध को काफी हद तक अपने पड़ोस के अत्यन्त विकसित और समृद्ध लोकतान्त्रिक राज्यों से प्रेरणा प्राप्त हुई थी, तथापि यह मानना उचित न होगा कि उन्होंने जानबूझ कर उनमें से किसी के संविधान का अनुकरण किया अथवा उनमें से प्रत्येक में निहित साधारण लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त और किसी बात को स्वीकार किया।

अतः यह मानना संशयास्पद होगा कि बौद्ध संघ के विस्तृत नियम महान् लोकसत्तात्मक राज्यों की राजनीतिक सभाओं द्वारा अङ्गीकृत कार्यप्रणाली पर भी लागू थे। तथापि एक इतिहासकार उनके अध्ययन से राजनीतिक सभाओं की कार्यपद्धति विकास की जिस अवस्था को पहुंच चुकी थी उसका सामान्य ज्ञान प्राप्त करने में लाभ उठा सकता है। क्योंकि सूक्ष्म विश्लेषण करने पर ये नियम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हमारे सामने अनेक ऐसी विशेषताओं को अनावृत करते हैं जो लोकप्रिय सभाओं की कार्यविधि के साथ इतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध और प्रायः सावयव रूप से संयुक्त हैं कि यह विश्वास करना कठिन ही नहीं प्रायः असम्भव है कि उनका ज्ञान जीवन के केवल एक क्षेत्र तक सीमित था। विशाल सभाओं के सफल संचालन के लिए ये नियम इतने अनिवार्य हैं कि हम यह प्रायः निश्चित मान सकते हैं कि यदि वे जीवन के एक क्षेत्र में ज्ञात होते तो अन्य क्षेत्रों में उनका अनुकरण अवश्यम्भावी था। उदाहरणार्थ, जब हम चुल्लवग्ग (4,14,19) में पढ़ते हैं कि किस प्रकार सभा किसी प्रश्न को विचार के लिए समिति को भेज देती थी तो हम इस बात को प्रायः निश्चित रूप से मान सकते हैं कि जटिल प्रश्नों को समितियों को सौंप कर कार्य को शीघ्र निबटाने की सुविज्ञात आधुनिक पद्धति प्राचीन भारत के धार्मिक अथवा राजनीतिक सभाओं को अज्ञात नहीं थी। क्योंकि किसी सभा के सफलता-पूर्वक संचालन के लिए यह बात अनिवार्य रूप से आवश्यक है और इसकी उपयोगिता साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति को भी इतनी स्पष्ट है, कि चाहे इसका उद्भव एक धार्मिक संघ में हुआ हो या एक राजनीतिक सभा में, एक के द्वारा दूसरे से इसका अनुकरण किया जाना अवश्यम्भावी था। इस आधार पर तर्क करते हुए बौद्ध धर्मग्रन्थों में विहित कार्यपद्धति-सम्बन्धी नियमों से एक लोकतान्त्रिक राज्य की लोकप्रिय सभा की अधोनिर्दिष्ट महत्वपूर्ण विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है:

(1) सभा में प्रस्ताव रखने की पद्धति के सम्बन्ध में निश्चित नियमों का विधान किया गया था |(उदाहरणार्थ, बौद्ध संघ में, तुलनीय चुल्लवग्ग, 4,2,2; 11,1,4)।

(2) गणपूर्ति का नियम था (महावग्ग, 9,3,2)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(3) मतभेद होने पर सभा का अभिप्राय बहुसंख्या के मतों के द्वारा निश्चित किया जाता था। मत-गणना की निर्दिष्ट पद्धितियाँ थीं तथा शलाका के द्वारा मतदान अज्ञात नहीं था (चुल्लवग्ग, 4,9; 4,14,26)।

(4) जटिल प्रश्न समितियों को सौंप दिए जाते थे और यदि वे किसी निर्णय पर पहुंचने में असमर्थ होतीं तो प्रश्न पुनः सभा को लौटा दिया जाता था (चुल्लवग्ग, 4,14,24)।

(5) प्रतीत होता है कि अनुपस्थित सदस्यों के मतदान (महावग्ग, 9,3,5-6) तथा अवैध रूप से संगठित सभा द्वारा किए हुए कार्यों के उत्तरकालीन वैधीकरण (चुल्लवग्ग 2,1,10) प्रभृति प्रश्नों के सम्बन्ध में निश्चित नियमों का विधान किया गया था।

§ ४

प्राचीन भारतीय गणराज्यों और अल्पजनतन्त्रात्मक राज्यों के विषय में यूनानी लेखकों का साक्ष्य—प्रकृत विषय के सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य के बाद हमारी सूचना का सबसे महत्वपूर्ण आधार यूनानी लेखकों की कृतियाँ हैं। वे ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी के अन्त में, जब कि विशाल मौर्य साम्राज्य निर्माण की प्रक्रिया से होकर गुजर रहा था, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र, अराजक शासन के इन दोनों रूपों, के अस्तितव को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करती हैं। मेगास्थनीज़ कुछ समय के लिए भारत में रहा था और, ग्रीक राजनीतिज्ञ होने के के नाते, यह कल्पना की जा सकती है कि शासन के लोकतन्त्रात्मक और कुलीनतान्त्रिक रूपों के पारस्परिक भेद से वह भलीभांति परिचित था। अतः हम उसके इस कथन पर निस्संकोच विश्वास कर सकते हैं कि उसके समय में अधिकांश नगरों में शासन का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोकतान्त्रिक रूप अपना लिया गया था (मैक्क्रिण्डल का अनुवाद, पृ० 40)। इस कथन के प्रकाश में हमें उसके इन अन्य वक्तव्यों पर विचार करना चाहिए कि 'माल्टेकोर, सिंध (तथा अन्य जन) स्वतन्त्र हैं और उनमें कोई राजा नहीं है' (वही, पृ० 143–144) और 'जो लोग समुद्र के पास रहते हैं उनका कोई राजा नहीं है' (वही, पृ० 156)। किन्तु फ़िक मेगास्थनीज़ के समय में गणराज्यों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनके मत में यूनानी लेखक का अभिप्राय केवल इस तथ्य से था कि मगध के विशाल राज्य के सन्निहित पड़ोस में कुछ नगरों और छोटे राज्यों ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखा था, न कि उनके शासन का रूप राजतन्त्रात्मक राज्य के शासन से बहुत भिन्न था[1]। मैं श्री फ़िक के मत का समर्थन नहीं कर सकता, क्योंकि वे उसका कोई समुचित कारण प्रस्तुत नहीं करते, और विशेषतः इसलिए कि एक यूनानी राजनीतिज्ञ से शासन के लोकतान्त्रिक और कुलीनतान्त्रिक रूप-जैसी सुपरिचित संस्थाओं के विषय में भूल की आशंका नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रीक लेखकों के वक्तव्यों से भी मेगास्थनीज़ के विवरण की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ, एरियन कहता है कि भारत में सैंड्राकोटस (चन्द्रगुप्त मौर्य) के काल के पूर्व तीन बार गणराज्य स्थापित हुआ था[2]। यह ठीक है कि सम्भवतः यवनों को इन घटनाओं की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती थी, किन्तु भारतवासियों में प्रचलित इस प्रकार की परम्परा भी हमारे मत को सिद्ध करने में बहुत अधिक सहायक होगी। इसके अतिरिक्त सुपरिण्टेण्डेण्ट नामक अधिकारियों के वर्ग

1. फ़िक, पृ० 90।
2. एरियन, इण्डिका, मैक् क्रिंडल कृत अनुवाद, पृ० 203।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की चर्चा करता हुआ एरियन स्पष्ट रूप से कहता है : "जहाँ राजा राज्य करता है वहाँ वे प्रत्येक बात की सूचना राजा को देते हैं और जहाँ लोग स्वशासित हैं वहाँ मैजिस्ट्रेटों को[1] ।" इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ एरियन राजतन्त्रात्मक राज्यों और अराजक राज्यों के बीच भेद करता है ।

पुनश्च क्विंटस कर्टियस 'सबर्क' नामक एक शक्तिशाली जन का उल्लेख करता है जिसमें शासन का रूप लोकतान्त्रिक था, राजतन्त्रात्मक नहीं[2] । इस लोकतान्त्रिक राज्य के विस्तार और समृद्धि का अनुमान इस तथ्य से किया जा सकता है कि उसकी सेना में 60,000 पदाति, 6,000 घुड़सवार और 500 रथ थे । जब सिकंदर ने उनके विरुद्ध अभियान किया तब उन्होंने तीन सेनापतियों को चुना । अन्तिम तथ्य उनकी शासनपद्धति के पूर्णतः अनुरूप है । इस सन्दर्भ में यह भी स्मरणीय है कि यहाँ प्रश्न एक नगरराज्य का नहीं है, क्योंकि यहाँ कहा गया है कि 'सिन्धु नदी के तट पर उनके बहुत घने ग्राम बसे हुए थे ।'

यूनानी लेखक अल्पजनतन्त्र द्वारा शासित राज्यों का अस्तित्व भी सिद्ध करते हैं । इस प्रकार एरियन कृत 'अनाबेसिस' से इस बात में सन्देह के लिए अवकाश नहीं रहता कि नीसा के नगरराज्य में अल्पजनतन्त्रात्मक शासन था और उसके प्रबन्ध-मण्डल में एक अध्यक्ष एवं कुलीनतन्त्र के 300 सदस्य थे । क्योंकि इस ग्रन्थ में कहा गया

1. वही, पृ० 212 ।
2. मैक्क्रिंडल, पृ० 252 । डायोडोरस (वही, पृ० 292) भी सम्बस्ता (जो कुछ विद्वानों के अनुसार सबर्क से अभिन्न हैं) की चर्चा करते हुए कहता है कि वे नगरों में रहते थे जिनमें लोकसत्तात्मक शासन प्रचलित था ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है कि "जब अलेग्जैंडर नीसा पहुंचा तो नीसा के निवासियों ने उसके पास अपने अकोफिस नामक अध्यक्ष को और अपने सबसे प्रमुख नागरिकों के तीस प्रतिनिधियों को भेजा"। आगे चलकर हम पुनः सुनते हैं कि सिकंदर ने "नीसा के निवासियों को उनकी स्वतन्त्रता का उपभोग करने और उनके अपने नियमों के पालन की अनुमति दे दी; और जब उसने उनके कानून के विषय में पूछताछ की तो उसने उनकी प्रशंसा की क्योंकि उनके राज्य का शासन कुलीनतन्त्र के अधीन था। इसके अतिरिक्त उसने उनके प्रबन्ध-मण्डल से, जिसमें तीन सौ सदस्य थे, चुने हुए सौ श्रेष्ठ पुरुषों को अपने साथ भेज देने की उनसे प्रार्थना की[1]।"

एरियन आगे इस प्रकार लिखता है: "यह सूचना मिली थी कि व्यास नदी के उस पार का प्रदेश अत्यन्त उर्वर था और वहाँ के निवासी अच्छे कृषक और युद्धवीर थे तथा वे आन्तरिक शासन की एक उत्कृष्ट पद्धति के अन्तर्गत रहते थे, क्योंकि प्रजा कुलीन वर्ग द्वारा, जो अपने अधिकारों का प्रयोग न्याय और संयम के साथ करता था, शासित थी[2]।" इसी देश के सम्बन्ध में एक परम्परा का उल्लेख करते हुए स्ट्रैबो भी कहता है: "वहाँ पर कुलीनतन्त्रात्मक शासन है। उसके पाँच सौ सभासद् हैं जिनमें से प्रत्येक राज्य को एक हाथी देता है[3]।"

यवन लेखक मल्लोई, औक्सिड्रकाई, ग्जैथ्रोई, अद्रैस्टाई इत्यादि विविध अन्य जनों का भी उल्लेख करते हैं। प्रतीत होता है कि ये लोग एक अराजक संविधान के अधीन थे, चाहे वह कुलीन-

1. मैक्क्रिंडल, पृ० 79–81।
2. मैक्क्रिंडल, पृ० 121।
3. मेगास्थनीज, इण्डिका, पृ० 67।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तन्त्रात्मक रहा हो चाहे गणतन्त्रात्मक । इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि सिकंदर जिन भारतीय राज्यों के सम्पर्क में आया उनमें से अधिकांश इसी श्रेणी के थे । अतः यह कल्पना करना अनुचित न होगा कि ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में पंजाब में राजतन्त्रात्मक संविधान की अपेक्षा शासन का अराजक रूप अधिक प्रचलित था ।

§ ५

अर्थशास्त्र में अराजक राज्यों पर विचार—मौर्य साम्राज्य के संस्थापक के सुप्रसिद्ध मन्त्री कौटिल्य का अर्थशास्त्र ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी के अराजक राज्यों के सम्बन्ध में ग्रीक लेखों के विवरणों पर एक उपयुक्त टीका प्रस्तुत करता है ।

कौटिल्य एक सम्पूर्ण अध्याय (अधिकरण 11, अध्याय 1) में संघों पर विचार करते हैं और उन्हें दो वर्गों में विभक्त करते हैं :

> "काम्बोज-सुराष्ट्र-क्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः ।
> लिच्छिविक-वृजिक-मल्लक-मद्रक-कुकुर-कुरु-पाञ्चालादयो
> राजशब्दोपजीविनः ।" (पृ० 376)

इस प्रकार प्रथम वर्ग में क्षत्रिय-श्रेणियों का समावेश था । वे व्यापार, कृषि और सैनिक व्यवसाय का अनुसरण करती थीं । श्रेणियों के सन्दर्भ में हम इनका विचार पहले ही कर चुके हैं । यहाँ केवल इस बात का उल्लेख पर्याप्त होगा कि कौटिल्य की कृतियों से यह प्रतीत होता है कि कभी-कभी उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी होता था ।

दूसरे वर्ग में उन संघों की गणना थी जो राजा की पदवी (राजशब्द) का व्यवहार करते थे । इस वर्ग में लिच्छविकों,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वृजिकों, मल्लकों, मद्रकों, कुकुरों, कुरुम्रों तथा पाञ्चालों का समावेश था[1]।

जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, बौद्ध साहित्य से इस कथन की सत्यता प्रमाणित होती है कि लिच्छवि 'राजा' की उपाधि का व्यवहार करते थे। अर्थशास्त्र केवल यह सिद्ध करता है कि अजातशत्रु के आक्रमण के बावजूद लिच्छवियों ने अपना अस्तित्व बनाए रखा तथा उनका लोकतान्त्रिक संविधान कम से कम चतुर्थ शती ई० पू० के अन्त तक अथवा तृतीय शती ई० पू० के आरम्भ तक विद्यमान

---

1. "राजशब्दोपजीविन:" शब्द बहुत दुरूह है। 'राजशब्द' की तुलना 'युवराजशब्द' (यथा **रघुवंश**, 3, 35—'नृपेण चक्रे युवराजशब्द-भाक्') के साथ की जा सकती है तथा इसका अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है—'राजा की पदवी अथवा उपाधि (पद सहित?)।' किन्तु 'उपजीविन:' शब्द का साधारण अर्थ यहाँ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार शामशास्त्री का अनुवाद "संघ राजा की उपाधि से अपनी जीविका चलाते हैं" कोई अर्थ नहीं देता, क्योंकि एक उपाधि से किसी का अपनी जीविका चलाना कैसे सम्भव है? वि० स० आप्टे ने अपने संस्कृत-अंगरेजी कोश में 'उपजीव्' धातु का एक अर्थ 'उपयोग करना' दिया है और इसके समर्थन में महाभारत का निम्नलिखित उद्धरण दिया है—'तदेतद् भारतं नाम कविभिस्तूपजीव्यते।' यह अर्थ उक्त दोनों शब्दों के लिए उपयुक्त है। महाभारत के उक्त वचन में 'उपजीव' का निहित अर्थ यह है कि कवि केवल भारत का उपयोग ही नहीं करते, अपितु अपनी कृतियों के लिए सामग्री भी प्राप्त करते हैं। अत: प्रकृत उदाहरण में भी यह माना जा सकता है कि लिच्छवि केवल 'राजा' की पदवी का उपयोग ही नहीं करते थे, अपितु यह उपाधि उनको संघ के रूप में अस्तित्व की सामग्री अथवा संगति भी प्रदान करती थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। लिच्छवियों के संविधान का कुछ विवरण मैं पहले ही दे चुका हूँ, और यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि कौटिल्य के काल में उसमें अधिक परिवर्तन नहीं हुआ था तथा उनके द्वारा उल्लिखित अन्य संघ भी इसी प्रकार के थे। वे इस विषय में अधिक जानकारी नहीं देते, किन्तु वे जो कुछ कहते हैं वह हमारे विचार के पूर्णतः अनुरूप है।

इस प्रकार निम्नलिखित वचन से यह स्पष्ट है कि संघ की एक साधारण सभा थी और प्रबन्ध अधिकारी (मुख्य) उसके अधीन होते थे :

"सत्री वा स्त्रीलोलुपं सङ्घमुख्यं प्ररूपयेत्-'अमुष्मिन् ग्रामे दरिद्रकुलमपसृतं; तस्य स्त्री राजार्हा, गृहाणैनाम्' इति। गृहीतायामर्ध-मासान्तरं सिद्धव्यञ्जनो दूष्य सङ्घमुख्यमध्ये प्रक्रोशेत्"— "असौ मे मुख्यां भार्यां स्नुषां भगिनीं दुहितरं वाऽधिचरति" इति। तं चेत् सङ्घो निगृह्णीयात्, राजैनमुपगृह्य विगुणेषु विक्रमयेत्।" (पृ० 378)

यहाँ हमें संघों की साधारण सभा की कल्पना करनी पड़ती है, क्योंकि 'मध्ये' शब्द का 'सभा के मध्य में' के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ सम्भव नहीं है। सभा को मुख्यों के विरुद्ध शिकायतें सुनने तथा उन्हें दण्ड देने का अधिकार था। अतः वे उसके अधीन माने जाने चाहिए।

आर० शामशास्त्री ने 'मुख्य' शब्द का अनुवाद 'संघ का प्रमुख' किया है (पृ० 457, 458)। यह परम मुख्य के अस्तित्व का सूचक माना जा सकता है, किन्तु इस विचार के पक्ष में मुझे कोई प्रमाण दृष्टिगत नहीं होता। 'सङ्घमुख्यांश्च धर्मिष्ठान्' (पृ० 377) तथा 'भिक्षुकी वा प्रियभार्यं मुख्यं ब्रूयादसौ ते मुख्य.....' (पृ० 379)–जैसे वाक्यांशों से अनेक मुख्यों का अस्तित्व पूर्णतः स्पष्ट होता है। अतः मुख्यों को 'प्रबन्ध अधिकारी' मानना चाहिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सभा के सदस्य 'राजा' कहलाते थे। यह केवल 'राज-शब्दोपजीविन:' शब्द से ही नहीं अपितु 'राजशब्दिभिरवरुद्धमवक्षिप्तं वा'-जैसे वाक्यांशों से भी स्पष्ट है। स्पष्टत: सभा की आज्ञा से ही कोई व्यक्ति बन्दी बनाया अथवा रद्द (शाब्दिक अर्थ—फेंका हुआ, अर्थात् बहिष्कृत) किया जा सकता था। अत: 'राजशब्दी' का आशय सभा के सदस्यों से है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सभा का प्रत्येक सदस्य 'राजा' की उपाधि धारण करता था। निम्नलिखित श्लोक में कौटिल्य ने संविधान के लोकतान्त्रिक स्वरूप की ओर स्पष्ट संकेत किया है :

"सङ्घमुख्यश्च सङ्घेषु न्यायवृत्तिहित: प्रिय: ।
दान्तो युक्तजनस्तिष्ठेत् सर्वचित्तानुवर्तक: ।।" (पृ० 379)

इस प्रकार सङ्घमुख्य से उसी क्रियाविधि के अनुसरण की आशा की जाती थी जो सङ्घ के सदस्यों द्वारा अनुमोदित होती थी।

सङ्घों की ऊपर दी गई सूची वस्तुत: महत्वपूर्ण है। इसमें उत्तर भारत के पूर्व में लिच्छवियों, वृजिकों और मल्लकों का, मध्य में कुरुओं और पाञ्चालों का, उत्तर-पश्चिम में मद्रकों का और दक्षिण-पश्चिम में कुकुरों का समावेश है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मौर्यकाल के प्रारम्भ में समूचे उत्तर भारत में लोकतन्त्रात्मक राज्य छितरे हुए थे। कौटिल्य का यह कथन कि राजा के लिए सेना, मित्र और लाभ की प्राप्ति की अपेक्षा सङ्घों के सहयोग की प्राप्ति अधिक हितकर है इस बात का द्योतक है कि वे अत्यधिक शक्तिशाली थे। इस प्रकार कौटिल्य यूनानी लेखकों के विवरण की पुष्टि और न्यूनता-पूर्ति करते हैं। यह उल्लेख्य है कि कौटिल्य और यूनानी लेखकों ने भारत का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह एक ही काल से सम्बन्ध रखता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कौटिल्य का साम्राज्यवाद और अराजक राज्यों पर उसका विनाशकारी परिणाम—किन्तु साम्राज्यवाद के आगे की ओर बढ़ाव के परिणामस्वरूप सामूहिक राजनीतिक गतिविधियों के इन सब केन्द्रों का पदाक्रान्त होना अनिवार्य था। विशाल मौर्य साम्राज्य के संस्थापक के मैकियावेली-सदृश कूटनीतिज्ञ मन्त्री के अनैतिकतापूर्ण सिद्धान्तों ने इस कार्य को और सरल बना दिया था। स्वतन्त्र लोकतान्त्रिक राज्यों का अस्तित्व साम्राज्य-सम्बन्धी उनके विचारों से असंगत प्रतीत हुआ और वे स्वयं उचित और अनुचित सभी उपायों से उनकी शक्ति का ह्रास करने के काम में लग गए। जो भी अर्थशास्त्र के संघ-विषयक अध्याय को पढ़ेगा वह उस दृढ़ संकल्प और स्थिर एवं सतत प्रयत्नों से, जिनके साथ कौटिल्य अपनी लक्ष्यपूर्ति में दत्तचित्त हो गए थे, प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। उनकी राजनीतिक अन्तर्दृष्टि से गौतम बुद्ध द्वारा संकेतित यह सारभूत तथ्य छिपा नहीं था कि 'संघ की शक्ति का सार उसके सदस्यों की एकता में निहित है' और चतुरतापूर्ण उपाय खोज निकालने की उनकी वस्तुतः आश्चर्यजनक शक्ति इन संघों में भेद-बीज बोने के एक मात्र उद्देश्य की ओर लगी हुई थी। इस प्रकार वे सारभूत सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि "गुप्तचरों को इन सब संघों में प्रवेश पाकर तथा उनमें ईर्ष्या, घृणा तथा कलह के विविध कारणों का ज्ञान प्राप्त कर उनमें सुनियोजित भेद के बीज बोना चाहिए।" इस कार्य के हेतु नियुक्त गुप्तचर और उनके द्वारा अपनाए हुए उपाय अनेक प्रकार के थे। उन्हें किसी से एकान्त में 'यह आदमी तुम्हारी निन्दा करता है' कह कर पारस्परिक घृणा को उकसाना चाहिए। उन्हें आचार्यों का छद्मवेश धारण कर विज्ञान, कला, द्यूत अथवा क्रीड़ा-विषयक कुछ प्रश्नों पर वाद-विवादों के अवसरों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर पारस्परिक द्वेष पैदा करना चाहिए। तीक्ष्ण गूढ़ पुरुषों को मद्यशालाओं और रंगशालाओं में हीन नेताओं की प्रशंसा करके संघ के नेताओं के मध्य कलह उत्पन्न करना चाहिए। और इस बीच निरंकुश राजा बिना किसी संकोच के गुप्त रूप से जन और धन देकर हीन दल की सहायता करता और उसे श्रेष्ठ दल के विरुद्ध उकसाता रहता था। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। चन्द्रगुप्त का ब्राह्मण महामन्त्री अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए मदिरा और स्त्री का उपयोग करने में भी संकोच नहीं करता था। इस प्रकार, किसी उपद्रव के अवसर पर (विक्रमकाले) गुप्तचर मद्य-विक्रेताओं के वेश में पुत्रजन्म, विवाह अथवा मृत्यु-विषयक स्वास्थ्य-कामना (नैषेचनिक) के बहाने मदन के पौधे के रस से मिश्रित मद्य के सैकड़ों भाण्डों का वितरण करें। आकर्षक यौवन और सौन्दर्य से युक्त स्त्रियों का प्रदर्शन कर संघों के प्रमुख के हृदय में अनुराग अंकुरित किया जाए, और तब उस स्त्री को दूसरे पुरुष के पास भेजकर अथवा यह बहाना बना कर कि दूसरा पुरुष उसे बलपूर्वक हरण कर ले गया है वे उस स्त्री पर अनुरक्त पुरुषों के मध्य कलह उत्पन्न कराएँ। और कलह आरम्भ होने पर तीक्ष्ण पुरुष उनमें से एक को मार कर घोषित कर दें कि 'वह अपने अनुराग के कारण मार डाला गया है'। स्त्री-सौन्दर्य से आकर्षित कर किसी पुरुष का सर्वनाश करने के जो अन्य उपाय सुझाए गए हैं उनका उल्लेख मैं यहाँ नहीं करना चाहता, किन्तु एक उपाय इतना विलक्षण है कि उसका उल्लेख न करना असम्भव है। यह सुझाव दिया गया है कि एक भिक्षुकी गुप्तचर, अपनी पत्नी में अनुरक्त, एक मुख्य से जाकर कहे : "इस (दूसरे) मुख्य ने यौवन से उन्मत्त होकर मुझे तुम्हारी पत्नी को लुभाने के लिए भेजा है।.... उसके विरुद्ध गुप्त कदम उठाना चाहिए।" इसका परिणाम स्पष्ट ही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

§ ६

कौटिल्य के साम्राज्यवाद के होते हुए भी संघ जीवित रहा—इन तथा इनके समान अन्य उपायों का अवलम्बन कौटिल्य ने अपने इस महान् आदर्श की प्राप्ति के लिए किया कि 'उनका स्वामी समस्त संघों का एक मात्र राजा होकर रहे' (पृ० 379)। सम्भवतः काफी हद तक यह आदर्श उपलब्ध भी हो गया था, क्योंकि मौर्यकाल में इन शक्तिशाली संघों के अस्तित्व का कोई वास्तविक प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु इनके अस्तित्व की आधारभूत संघ-भावना की जड़ें देश की भूमि में इतनी गहरी पैठ गई थीं कि केवल किसी सम्राट् की आज्ञा से उनका अन्त होना सम्भव नहीं था। चन्द्रगुप्त के पराक्रम तथा चाणक्य की प्रतिभा के द्वारा स्थापित सुदृढ़ केन्द्रीभूत शासन का पतन होने पर स्वतन्त्र राजनीतिक संघों ने पुनः अपना सिर ऊंचा उठा लिया और उनमें से कुछ महत्ता एवं ऐश्वर्य की चरम सीमा को पहुंच गए। मुद्राओं के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् एक शताब्दी के भीतर यौधेयों, मालवों, वृष्णियों, अर्जुनायनों, औदुम्बरों और कुणिन्दों ने अपनी स्वतन्त्रता स्थापित कर ली थी। यह सत्य है कि अब हमें लिच्छवियों, वृजिकों, कुरुओं और पाञ्चालों की चर्चा सुनाई नहीं पड़ती, किन्तु उनका स्थान मालव, यौधेय, अर्जुनायन तथा अन्य जनों ने ले लिया था। इसमें सत्यता यह है कि व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है किन्तु उसकी आत्मा जीवित रहती है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि मगध के पड़ोस में गणराज्य सदा के लिए लुप्त हो जाते हैं। उनमें से केवल एक (लिच्छवि) इतिहास में पुनः प्रकट होता है, किन्तु तब लिच्छवि नेपाल में एक राजसत्तात्मक शासन के अधीन थे। इस प्रकार कौटिल्य के सिद्धान्तों को जिस पूर्णता के साथ कार्यान्वित किया गया वह वस्तुतः आश्चर्यजनक है। किन्तु परवर्ती काल में राजनीतिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विचारों में महान् परिवर्तन हुआ । जब भारत कुछ शताब्दियों तक साम्राज्यवाद का रसास्वादन कर चुका था तब कौटिल्य की रचनाओं को प्रेरित करने वाले विचार असामयिक प्रतीत हुए। कौटिल्य के प्रभावक्षेत्र के बाहर कुछ राजनीतिक सम्प्रदायों का उद्भव हुआ, जिन्होंने गणराज्यों के कल्याण, समृद्धि और उनके अविच्छिन्न अस्तित्व में उतनी ही रुचि ली जितनी कौटिल्य ने उनके विनाश और ध्वंस में ली थी। उनकी रचनाओं का एक सुन्दर उदाहरण महाभारत में शान्तिपर्व के १०७वें अध्याय में सुरक्षित है[1] ।

गणराज्यों के अस्तित्व की समर्थक नवीन राजनीतिक विचारधाराएँ— प्रकृत अंश की वास्तविक व्याख्या प्रस्तुत करने तथा प्राचीन भारतीय गणराज्यों के लिए उसके महत्व को स्पष्ट करने का श्रेय श्री काशीप्रसाद जायसवाल को प्राप्त है। किन्तु उनका ध्यान इस बात की ओर

---

१. महाभारत के विभिन्न अंशों की तिथि का मोटे तौर से भी निश्चय करना कठिन है। किन्तु प्रस्तुत उदाहरण में यह कार्य अपेक्षाकृत सरल हो जाता है क्योंकि स्वतंत्र अन्तःसाक्ष्य से यह सिद्ध किया जा सकता है कि महाभारत का यह अंश कौटिल्य के संघ-विषयक अध्याय की अपेक्षा परवर्ती है। पाणिनि ने जिस ढंग से इस शब्द का प्रयोग किया है उससे यह स्पष्ट है कि प्रथम 'सङ्घ' का व्यवहार सभी संघों के लिए होता था। बाद में बौद्ध संघ ने इस शब्द पर एकाधिकार कर लिया, और जैसा कि मुद्राओं से स्पष्ट है 'गग' शब्द का व्यवहार बहुधा मौर्योत्तर राजनीतिक संघ ही करते थे। कौटिल्य अराजक राज्य के लिए संघ शब्द का ही व्यवहार करते हैं, जब कि शान्तिपर्व (अध्याय 107) में केवल 'गग' शब्द ही प्रयुक्त है। मेरे विचार में यह महाभारत के उक्त अध्याय की अपेक्षा अर्थशास्त्र के अध्याय की पूर्ववर्तिता का सुदृढ़ प्रमाण है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं गया कि इसने एक नवीन राजनीतिक विचारधारा को जन्म दिया, जो कौटिलीय सम्प्रदाय की विचारधारा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी। प्राचीन भारत के राजनीतिक आदर्शों के क्रमबद्ध विकास का ज्ञान प्राप्त करना एक कठिन कार्य है और फलस्वरूप कुछ दृष्टान्त, जिनमें हम ऐसा करने में समर्थ हैं, अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। जहाँ तक स्वतन्त्र राजनीतिक संघों का सम्बन्ध है, हम ऊपर देख आए हैं कि महात्मा गौतम बुद्ध उनके कितने पक्ष में थे और उनके काल में वे कितने समृद्ध थे। किन्तु मगध का विकासशील साम्राज्यवाद उनके अस्तित्व को सहन नहीं कर सकता था, और स्वयं गौतम बुद्ध के काल में ही अजातशत्रु का मन्त्री सर्वाधिक महत्वपूर्ण गणराज्यों में से एक का विनाश और ध्वंस करने के लिए मार्ग तैयार करने में लगा था। उसने जिन अनैतिक उपायों का अवलम्बन कर वज्जियों में भेद के बीज बोए अट्ठकथा[1] में उनका विस्तृत वर्णन किया गया है, और उन्हें राजनीति के उस सम्प्रदाय के विचारों का व्यावहारिक उदाहरण माना जा सकता है जिसका सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता कौटिल्य था। सिद्धान्त और उसका व्यावहारिक रूप दोनों साथ-साथ कार्य कर रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मौर्य साम्राज्य के विस्तार के साथ इन राजनीतिक संघों का अन्त हो गया। मौर्य साम्राज्य के केन्द्रीय प्रदेशों में तो यह विनाश इतना पूर्ण था कि हम भविष्य में कभी किसी राजनीतिक संघ की चर्चा नहीं सुनते। किन्तु जिस चेतना ने इन राजनीतिक संघों को जन्म दिया उसका अन्त इतना शीघ्र न हो सका। इसका समर्थन प्रथम तो राजनीतिक संघों के विकास और उन्नति के पक्षपाती राजनीतिक विचारों के एक नवीन सम्प्रदाय के

1. ज० ए० सो० बं०, जिल्द ७, पृ० ९९४ पादटिप्पणी (टर्नरकृत अनुवाद)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जन्म से और दूसरे मौर्यों के सुदृढ़ हाथों के हटते ही उनमें कुछ के पुनराविर्भाव से होता है।

अराजक राज्यों तथा उनके योगक्षेम के उपायों के विषय में महाभारत का एक महत्वपूर्ण संवाद—शान्तिपर्व का 107वाँ अध्याय राजनीतिक विचारधारा के इस नवीन सम्प्रदाय का प्रतिनिधि माना जा सकता है। विषय के महत्व को ध्यान में रखते हुए मैं इस महत्वपूर्ण अंश को उद्धृत कर रहा हूँ और उसका स्वतन्त्र अनुवाद भी प्रस्तुत कर रहा हूँ।

युधिष्ठिर उवाच—

"गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतां वर ।।6।।
यथा गणाः प्रवर्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत।
अरींश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ।।7।।
भेदमूलो विनाशो हि गणनामुपलक्षये।
मन्त्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ।।8।।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं निखिलेन परंतप।
यथा च ते न भिद्येरंस्तच्च मे वद भारत" ।।9।।

भीष्म उवाच—

"गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम।
वैरसन्दीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ।।10।।
लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम्।
ततो ह्यमर्षसंयुक्तावन्योन्य जनिताशयौ[1] ।।11।।
चारमन्त्रबलादानैः सामदान विभेदनैः।
क्षयव्ययभयोपायैः प्रकर्षन्तीतरेतरम् ।।12।।

---

1. कलकत्ता संस्करण में "तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यं च विनाशिनौ" पाठ है। इसका कोई सन्तोषजनक अर्थ नहीं निकलता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तत्रादानेन भिद्यन्ते गणाःसंघातवृत्तयः ।
भिन्नाः विमनसः सर्व्वे गच्छन्त्यरिवशं भयात् ।।13।।
भेदे गणा विनश्युर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः ।
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ।।14।।
अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते संघातबलपौरुषैः ।
बाह्याश्च मैत्रीं कुर्व्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु ।।15।।
ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति सुश्रूषन्तः[1] परस्परम् ।
विनिवृत्ताभिसंधानाः सुखमेधन्ति सर्व्वशः ।।16।।
धर्म्मिष्ठान् व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः ।
यथावत् प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ।।17।।
पुत्रान् भ्रातृन् निगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान् सदा ।
विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ।।18।।
चारमन्त्रविधानेषु कोशसंनिचयेषु च ।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः ।।19।।
प्राज्ञान् शूरान् महोत्साहान् कर्म्मसु स्थिरपौरुषान् ।
मानयन्तः सदा युक्ता विवर्धन्ते गणाः नृप ।।20।।
द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः ।
कृच्छ्रास्वापत्सु संमूढान् गणान् संतारयन्ति ते ।।21।।
क्रोधो भेदो भयं दण्डः कर्षणं निग्रहो वधः ।
नयत्यरिवशं सद्यो गणान् भरतसत्तम ।।22।।
तस्मान्मानयितव्यास्ते गणमुख्याः प्रधानतः ।
लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव ।।23।।
मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्रकर्षण ।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ।।24।।

---

१. पढ़िए—'सुश्रुवतः' ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गणमुख्येषु संभूय कार्य्यं गणहितं मिथः ।।25।।
पृथग् गणस्य भिन्नस्य विततस्य ततोऽन्यथा ।
अर्थाः प्रत्यवसीदन्ति तथानर्था भवन्ति च ।।26।।
तेषामन्योन्यभिन्नानां स्वशक्तिमनुतिष्ठताम् ।
निग्रहः पण्डितैः कार्य्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः ।।27।।
कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः ।
गोत्रस्य नाशं कुर्व्वन्ति गणभेदस्य कारकम् ।।28।।
आभ्यन्तरं भयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयम् ।
अभ्यन्तरं भयं राजन् सद्यो मूलानि कृन्तति ।।29।।
अकस्मात् क्रोधमोहाभ्यां लोभाद् वापि स्वभावजात् ।
अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत् पराभवलक्षणम् ।।30।।
जात्या च सदृशाः सर्व्वे कुलेन सदृशास्तथा ।
न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येन वा पुनः ।।31।।
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः ।
तस्मात् संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत्" ।।32।।

युधिष्ठर ने कहा : "हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, मैं गणों की वृत्ति के विषय में जानना चाहता हूँ (6)। किस प्रकार गण समृद्ध होते हैं और भिन्न नहीं होते; किस प्रकार वे अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं और किस प्रकार वे मित्र प्राप्त करते हैं (7) । मुझे जान पड़ता है कि गणों के विनाश का मूल कारण भेद है । मेरा विचार है कि बहुसंख्यक लोगों के मन्त्र को गुप्त रखना अत्यन्त कठिन है (8) । हे परन्तप, मैं इन सब बातों को विस्तार से सुनना चाहता हूँ । हे भारत, आप मुझे यह भी बताइए कि वे किस प्रकार भेद से बच सकते हैं" (9) । भीष्म कहने लगे : "हे भरतश्रेष्ठ राजन्, लोभ और अमर्ष गणों, कुलों और राजाओं में वैर को जन्म देते हैं (10); क्योंकि ज़ब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोई व्यक्ति महत्वाकांक्षी हो जाता है तब असहनशीलता भी उसके मन में घर कर लेती है और तब इस प्रकार के दो व्यक्ति परस्पर असहनशील हो जाते हैं और उनमें एक दूसरे के प्रति दुर्भाव पैदा हो जाता है (11)। गुप्तचर, मन्त्र, सैन्यशक्ति, साम, दान और भेद, क्षय, व्यय और भय—इन उपायों का अवलम्बन कर वे एक-दूसरे को पीड़ा पहुंचाते हैं (12)। इन उपायों से गणों में, जिनके अस्तित्व का सार उनकी एकता में निहित है, भेद उत्पन्न हो जाता है, और भिन्न तथा विमनस्क हो जाने पर वे भय के कारण शत्रु के वशीभूत हो जाते हैं (13)। भेद होने पर गणों का विनाश हो जाता है, भिन्न होने पर शत्रु उन पर सरलता से विजय प्राप्त कर सकते हैं। अतः गणों को सदा एक होकर कार्य करना चाहिए (14)। ऐक्य, बल और पौरुष से धन भी प्राप्त होता है[1]। जब वे ऐक्य से रहते हैं तो बाह्य शक्तियाँ भी उनके साथ मैत्री करती हैं (15)। ज्ञानवृद्ध उनकी प्रशंसा करते हैं, जो एक दूसरे की बात सुनने के लिए उद्यत रहते हैं। जो अपने स्वार्थभाव को त्याग देते हैं वे सब प्रकार से सुखी रहते हैं (16)। धर्मिष्ठ व्यक्तियों को नियुक्त करने, प्रशासन के लिए शास्त्रानुकूल नियमों का विधान करने, उनका विधिवत् पालन करने, पुत्रों और भाइयों तक का निग्रह करने, उन्हें शिक्षा देने तथा (अधिकारियों के प्रति) विनीत होने पर उन्हें स्वीकार करने से उत्तम गण वृद्धि को प्राप्त होते हैं (17–18)। हे महाबाहो, नित्य चारों के संगठन, और मन्त्र तथा कोष के संग्रह में दत्तचित गण वृद्धि को प्राप्त होते हैं (19)। हे राजन्, जो गण प्राज्ञों, शूरों, उत्साही पुरुषों तथा कार्यों में स्थिर पौरुष वाले व्यक्तियों का उचित आदर करते हैं वे

---

1. यह सन्दिग्ध है कि यहां संघ के रूप में कई गणों के ऐक्य का समर्थन किया गया है अथवा केवल एक गण के सदस्यों की एकता का।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समृद्धि को प्राप्त होते हैं (20)। साधनसम्पन्न, शूर, शस्त्रों और शास्त्रों में निष्णात गण विषम आपत्ति के समय किंकर्त्तव्यविमूढ़ गणों की रक्षा करते हैं (21)। हे भरतश्रेष्ठ, क्रोध, भेद, भय, दण्ड, पीडन, निग्रह तथा वध के कारण गण शत्रु के वशवर्ती हो जाते हैं (22)। अतः हे राजन्, गण-मुख्यों का सम्मान करना चाहिए, क्योंकि (गणों की) लोकयात्रा बहुत-कुछ उन्हीं पर निर्भर करती है (23)। हे अमित्रकर्षण, मन्त्र की गोपनीयता तथा गुप्तचर (विभाग) गणमुख्यों पर छोड़ देना चाहिए, क्योंकि समस्त गण के मध्य गुप्त विषयों की चर्चा उचित नहीं है (24)। गणमुख्यों को परस्पर एक होकर गुप्त रूप से गणहित के कार्य करना चाहिए (25) अन्यथा[1] गण की सम्पत्ति क्षीण हो जाती है तथा अनर्थ होते हैं (26)। यदि परस्पर भिन्न होकर लोग व्यक्तिगत रूप से अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करें तो प्रधान रूप से पण्डितों को तत्काल उनका निग्रह करना चाहिए (27)। कुलवृद्धों द्वारा उपेक्षित कुलों में उत्पन्न कलह गोत्र का नाश करते और इस प्रकार गणभेद के कारण बनते हैं (28)। हे राजन्, आन्तरिक भय से बचना चाहिए, बाह्य भय असार है। आन्तरिक भय तत्काल जड़ काट देता है (29)। जाति तथा कुल से सदृश होने पर भी जब लोग आकस्मिक क्रोध एवं मोह अथवा सहज लोभ के कारण परस्पर बोलचाल बन्द कर देते हैं तो उसे पराभव का चिह्न मानना चाहिए (30–31)। उद्योग, बुद्धि, रूप अथवा द्रव्य से नहीं, अपितु भेद और दान (घूस) से ही गणों को छिन्न-भिन्न किया जाता है। अतः ऐक्य ही गणों का सबसे प्रमुख आश्रय है (31–32)।

---

१. मैं इस सम्बन्ध में श्लोक के 'पृथग्गणस्य भिन्नस्य विततस्य' शब्दों को स्पष्ट करने में असमर्थ हूँ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नवीन सम्प्रदाय की शिक्षाओं का सार—जान पड़ता है कि नवीन सम्प्रदाय को इन राजनीतिक संघों के साथ वास्तविक सहानुभूति थी। कौटिल्य के सम्प्रदाय के साथ इसका विरोध वस्तुतः आश्चर्यजनक है। गणों के विनाश के लिए सन्दिग्ध उपाय सुझाने के स्थान पर यह उन संकटों और भयों से बचाव के लिए स्वस्थ सुझाव देता है जिनमें उनके फंसने की विशेष रूप से सम्भावना थी। यह अनैक्य तथा भेद के दुष्परिणामों की ओर, जो शासन के इस लोकप्रिय रूप के शाश्वत संकट रहे हैं, ध्यान आकृष्ट करता हुआ कभी नहीं थकता तथा उनके विरुद्ध क्षमा और सहनशीलता की, उचित उपाय के रूप में, सिफारिश करता है। मन्त्र की गोपनीयता को बनाए रखने की कठिनाई लोकप्रिय शासन की एक और कमी थी। इस दोष के निराकरण के लिए वे लघु मन्त्रिमण्डल-जैसे एक संगठन के निर्माण का सुझाव देते हैं। उनके अनुसार केवल इसी संगठन को ऐसे मामलों की देखभाल करनी चाहिए जिनमें गुप्त विचार-विमर्श की आवश्यकता पड़ती है। हम इस बात पर भलीभांति विश्वास कर सकते हैं कि यह सुझाव वास्तविक उदाहरणों पर आधारित था तथा उस समय के अधिक महत्वपूर्ण गणों में मन्त्रिमण्डलात्मक शासनपद्धति पहले से ही प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त कानून की उत्तम पद्धति की स्थापना तथा उसका कठोरतापूर्वक कार्यान्वय, पुत्र और बन्धुसमेत सबके लिए न्याय का निष्पक्ष प्रबन्ध, गुप्तचरों का संगठन, कोश में धन का क्रमिक संग्रह तथा अधिक महत्वपूर्ण व्यक्तियों के प्रति उचित आदरभाव—ये विशेषताएं गणों को समृद्धि की ओर ले जाने वाली मानी गई हैं। साधारणतः आन्तरिक संकट वाह्य संकट की अपेक्षा अधिक गम्भीर माना जाता था। सामान्य रूप से यह विश्वास प्रचलित था कि यदि उनमें किसी प्रकार का भेद न हो तो वे किसी भी शक्तिशाली शत्रु का सफलतापूर्वक सामना कर सकते हैं। पाठकों को स्मरण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होगा कि यह विचार उतना ही प्राचीन है जितना गौतम बुद्ध का काल, तथा वैशाली पर अजातशत्रु की विजय इसका एक सुन्दर उदाहरण है। अजातशत्रु-जैसे शक्तिशाली राजा ने भी तब तक वज्जियों पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया जब तक उसने अपने मन्त्री को गुप्तचर के रूप में भेज कर उसके माध्यम से उनके मध्य पारस्परिक अविश्वास एवं भेद उत्पन्न नहीं कर दिया। प्रतीत होता है कि यह नवीन राजनीतिक सम्प्रदाय विभिन्न गणों के मध्य सुदृढ़ एकता के पक्ष में भी था। सम्भवतः यह आशा थी कि गणों का इस प्रकार का संघ अपने शक्तिशाली शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध में अधिक अच्छी स्थिति में रहेगा।

महाभारत के अन्य वचन भी राजनीतिक गण अथवा संघ की समृद्धि के लिए समान रूप से चिन्ता व्यक्त करते हैं। भीष्म ने युधिष्ठिर को वासुदेव और नारद का जो पुरातन इतिहास (शान्तिपर्व, अध्याय 81) सुनाया था वह इसका एक अच्छा उदाहरण है। वासुदेव नारद से अन्धकों, वृष्णियों, कुकुरों और भोजों के संघ के कार्यों में आने वाली कठिनाइयों की चर्चा करते हैं। जान पड़ता है कि मुख्य कठिनाई थी प्रमुख व्यक्तियों का अनेक परस्पर विरोधी वर्गों में विभाजन तथा उनका पारस्परिक द्वेष और एक-दूसरे पर दोषारोपण। नारद श्रीकृष्ण से कहते हैं कि इसका वास्तविक उपचार कठोर उपायों से नहीं अपितु मृदु नीति से ही सम्भव है—

"अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा।
जिह्वामुद्धर सर्व्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च" ॥19॥

'अनायसशस्त्र' के सम्बन्ध में कृष्ण के उत्तर में इस विचार का विस्तृत निरूपण किया गया है—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षार्ज्जवमार्द्दवम् ।
यथार्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम् ।।21।।
ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटुकानि लघूनि च ।
गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च ।।22।।
नामहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान् ।
महतीं धुरमादत्ते तामुद्यम्योरसा वह ।।23।।
सर्व्व एव गुरुं भारमनड्वान् वहते समे ।
दुर्गे प्रतीकः सुगवो भारं वहति दुर्व्वहम् ।।24।।
भेदाद् विनाशःसङ्घानां सङ्घमुख्योऽसि केशव ।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं सङ्घस्तथा कुरु ।।25।।

अन्तिम श्लोक स्पष्ट रूप से इस संविधान का उल्लेख 'संघ' शब्द से करता है । इसका कुछ विवरण हमें शान्तिपर्व के 14वें अध्याय में प्राप्त होता है । वहाँ कहा गया है कि उसमें 18 कुल तथा 18,000 बन्धु (सम्भवतः वयस्क पुरुष सदस्य) थे । भोजराजन्यवृद्धों[1] का भी उल्लेख मिलता है । प्रतीत होता है कि ये लोग संघ की कार्य-कारिणी समिति के सदस्य थे । ऊपर उद्धृत वचन में संघमुख्य कृष्ण से अपने चातुर्यपूर्ण प्रबन्ध से सभी दलों को प्रसन्न करने के लिए कहा गया है । इस बात पर बल दिया गया है कि 'फूट' संघों के विनाश का मूल कारण है तथा कृष्ण को इससे विशेष रूप से सावधान रहने की चेतावनी दी गई है । 'सङ्घ' शब्द के व्यवहार से ज्ञात होता है कि यह कथा वस्तुतः एक इतिहासं पुरातनं (श्लोक 2) है । स्वयं भीष्म ने भी इसे पुरातन इतिहास ही माना है ।

अराजक राज्यों का पुनराविर्भाव—कौटिल्य के सम्प्रदाय ने राजनीतिक संघों का विनाश किया था । अतः यह स्वाभाविक

1. तुलनीय शान्तिपर्व, 14, 25, 32, 35, 55, 56 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही है कि राजनीतिक विचारों का यह नवीन सम्प्रदाय उन्हें पुनर्जीवन प्रदान करता। स्वयं महाभारत[1] में किरात, दरद, औदुम्बर, पारद, बाह्लिक, शिबि, त्रिगर्त्त, केकय, अम्बष्ठ, क्षुद्रक, मालव, पौण्ड्र, अङ्ग और वङ्ग प्रभृति अनेक अराजक जनों का उल्लेख मिलता है। ये श्रेणिमन्त और शस्त्रधारी[2] कहे गए हैं। इन शब्दों की तुलना कौटिल्य की क्षत्रियश्रेणि तथा पाणिनि के आयुधजीविसङ्घ से की जा सकती है। यह उल्लेखनीय है कि उपरिलिखित जनों में से एक यौधेय की गणना तो स्पष्ट रूप से आयुध-जीविसङ्घों में की गई है। जहाँ तक बाह्लिकों का सम्बन्ध है, महाभारत[3] में अन्यत्र कहा गया है कि "सभी बाह्लिक वीर राजा थे"। यह भी हमको कौटिलीय अर्थशास्त्र के 'राजशब्दोपजीवि' शब्द का, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, तथा जातकों में वर्णित इस तथ्य का स्मरण दिलाता है कि सभी लिच्छवि राजा कहलाते थे। आनर्त, कालकूट, कुलिन्द इत्यादि के जन-संगठनों का भी उल्लेख मिलता है,[4] यद्यपि उनमें प्रचलित शासन के रूप का स्पष्ट निर्देश नहीं है।

मौर्य साम्राज्य के पतन के तत्काल पश्चात् आविर्भूत गणराज्य—केवल महाभारत के साक्ष्य के आधार पर इन जन-राज्यों को किसी निश्चित ऐतिहासिक काल से सम्बद्ध करना कठिन है। किन्तु इस विषय में मुद्राओं से उपलब्ध सामग्री हमारी सहायता करती है तथा कई राजनीतिक संघों का अस्तित्व सिद्ध करती हैं। इनमें उपर्युक्त अनेक गणों का भी समावेश है जिनका आविर्भाव मौर्य

1. **वही**, अध्याय 52 श्लोक 13–16।
2. **वही**, श्लोक 17।
3. **वही**, अध्याय 34, श्लो॰ 13 'बाह्लिकाश्चापरे शूरा राजानः सर्व्वं एव ते।'
4. अध्याय 26, श्लो॰ 21–24।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साम्राज्य के पतन के कुछ समय पश्चात् हुआ था। उनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त ऐतिहासिक टिप्पणी नीचे दी जा रही है।

कुछ प्रतिनिधि गणराज्य

(१) **यौधेय**—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पाणिनि के काल में यह एक आयुधजीवी सङ्घ था। यौधेयों के विषय में हमारी जानकारी मुद्राओं तथा अभिलेखों पर आधारित है। कनिंघम[1] के मतानुसार उनकी मुद्राओं का प्राचीनतम वर्ग ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के आसपास का है। रैप्सन[2] इस विचार से सहमत हैं तथा उनका काल ई० पू० 100 के आसपास मानते हैं। विन्सेंट स्मिथ[3] का भी यही मत है। इस मुद्रा पर 'यौधेयन' लेख है जो मुद्राओं के अगले वर्ग में 'यौधेयगणस्य जय' में परिवर्तित हो जाता है। यौधेयों की शक्ति एवं साधन-सम्पन्नता की कुछ जानकारी गिरिनार अभिलेख के इन शब्दोंसे प्राप्त की जा सकती है—"सर्व्वक्षत्राविष्कृतवीर–शब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानाम्" अर्थात् "समस्त क्षत्रियों के मध्य अपनी वीर उपाधि को व्यक्त करने के कारण दृप्त यौधेयों का[4]।" एक शत्रु द्वारा की हुई यह प्रशंसा निस्सन्देह अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा इससे स्वयं यौधेयों की इस गर्वोक्ति को कुछ बल मिलता है कि "उनके पास विजय प्राप्त करने का मन्त्र था[5]। गिरिनार लेख में

1. **क्वॉइन्स आफ एन्शिएंट इंडिया**, पृ० 76।
2. रैप्सन, **इण्डियन क्वॉइन्स**, पृ० 15।
3. स्मिथ, **कैटालॉग**, पृ० 165।
4. **एपि० इण्डि०**, जिल्द ८, पृ० 44–47।
5. श्री कार स्टीफेन को लुधियाना के समीप प्राप्त बड़ी मृण्मुद्रा के लेख 'यौधेयानां जयमन्त्रधराणां' से यह ज्ञात होता है। द्रष्टव्य **प्रोसीडिंग्स आफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल**, 1884, पृ० 138–139।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रुद्रदामा गर्व के साथ कहता है कि उसने "यौधेयों का उन्मूलन कर दिया था, किन्तु मुद्राओं से यह सिद्ध होता है कि इस आघात के बाद भी वे जीवित रहे और कम से कम ईसा की चतुर्थ शताब्दी के अन्त तक वे एक शक्तिशाली राजनीतिक इकाई के रूप में विद्यमान रहे। महान् सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भलेख में यौधेयों की गणना उन जनों में की गई है जिन्होंने गुप्त सम्राट् को सब प्रकार के कर दिए, उसकी आज्ञाओं का पालन किया तथा उसे प्रणाम किया[1]"। किन्तु अभिलेख के सन्दर्भ से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि यौधेयों का राज्य गुप्तों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित प्रदेश में सम्मिलित न होकर एक प्रकार का सीमावर्ती राज्य था जो उनकी प्रभुसत्ता मानता और उनको कर देता था[2]।

यौधेयों के अधीन प्रदेश का निश्चय उनकी मुद्राओं तथा अभिलेखों से किया जा सकता है। उनका एक अभिलेख भरतपुर राज्य में विजयगढ़ नामक स्थान पर प्राप्त हुआ था तथा उनकी मृण्मुद्राएँ लुधियाना के समीप सुनेत नामक स्थान पर मिली थीं। उनकी मुद्राएँ सहारनपुर के निकट बेहाट[3] में "सतलज नदी के पश्चिम की ओर देपालपुर, सतगढ़ा, अजुधन, कहरौर और मुलतान से तथा पूर्व की ओर भटनेर, अभोर, सिरसा, हाँसी, पानीपत और सोनपत से" प्राप्त हुई हैं[4]। यौधेयों की मुद्राएँ साधारणतः पूर्वी पंजाब में तथा सतलज और यमुना नदी के मध्यवर्ती प्रदेश में उपलब्ध होती हैं।

---

1. **कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्**, जिल्द 3, पृ० 14।
2. फ्लीट को इस विषय में कुछ सन्देह था (**वही**, टिप्पणी १), किन्तु देखिए सिल्वाँ लेवी, ल नेपाल, जिल्द 2, पृ० 115–116।
3. **प्रिन्सेप के निबन्ध**, फलक 4, 11–12।
4. **क्वॉइन्स ग्राफ ऐन्शिएंट इंडिया**, पृ० 77।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दो बड़े संग्रह दिल्ली और करनाल के मध्य में स्थित सोनपत से उपलब्ध हुए थे[1], चार मुद्राएँ काँगड़ा जिले में मिली थीं[2] और बहुसंख्यक मुद्राएँ पूर्वी पंजाब के जगाधरी नामक स्थान से प्राप्त हुई थीं[3]। मुद्राओं के प्राप्तिस्थलों का साक्ष्य उस जन (यौधेयों) के प्रदेश के सम्बन्ध में पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं है जिसने उन्हें जारी किया था। तथापि मुद्राओं के प्राप्तिस्थलों को हम मोटे तौर पर शासक जन (यौधेयों) के अधीन प्रदेशों का सूचक मान सकते हैं, बशर्ते यह निष्कर्ष सामान्य सम्भावना के विपरीत न हो और सिद्ध तथ्यों से इसका खण्डन न होता हो। प्रस्तुत उदाहरण में मुद्राओं के प्राप्ति स्थानों, मृण्मुद्राओं तथा अभिलेखों से यह जान पड़ता है कि यौधेयों के राज्य में वह समस्त प्रदेश सम्मिलित था जिसकी पश्चिमी सीमा थी बहावलपुर से काँगड़ा तक सतलज और व्यास के साथ-साथ खींची गई रेखा, उत्तरपूर्व में काँगड़ा से सहारनपुर तक खींची गई सीधी रेखा, पूर्व में पानीपत और सोनपत होती हुई सहारनपुर से भरतपुर तक खींची गई रेखा तथा दक्षिण में बहावलपुर से सूरतगढ़, भटनेर और सिरसा होती हुई भरतपुर तक खींची गई रेखा।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस प्रदेश में यौधेयों की अवस्थिति इस तथ्य से पूरी तरह मेल खाती है कि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उनको एक ओर तो मद्रों और दूसरी ओर मालवों और अर्जुनायनों के मध्य स्थान दिया गया है। किन्तु इससे यह अनुमान करना उचित न होगा कि उनके राजनीतिक अस्तित्व के सम्पूर्ण काल में यह विस्तृत प्रदेश अविच्छिन्न रूप से यौधेयों के अधीन

---

1. वही, पृ० 76।
2. वही, पृ० 79।
3. स्मिथ, कैटलॉग, पृ० 165।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहा । यह प्रदेश सम्भवतः उनकी शक्ति के अधिकतम विस्तार का सूचक है ।

(२) **मालव**—डा० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर की व्याख्या के अनुसार पाणिनि मालवों का उल्लेख पंजाब के एक आयुधजीवी संघ के रूप में करते हैं[1] । उनकी पहचान अलैग्जैंडर द्वारा विजित मल्लोई जन के साथ की जा सकती है । मालवों की लगभग छह हजार मुद्राएँ, जयपुर के महाराज के करद उनियार के राजा के प्रदेश में स्थित, नागर नामक आधुनिक नगर के समीप एक प्राचीन स्थान पर प्राप्त हुई थीं[2] । मुद्राओं पर 'मालवाह्ण जय' 'मालवानां जय' तथा 'मालवगणस्य जय' लेख मिलते हैं । कुछ मुद्राओं पर मपय, मजुप, मगजस इत्यादि नाम उत्कीर्ण हैं । ये सम्भवतः मालवगण के प्रमुखों के नाम माने जाते हैं । यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि इन मुद्राओं को जारी करने वाले मालव पाणिनि द्वारा उल्लिखित इसी नाम के संघ से अभिन्न अथवा सम्बद्ध थे या नहीं ।

इन मुद्राओं की प्राचीनता के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं । कनिंघम और कार्लायल[3] दोनों के मतानुसार, इनमें से प्राचीनतम मुद्राएँ ई० पू० 250 के आसपास की हैं, किन्तु रैप्सन और विसेंट स्मिथ इनकी प्राचीनतम कालावधि ई० पू० 150 तक ले आते हैं[4] । जहाँ तक प्रकाशित मुद्राओं का सम्बन्ध है, द्वितीय मत अकाट्य प्रतीत होता है, क्योंकि यह निश्चित है कि उनमें से किसी पर भी अशोककाल-जितने प्राचीन लेख नहीं हैं ।

---

1. इंडियन ऐंटिक्वेरी, 1913, पृ० 200 ।
2. आर्किआलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द ६, पृ० 162 ।
3. वही, पृ० 182 ।
4. स्मिथ, वही पृ० 162 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहपान का जामाता उषवदात अपने नासिक अभिलेख[1] में इस बात का गर्व के साथ उल्लेख करता है कि उसने मालयों को पराजित किया था। अनेक पश्चिम भारतीय अभिलेखों से सिद्ध होता है कि प्राकृत में 'य' और 'व' का बहुधा परस्पर विनिमय हो जाता है। अतः यह अनुमान किया गया है कि मालय मालवों से अभिन्न ही हैं[2]। लेख में कहा गया है कि मालयों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् उषवदात पुष्कर तीर्थ गया था। इससे प्रस्तावित अभेद को बहुत बल मिलता है, क्योंकि यह तीर्थ नागर से, जो मालवों की मुद्राओं के आधार पर उनका निवासस्थान निश्चित किया गया है, बिलकुल पास है।

उषवदात अपने अभिलेख में कहता है-"तथा भट्टारक आज्ञा से मैं वर्षाऋतु में मालयों द्वारा अवरुद्ध उत्तमभद्रों के प्रमुख को बचाने के लिए गया और वे मालय मानों (मेरे पहुंचने के) प्रनाद से भाग खड़े हुए तथा उन सबको उत्तमभद्र क्षत्रियों ने अपना बन्दी बना लिया[3]।" इस प्रकार यह जान पड़ता है कि यौधेयों के समान मालव भी उन शक आक्रांताओं के शत्रु थे जिन्होंने प्रथम शती ई० के अन्त में उनके समीपवर्ती प्रदेश पर आक्रमण किया तथा अपने नेता नहपान की अधीनता में एक राज्य स्थापित कर लिया। यह अनुमान स्वाभाविक ही होगा कि नहपान आक्रान्ता था; किन्तु बात कुछ उलटी ही प्रतीत होती है। क्योंकि मालयों ने उत्तमभद्रों पर, जो सम्भवतः नहपान के भाण्डलिक थे शक राजा (नहपान) द्वारा उनका पक्ष लिए जाने

1. ल्यूडर्स, सं० 1131।
2. **बॉम्बे गजेटियर**, जिल्द 1, पृ० 28; रैप्सन, **आन्ध्र क्वॉइन्स**, भूमिका, पृ० ५६।
3. एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० 79।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के पूर्व ही आक्रमण कर दिया।

उत्तरकालीन अभिलेखों में विक्रम संवत् में तिथियों को सूचित करने के लिए व्यवहृत अनेक शब्द मालवों के इतिहास पर कुछ प्रकाश डालते हुए प्रतीत होते हैं। ये शब्द इस प्रकार हैं:

(१) मालवानां गणस्थित्या[1]
(२) मालवगणस्थितिवशात्[2]
(३) श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते[3]

डाँ० थॉमस तथा डाँ० सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर[4] 'गण' शब्द को 'संघ' के अर्थ में लेते हैं और उपर्युक्त शब्दों से इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ई० पू० ५८ का संवत् "मालवों के गणस्वातन्त्र्य की स्थापना से आरम्भ हुआ" अथवा जैसा कि डा० भंडारकर इसको अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं यह संवत् "मालवों की गण- रचना" से आरम्भ हुआ। इसके विपरीत डाँ० फ्लीट[5] एवं प्रोफेसर देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर[6] इन शब्दों से केवल यही अभिप्राय निकालते हैं कि इस संवत् को मालव गण ने हस्तान्तरित किया अथवा यह संवत् उनमें प्रचलित था।

मैं डा० थॉमस एवं डा० सर रा० गो० भंडारकर के इस मत को मानने के लिए उद्यत हूँ कि 'गण' शब्द 'संघ' का वाचक

---

1. **कार्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्**, जिल्द 3, पृ० 83, 87।
2. **वही**, पृ० 154, 158।
3. **इण्डि० ऐंटि०**, 1913, पृ० 161।
4. **वही**, पृ० 199।
5. इस प्रश्न पर डॉ० फ्लीट और डॉ० थामस के मध्य सुदीर्घ विवाद के लिए देखिए, **ज० रा० ए० सो०**, 1914, पृ० 413–414, 745–47, 1010–1013; **ज० रा० ए० सो०**, 1915, पृ० 138, 502।
6. **इण्डि० ऐंटि०**, 1913, पृ० 162।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है, किन्तु ई० पू० ५८ के संवत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इनके विचारों का अनुमोदन करने में मैं असमर्थ हूँ। कम से कम इन शब्दों में स्वत: ऐसी कोई बात नहीं हैं जिससे इस मत का समर्थन होता हो। यदि सम्प्रति इस प्रश्न को अनिश्चित छोड़ दिया जाए कि इस संवत् का जन्म मालवों में हुआ या नहीं तो एकमात्र निर्विवाद निष्कर्ष यही जान पड़ता है कि जिस प्रकार मालवों ने उस प्रदेश को अपना नाम दिया जहाँ वे अन्तिम रूप से बस गए थे उसी प्रकार उन्होंने जिस संवत् का व्यवहार किया उसका नाम भी उन्हीं पर पड़ गया।

कम से कम चतुर्थ शताब्दी के अन्त तक मालव एक महत्वपूर्ण राजनीतिक इकाई थे। समुद्रगुप्त ने उनका पराभव किया था तथा गुप्त साम्राज्य में उनका वही स्थान था जो यौधेयों का था।

(३) **अर्जुनायन**—कतिपय मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं जिन पर 'अर्जुनायनानं' लेख है। ये मुद्राएँ ई० पू० प्रथम शताब्दी की प्रतीत होती हैं[1]। मुद्राओं के प्राप्तिस्थानों का उल्लेख नहीं किया गया है। अर्जुनायन समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से भलीभांति ज्ञात हैं। गुप्त सम्राट् ने उनका पराभव कर दिया था तथा गुप्त साम्राज्य में उनका स्थान वही था जो यौधेयों का था।

मुद्राओं के प्राप्तिस्थानों के उल्लेख के अभाव में अर्जुनायनों का प्रदेश निश्चित करना कठिन है। केवल समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भलेख में नामों के उल्लेख के क्रम से ही इस सम्बन्ध में हमें कुछ सत्यता मिलती है। यह अनुमान किया गया है कि अभिलेख का यह अंश गद्य में लिखा गया है तथा लेखक छन्द की आवश्यकताओं से बाध्य नहीं था, अतः प्रस्तुत राज्यों का उल्लेख उनकी भौगोलिक

---

1. रैप्सन, इंडियन क्वॉइन्स, पृ० 11 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थिति के क्रम से किया गया है[1]। मालवों, यौधेयों तथा मद्रों के विषय में यह बात निश्चित रूप से सत्य है तथा यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि 'मालवार्जुनायनयौधेयमद्रक' इस समास के एकमात्र अवशिष्ट सदस्य के सम्बन्ध में भी यह बात पूरी तरह लागू होती है। यदि यह ठीक हो तो अर्जुनायनों को मालवों और यौधेयों के मध्य में रखना पड़ेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके प्रदेश की खोज हमको भरतपुर और नागर के बीच में करनी चाहिए। श्री विन्सेंट स्मिथ अर्जुनायनों को राजस्थान के भूतपूर्व भरतपुर और अलवर राज्यों के भूभाग में रखते हैं।[2] किन्तु यह निष्कर्ष विजयगढ़ प्रस्तर-लेख के साथ मेल नहीं खाता। इस लेख से ज्ञात होता है कि यौधेय भरतपुर राज्य के दक्षिणी भाग की ओर बढ़ गए थे। फिर अलवर की, जो और भी उत्तर में है, तो कोई बात ही नहीं है।

(४) **औदुम्बर**—पाणिनि की अष्टाध्यायी में औदुम्बरों और उनके प्रदेश का उल्लेख मिलता है। परवर्ती काल में मुद्राएँ ही उनके सम्बन्ध में हमारी सूचना का प्रायः एकमात्र आधार हैं। इन मुद्राओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) जिन पर केवल जन-नाम 'औदुम्बर' पाया जाता है।

(2) जिन पर राजा के नाम तथा जन-नाम दोनों का उल्लेख है।

(3) जिन पर केवल राज-नाम उल्लिखित है, जन-नाम नहीं।

---

1. ज० रा० ए० सो०, 1897, पृ० 886; **क्वॉइन्स आफ एन्शिएंट इंडिया**, पृ० 90।
2. **वही**, 1897, पृ० 886।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्री राखालदास वन्द्योपाध्याय[1]ने अक्षर-रचना के आधार पर इन मुद्राओं का काल ई० पू० प्रथम शताब्दी माना है। यह रैप्सन के इस मत के पूर्णतः अनुरूप है कि ये मुद्राएँ ई० पू० 100 के आसपास की हैं[2]। अतः ई० पू० प्रथम शताब्दी का प्रारम्भ इन मुद्राओं का काल माना जा सकता है।

कनिंघम द्वारा वर्णित मुद्राएँ लाहौर से आगे उत्तरी पंजाब में उपलब्ध हुई थीं; एक ज्वालामुखी के निकटवर्ती एक खेत में और अनेक पठानकोट जिले में[3]। श्री राखालदास वन्द्योपाध्याय द्वारा वर्णित 363 मुद्राओं का संग्रह पंजाब में काँगड़ा जिले की देहरा तहसील के हरिप्पल नामक ग्राम में प्राप्त हुआ था[4]। ये मुद्राएँ होशियारपुर जिले में मान्सवाल के चौरस प्रदेश में भी मिलती हैं।[5]इस प्रकार मुद्राएँ उत्तर और पश्चिम में रावी द्वारा, दक्षिण में काँगड़ा द्वारा तथा पूर्व में कुल्लू द्वारा परिसीमित प्रदेश को व्याप्त करती हैं। इसको औदुम्बरों का प्रदेश माना जा सकता है, विशेषतः इसलिए क्योंकि यह बृहत्संहिता, मार्कण्डेय पुराण तथा विष्णु पुराण के विवरण के साथ पूरी तरह मेल खाता है। इन ग्रन्थों में औदुम्बरों का उल्लेख कपिष्थलों, त्रैगर्तों तथा कुलिन्दों के साथ किया गया है। (कपिष्थलों की पहचान अम्बाला के दक्षिण में रहने वाले वर्तमान कैथलों के साथ की गई है। त्रैगर्तों का प्राचीन प्रदेश काँगड़ा के निकट था। कुलिन्द अथवा कुणिन्द सतलज नदी के दोनों तटों पर रहते थे।)

---

1. ज० ए० सो० बं०,, 1914 पृ० 249।
2. रैप्सन, इंडियन क्वॉइन्स पृ० 11।
3. क्वॉइन्स आफ एन्शिएंट इंडिया, पृ० 66।
4. ज० ए० बं० सो०, 1914, पृ० 247।
5. स्मिथ, कैटालॉग पृ० 161।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(५) **कुणिन्द**—कुछ मुद्राओं पर केवल जन नाम 'कुणिन्द' मिलता है, किन्तु अन्य मुद्राओं पर जन-नाम तथा राज-नाम दोनों उत्कीर्ण हैं। कुछ अन्य प्रकार भी हैं जिनका विवेचन करना यहाँ आवश्यक नहीं है। यह प्रायः सर्वमान्य है कि प्रथम वर्ग की मुद्राएँ प्राचीनतर हैं[1]। कनिंघम द्वितीय वर्ग की मुद्राओंको ई० पू० १५० के आसपास की मानते हैं[2], जब कि रैप्सन के मत में उनका काल ई० पू० १०० के आसपास है[3]। अतः प्राचीनतर मुद्राओं को ईसापूर्व द्वितीय शती का माना जा सकता है।

कुणिन्दों की मुद्राएँ जिस प्रदेश में पाई गई हैं उसकी सीमाएँ मोटे तौर पर इस प्रकार निश्चित की जा सकती हैं—पूर्व में गंगा, दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम में हस्तिनापुर, सहारनपुर और अम्बाला को मिलाने वाली रेखा, उत्तर और उत्तर-पूर्व में हिमालय का ढालू प्रदेश तथा उत्तर-पश्चिम में अम्बाला को हिमालय के ढालू प्रदेश से जोड़ने वाली रेखा[4]। इसे सरलता से कुणिन्द प्रदेश की सीमा माना जा सकता है, क्योंकि इस विषय में मुद्राओं की साक्षी का समर्थन टॉलेमी (Ptolemy) के स्वतन्त्र साक्ष्य से होता है। टॉलेमी के ग्रन्थ में 'कुलिन्द्रेने' शब्द का प्रयोग व्यास और गंगा नदियों के मध्य के समस्त ऊपरी प्रदेश के लिए किया गया है। विष्णु पुराण के 'कुलिन्दोपत्यकाः' (पर्वत की उपत्यका के निवासी कुलिन्द) शब्द से भी जान पड़ता है कि

---

1. **क्वॉइन्स आफ एन्शिएंट इंडिया,** पृ० 71।
2. **आर्किआलाजिकल सर्वे रिपोर्ट,** जिल्द 14, पृ० 134।
3. **रैप्सन, इंडियन क्वॉइन्स,** पृ० 12।
4. प्राप्तिस्थान के विवरण के लिए देखिए प्रिन्सेप के **निबन्ध,** जिल्द 1, पृ० 84, 204, क्वॉइन्स आफ एन्शिएंट इण्डिया, पृ० 71 **आर्किआलाजिकल सर्वे रिपोर्ट,** जि० 14, पृ० 134–8।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुलिन्द पर्वतोपत्यकाओं के निकट रहते थे।

(६) **वृष्णि**—वृष्णि संघ का नाम केवल एक मुद्रा पर सुरक्षित है। कनिंघम[1] ने इस मुद्रा का लेख इस प्रकार पढ़ा था—'वृष्णिराज ज्ञागनस्य भुभरस्य'। जब पहली बार मैंने कनिंघम के फलक पर मुद्रालेख की परीक्षा की तो मुझे लगा कनिंघम ने जिसे 'भुभरस्य' पढ़ा था वह 'त्रतरस्य' हो सकता है। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि बेग्नी[2] ने भी इसी प्रकार का संशोधन सुझाया था, जिसे रैप्सन ने भी स्वीकार किया था। बेग्नी ने मुद्रालेख को इस प्रकार पढ़ा है-'वृष्णिर् (ा) जज्ञा गनस्य त्र् (त्र) तरस्य'। जैसा कि बेग्नी और रैप्सन का विचार है 'राजज्ञा' शब्द क्षत्रिय का समानार्थक है। इस प्रकार इस मुद्रा को वृष्णि क्षत्रियों के गण ने जारी किया था। जनपद के नाम के रूप में वृष्णि शब्द हर्षचरित[3] में उपलब्ध होता है। कौटिल्य वृष्णिसंघ अथवा वृष्णियों के गण का उल्लेख करते हैं[4]। (किन्तु अधिक सम्भव यह है कि ये उल्लेख उस प्राचीन जनपद की ओर संकेत करते हैं जिसके सदस्यों में श्रीकृष्ण भी सम्मिलित थे।)

अक्षर-रचना के आधार पर उनकी मुद्राएँ ई० पू० द्वितीय अथवा प्रथम शताब्दी की मानी जा सकती हैं।

(७) **शिबि**—1872 में श्री कार्लायल को चित्तौड़ के 11 मील उत्तर में ताम्बावती नगरी नामक एक प्राचीन नगर के

1. **क्वॉइन्स आफ एन्शिएंट इंडिया**, पृ० 70, फलक 4।
2. **ज० रा० ए० सो०**, 1900, पृ० 416, 420।
3. कावेल ारा अनूदित, पृ० 193।
4. **अर्थशास्त्र**, पृ० 11।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खंडहरों का पता लगा। उनको वहाँ कुछ अत्यन्त प्राचीन मुद्राएँ मिलीं, जिनका वर्णन आर्किआलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द ६, पृ० २०० पर किया गया है। यहाँ पर अत्यन्त प्राचीन प्रकार की लगभग ११७ आहत मुद्राएँ प्राप्त हुई थीं, जिनसे स्पष्ट है कि यह स्थान अति प्राचीन था। किन्तु इन मुद्राओं का एक वर्ग, जिसपर 'मझमिकाय सिबिजनपदस' (कनिंघम के अनुसार मिझिमिकाय सिबिजनपदस) लेख पाया जाता है, अपेक्षाकृत अधिक मनोरंजक है।

'जनपद' शब्द के अभिस्वीकृत अर्थों में से एक है 'समुदाय'।[1] याज्ञवल्क्य स्मृति, १।३६१ में यह शब्द इस अर्थ में व्यवहृत है:

"कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान् जानपदांस्तथा।
स्वधर्म्मचलितान् राजा विनीय स्थापयेत् पथि।"

अतः मुद्रालेख का भाषान्तर इस प्रकार किया जा सकता है— 'मझमिका के शिबि समुदाय का'। याज्ञवल्क्य राजा के अधीनस्थ 'जनपद' की कल्पना करते हैं, किन्तु शिबि जनपद के द्वारा मुद्राओं के जारी किए जाने से स्पष्ट है कि वह एक स्वतन्त्र राजनीतिक संघ था।

मुद्राओं से ज्ञात होता है कि शिबि मध्यमिका के थे। पतञ्जलि इस नगरी के एक यवन द्वारा रुद्ध किए जाने का उल्लेख करते हैं और महाभारत तथा बृहत्संहिता में 'मध्यमिका' शब्द एक जन-नाम के रूप में प्रयुक्त है। मुद्राओं के साक्ष्य के आधार पर ताम्बावती नगरी क साथ मध्यमिका की पहचान अत्यधिक सम्भव प्रतीत होती है। यह सत्य है कि इस प्रकार की मुद्राओं के कुछ नमूने स्टेसी को चित्तौड़ में भी मिले थे[2]। किन्तु स्टेसी कहते हैं कि उन्होंने इन मुद्राओं को

---

1. सेन्ट पीटसवर्ग डिक्शनरी, 'जनपद' शब्द।
2. प्रिन्सेप के निबन्ध, जिन्द 1, पृ० 112।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्तौड़गढ़ में खरीदा था; तथा कार्लायिल से हमें विदित होता है कि आसपास के किसी अन्य स्थान से खेतिहर अथवा किसान प्राचीन मुद्राओं को चित्तौड़ लाते थे[1]। अतः यह सन्दिग्ध है कि स्टेसी की मुद्राएँ तथा कार्लायिल की चित्तौड़ से प्राप्त एक मुद्रा मूलतः चित्तौड़ की ही थी या नहीं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस श्रेणी की मुद्राएँ ताम्बावती नगरी में प्राप्त हुई थीं तथा स्वयं कार्लायिल ने उनका संग्रह इस स्थान के खंडहरों से किया था[2]। इसके अतिरिक्त इस स्थान की प्राचीनता इसके खंडहरों से उपलब्ध आहत मुद्राओं से भी सिद्ध होती है।

अक्षर-रचना के आधार पर शिबि जनपद की मुद्राओं को ईसापूर्व द्वितीय अथवा प्रथम शताब्दी में रखा जा सकता है।

इन विस्तृत ऐतिहासिक टिप्पणियों से मेरे इस उपरिलिखित वक्तव्य की प्रामाणिकता सिद्ध होती है कि मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् एक शताब्दी के भीतर हमें भारत में यौधेय, मालव, अर्जुनायन, औदुम्बर, कुणिन्द, वृष्णि तथा शिबि इत्यादिकों के अनेक अराजक राज्य अथवा राजनीतिक संघ दृष्टिगत होते हैं[3]। मुद्राएँ किसी राजा द्वारा नहीं अपितु जनपद के नाम से जारी की गई थीं और कुछ मुद्राओं पर तो जनपद के नाम के साथ 'गण' शब्द भी प्रयुक्त है। इन तथ्यों से इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के संशय के

---

1. **आर्किआलाजिकल सर्वे रिपोर्ट**, जिल्द 6, पृ० 207।
2. **आर्किआलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, एन्युअल रिपोर्ट**, 1915–16, पृ० 15।
3. ऊपर पृ० 223 पर उद्धृत अवदानशतक के वचन से भी यह बात सिद्ध होती है। यह ग्रन्थ ई० पू० प्रथम शती के आसपास लिखा गया था। अतः यह माना जा सकता है कि इसमें मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् की भारत की राजनीतिक दशा प्रतिबिम्बित है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिए अवकाश नहीं रहता। मुद्रालेखों में जनपद के नाम का वास्तविक महत्व औदुम्बरों तथा कुणिन्दों की प्राचीन मुद्राओं से स्पष्ट हो जाता है। इनकी उत्तरकालीन मुद्राओं पर राजा का नाम मिलता है। वे स्पष्ट रूप से लोकसत्तात्मक राज्य के राजतन्त्रात्मक राज्य में परिवर्तन की द्योतक हैं। इस ग्रन्थ के पृ० 264 पर वर्णित औदुम्बरों की मुद्राओं का द्वितीय वर्ग सम्भवतः मध्यवर्ती स्थिति का सूचक है, जब कि लोकतान्त्रिक भावना तथा एकराजवंश की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा के मध्य एक प्रकार का समझौता हो गया था। सम्भवतः इसी कारण राजा के नाम के साथ सदा जनपद का नाम जोड़ने में इतनी सावधानी बरती गई है। किन्तु आगे चलकर हम देखते हैं कि राजतन्त्र पूर्णतः विजयी हुआ तथा मुद्रालेखों से जनपद का नाम पूर्णतः लुप्त हो जाता है। शिबि जनपद सम्भवतः यवन लेखकों द्वारा वर्णित नीसा के सदृश एक नगर-राज्य का राजनीतिक संघ था (देखिए ऊपर पृ० 238)।

अराजक राज्यों के अन्तिम विनाश के कारण—हम देख चुके हैं कि इनमें से कुछ राजनीतिक संघ अत्यन्त शक्तिशाली एवं साधनसम्पन्न थे तथा उन्होंने विस्तृत भूभाग पर अपनी सत्ता का प्रसार किया था। यौधेयों ने एक महान् राजनीतिक शक्ति के रूप में अपनी धाक स्थापित की तथा पंजाब के एक बड़े भाग पर राज्य किया। मालव भी इतने महत्वपूर्ण थे कि उन्होंने अपना नाम एक विस्तृत प्रदेश को दे दिया है। इसके अतिरिक्त विदेशी आक्रान्ता शक-क्षत्रपों के आक्रमण के विरुद्ध इन दो राष्ट्रों ने एक प्राचीर का कार्य किया। यह संघर्ष सम्भवतः दीर्घ काल तक चलता रहा, क्योंकि, जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, मालवों ने नहपान की सेनाओं के विरुद्ध युद्ध किया तथा यौधेयों ने रुद्रदामा की सेनाओं के विरुद्ध।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन दोनों युद्धों में विजयश्री विदेशियों को ही प्राप्त हुई। यह सम्भव है कि अन्य राजनीतिक संघों को भी इन विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा तथा उनकी भी यही दशा हुई। इन संघों के क्षय एवं उनमें से कुछ के राजसत्तात्मक राज्यों में परिवर्तन को इन कारणों का परिणाम मानने में कोई हानि नहीं, क्योंकि यह भलीभांति विदित है कि राष्ट्रीय संकट के काल में एक सफल योद्धा किस प्रकार सब लोगों को प्राप्त शक्ति को हथिया कर क्रमशः सम्पूर्ण राज्य पर अपनी व्यक्तिगत सत्ता स्थापित कर सकता है। गुप्त साम्राज्य का उद्भव इसका एक अन्य कारण है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार अजातशत्रु के काल से साम्राज्य-निर्माताओं ने इन राजनीतिक संघों के उन्मूलन का भरसक प्रयत्न किया। गुप्त सम्राट् इस नियम के अपवाद नहीं थे, क्योंकि इलाहाबाद-स्तम्भलेख से हमें ज्ञात होता है कि मालवों, यौधेयों और अर्जुनायनों को महान् सम्राट् समुद्रगुप्त को कर देना तथा प्रणाम करना पड़ा था।

इस प्रकार वाह्य आक्रमण तथा देश में साम्राज्यों का विकास ये दोनों राजनीतिक संघों के क्षय तथा पतन के प्रमुख कारण थे। एक ओर तो अलेग्जेंडर और दूसरी ओर अजातशत्रु के समय से ही वे इन परीक्षाओं एवं संकटों से अरक्षित थे। किन्तु इसके बावजूद गुप्तकाल तक वे देश की एक विशिष्ट राजनीतिक शक्ति बने रहे। इस काल में राजनीतिक विचारकों के मध्य भी उनके विषयों में मतभेद था। साम्राज्यवाद के समर्थकों ने उनके विनाश का समर्थन किया और इस योजना की पूर्ति के लिए उपाय भी सुझाए। इसके विपरीत दूसरे सम्प्रदाय के समर्थकों के हृदय में उनके प्रति सहानुभूति का भाव था और उन्होंने ऐसे नियमों का विधान किया जिनका अनुसरण कर वे उन्नत और समृद्ध हो सकते थे। ईस्वी सन् की पाँचवीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शताब्दी से वे भारतीय राजनीति के महत्वपूर्ण घटक नहीं रहे। उनके अस्तित्व का कोई उदाहरण इतिहास को ज्ञात नहीं है और राजनीतिक विचारक उनकी ओर से पूर्णतः उदासीन हो जाते हैं। पुराणों अथवा धर्मशास्त्रों में उनका कोई चिह्न नहीं मिलता। उनकी दृष्टि में राजतन्त्र ही शासन का एकमात्र सम्भव रूप था। शुक्र-नीतिसार के रचयिता के सदृश विख्यात राजनीतिक लेखक उनके सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं कहता। क्रमशः स्थिति अब ऐसी हो गई है कि, पर्याप्त प्रमाणों के उपलब्ध होने पर भी, इस तथ्य पर विश्वास करने के लिए गम्भीर प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है कि वे संस्थाएँ जिन्हें हम पश्चिम में उद्भूत मानने के लिए अभ्यस्त हैं अति प्राचीन काल में भारत में भी उन्नत अवस्था में थीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

४ अध्याय

धार्मिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ

§ १

बुद्धपूर्व काल में धार्मिक संगठन—आजकल यह साधारण ज्ञान का विषय है कि गौतम बुद्ध के अनुयायियों ने एक धार्मिक संघ का निर्माण और विकास किया, जो किसी भी देश अथवा काल के सर्वाधिक पूर्ण धार्मिक संगठनों में से एक था। वर्तमान स्थिति में यह मानना स्वाभाविक ही है कि यह संगठन भारतीय इतिहास में अपूर्व था। किन्तु इस विश्वास के सुदृढ़ आधार हैं कि उस धर्म के समान, जिसका यह एक वाह्य लक्षण है, इसकी जड़ें भी भारतीय भूमि में गहरी जमी हुईं थीं।

संन्यासी प्राचीन भारतीय इतिहास में एक परिचित व्यक्ति है। गृहहीन अवस्था का नियमोपनियम सहित विधान एक नियमित जीवन रीति के रूप में किया गया है[1], और यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति के लिए शास्त्रों में विहित सब आश्रमों में प्रवेश करना अनिवार्य नहीं था तथापि इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से लोग वस्तुतः ऐसा करते थे। हम आश्रमों में अनेक संन्यासियों के एक साथ रहने की चर्चा बारम्बार सुनते हैं। अतः गृहहीन जीवन अथवा संन्यास को प्राचीन भारतीय जीवन का एक महत्वपूर्ण घटक न मानना असम्भव है।[2]

---

1. **गौतमधर्मसूत्र**, अध्याय 3; **आपस्तम्ब**, 2, 9, 21–23।
2. महाभारत के आरम्भिक श्लोकों में उल्लिखित परम्परा में मिलकर रहने वाले इन संन्यासियों के एक सामूहिक संगठन का उल्लेख है। उदाहरणार्थ, नैमिषारण्य में संन्यासियों के एक विशाल समूह को ही लिया जा सकता है, जिसका 'कुलपति' शौनक था (महाभारत, 1,1,9) कुलपति शब्द को 'दस हजार की जीविका चलाने वाले' के अर्थ में लिया गया है (महाभारत, 1, 1, 1 तथा नीलकण्ठ की टीका)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वंय बौद्ध ग्रन्थ संन्यासियों के सामूहिक संगठनों के अस्तित्व के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार हमें विनयपिटक[1] से ज्ञात होता है कि उरुवेल में उरुवेल कस्सप, नदी कस्सप तथा गया कस्सप नामक तीन जटिल रहते थे जो क्रमशः पाँच सौ, तीन सौ और दो सौ जटिलों के नेता थे। इसमें सन्देह नहीं कि जटिल ब्राह्मण-धर्मावलम्बी वानप्रस्थ थे[2]। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है कि राजगृह में सञ्जय दो सौ पचास परिव्राजकों का नेता था[3]। इसके अतिरिक्त निर्ग्रन्थों और आजीविकों के भी अनेक उल्लेख मिलते हैं।

बौद्ध संघ पर उनका प्रभाव—इन प्रमाणों से इसमें कोई संशय नहीं रहता कि बुद्ध के समय के बहुत पूर्व बहुसंख्यक संन्यासी किसी प्रकार के संगठन के अन्तर्गत मिलकर एक साथ रहा करते थे। उनका संगठन निश्चित नियमों और उपनियमों द्वारा प्रेरित था, जैसा कि धर्मसूत्रों की आज्ञाओं से तथा बौद्ध संघ द्वारा उनसे कतिपय विशिष्ट नियमों और प्रथाओं के उधार लिए जाने से पूर्णतः स्पष्ट है। उदाहरणार्थ, बौद्ध भिक्षुओं के सामुदायिक जीवन के दो विशिष्ट लक्षण 'उपोसथ'[4] तथा 'वर्षावास' बुद्ध के दिनों में भारत के संन्यासियों में पहले से ही प्रचलित थे और बुद्ध ने इन संघों का अनुसरण कर उन्हें अपने संघ में प्रचलित किया[5]।

---

1. **सें० बु० ई०**, जिल्द 13, पृ० 118।
2. **वही**, पादटिप्पणी 1।
3. **वही**, पृ० 144–148।
4. धम्मपाठ के लिए निश्चित दिन संन्यासियों की साधारण सभा विवरण के लिए नीचे देखिए।
5. **सें० बु० ई०**, जिल्द 13, पृ० 239, 298। गौतम 3,13 और चुल्लवग्ग 10,3 से भी मिलान कीजिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बौद्ध संघ प्राचीन भारत के धार्मिक संगठनों का सबसे अधिक विकसित रूप था—इस प्रकार यह माना जा सकता है कि बुद्ध के काल में धार्मिक संघ भारतीय समाज के एक सुपरिचित अङ्ग थे तथा बुद्ध का ख्यातिप्राप्त संघ एक नवीन संघ न होकर विद्यमान संस्थाओं का विकासमात्र था। इन संस्थाओं के अध्ययन के लिए सम्प्रति पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। अतः धार्मिक जीवन में प्राचीन भारतीयों की सामूहिक गतिविधियों को भलीभांति समझने में बौद्ध संघ का विस्तृत विवरण बहुत सहायक होगा, क्योंकि वह निस्सन्देह प्राचीन भारत के धार्मिक संघों का सबसे अधिक उन्नत रूप था।

बौद्ध संघ के संगठन का विवेचन मैं अधोलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत करूंगा :

1. सदस्यता
2. संघ-जीवन
3. संगठन
4. सामुदायिक प्रकृति के विशिष्ट धार्मिक कृत्य

§ २

बौद्ध संघ का विस्तृत वर्णन—किसी भी प्रकार के वर्गभेद अथवा जातिभेद के बिना बौद्ध संघ की सदस्यता सब के लिए खुली हुई थी। ब्राह्मण–साहित्य में सभी उच्चतर वर्गों के लिए संन्यस्त जीवन विहित है, किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि समाज के निम्नतम वर्ग (शूद्रों) को भी इसका अधिकार था। अतः यद्यपि बुद्ध ने इस सम्बन्ध में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया, तथापि अपने संघ में शूद्रों को सम्मिलित कर उन्होंने इस सिद्धान्त को एक कदम आगे बढ़ाया[1]।

---

1. इस विषय पर बौद्ध विचारों के लिए अगले अध्याय में उद्धृत वचन देखिए। तुलनीय फ़िक, वही, पृ० 39 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बौद्ध संघ की सदस्यता—किन्तु इस सामान्य सिद्धान्त के कुछ अपवाद थे तथा निम्नलिखित वर्गों के व्यक्ति संघ की सदस्यता से वंचित थे[1] :

(1) कुष्ठ, गण्ठ, सूखा कोढ़ (किलास), शोष (पक्षाघात) तथा अपस्मार—इन पाँच रोगों से ग्रस्त (महावग्ग, 1, 31,) । (2) राजकीय सेवा में नियुक्त (वही, 1, 40) । (3) उद्घोषित चोर (वही, 1, 43) अथवा कारागृह को भेदकर भागने वाला चोर (वही, 1, 42), अथवा अपने कुकृत्यों के चिह्न धारण करने वाला चोर (वही, 1, 41) । कशाघात अथवा चिह्न के अङ्कन द्वारा दण्डित (वही, 1, 44–45) (5) ऋणी (वही, 1, 46) । (6) दास (वही, 1, 47) । (7) पन्द्रह वर्ष से कम आयु का बालक (वही, 1, 50)[2] । (8) क्लीब (वही, 1, 61) । (9) विकृत शरीरवाला अथवा जिसका कोई अङ्ग कटा हुआ हो (वही, 1, 71)

दो प्रकार की दीक्षा—उपरिनिर्दिष्ट श्रेणियों में से किसी के अन्तर्गत न आनेवाला व्यक्ति[3] पब्बज्जा और उपसम्पदा नामक

1. बहिष्कार के कारणों का धर्मग्रन्थों में विस्तृत वर्णन है । तुलनीय—प्रत्येक अयोग्यता के साथ दिए हुए सन्दर्भ ।
2. इसका अभिप्राय पब्बज्जा से है, यद्यपि यह पंद्रह वर्ष से कम आयु के ग्वालों तक को दी जा सकती थी (महावग्ग, 1, 51) । उपसम्पदा नामक दीक्षा बीस वर्ष से कम आयु के किसी व्यक्ति को नहीं दी जा सकती थी । (**वही, 1, 49**) ।
3. यह स्मरणीय है कि ये नियम और अपवाद क्रमशः लागू किए गए थे तथा उन लोगों पर इन नियमों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा जो पहले से ही बौद्ध धर्म में दीक्षित हो चुके थे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दीक्षाओं के द्वारा बौद्ध संघ में दीक्षित किया जा सकता था[1] । दीक्षा का प्राचीनतम रूप अत्यन्त साधारण था । दीक्षित होने के लिए इच्छुक व्यक्ति बुद्ध के पास जाता और वे उसे "आओ भिक्खु, धम्म अच्छी तरह व्याख्यात है; दुःखों के पूर्ण अन्त के लिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो ।" (महावग्ग, 1, 6, 32) कहकर पब्बज्जा और उपसम्पदा में उसे दीक्षित करते थे। संघ के अधिक विकसित होने पर बुद्ध ने भिक्खुओं को नए सदस्यों को दीक्षित करने का अधिकार दे दिया । दीक्षा के रूप में भी बहुत परिवर्तन हो गया । जो व्यक्ति दीक्षा प्राप्त करना चाहता उसको केश और श्मश्रु मुड़वाने पड़ते थे । इसके बाद वह काषाय वस्त्र धारण करता, उत्तरीय से एक कंधे को ढकता, भिक्खुओं के चरणों में प्रणाम करता और उकड़ूँ बैठ जाता था । तब वह तीन बार इस प्रकार कहता—"मैं बुद्ध की शरण में जाता हूं, मैं धर्म की शरण में जाता हूं, मैं संघ की शरण में जाता हूँ ।"

उपसम्पदा दीक्षा—आगे चलकर उपसम्पदा दीक्षा का स्थान एक अन्य प्रकार ने ले लिया । इस पद्धति में उपज्झाय[2] का, जो सद्धि-विहारिक अथवा नवागन्तुक व्यक्ति को दीक्षा देता था, सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान था । वह एक ऐसा विद्वान् एवं समर्थ भिक्खु होना चाहिए जिसने उपसम्पदा के पश्चात् दस वर्ष व्यतीत कर लिए हों ।

---

1. पब्बज्जा दीक्षा का अपेक्षाकृत हीन रूप था । यह केवल व्यक्ति के अगृही होने का द्योतक था । बौद्ध संघ में विधिवत् प्रदेश उपसम्पदा दीक्षा के द्वारा होता था ।
2. उपज्झाय और सद्धिविहारिक का उल्लेख कहीं-कहीं आचरिय और अन्तेवासिक शब्दों से किया गया है । जैसा कि ओल्डेनवर्ग ने कहा है, आचरिय और उपज्झाय के बीच भेद करना कठिन नहीं, असम्भव है (सं० बु० ई०, 13, पृ० 178, टिप्पणी 1) ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपज्झाय के चुनाव की विधि इस प्रकार थी --"वह (जिसे उपज्झाय का चुनाव करना हो) उत्तरीय से अपना एक कंधा ढक ले, (अभिमत उपज्झाय के) चरणों में प्रणाम करे और उकड़ू बैठ कर अंजलि ऊपर उठाकर (तीन बार) इस प्रकार कहे, "मान्यवर, मेरे उपज्झाय होइए।" (यदि दूसरा व्यक्ति उत्तर) में, 'साधु' अथवा निश्चित रूप से, अथवा 'अच्छा' (औपायिक) अथवा 'बहुत अच्छा' (प्रतिरूप) अथवा 'प्रसन्नता पूर्वक' (अपना कार्य) करते रहो' कहे अथवा "संकेत से (अक्षरार्थ शरीर से) अथवा शब्द से अथवा संकेत और शब्द से यह बात सूचित करे, तो समझना चाहिए कि उपज्झाय चुन लिया गया"। केवल उपज्झाय ही सद्धिविहारिक को उपसम्पदा से दीक्षित कर सकता था,[1] किन्तु सद्धिविहारिक शिक्षा के एक निश्चित स्तर तथा उच्च चरित से युक्त होना चाहिए[2]। अनेक औपचारिकताओं का भी पालन करना पड़ता था। इस प्रकार यह आवश्यक था कि अभ्यर्थी औपचारिक रूप से दीक्षा की प्रार्थना करे तथा अपने लिए भिक्षा और चीर का प्रबन्ध करे। इसके पश्चात् भिक्षुओं की सभा में औपचारिक प्रश्नों के द्वारा यह निश्चय किया जाता कि उसमें कोई उपरिनिर्दिष्ट अयोग्यता तो नहीं है तथा उसने इस नवीन जीवन को अंगीकार करने के लिए अपने माता-पिता की अनुमति तो प्राप्त कर ली है। एक विद्वान् समर्थ भिक्खु अभ्यर्थी को पहले ही समझा देता था कि उसे इन औपचारिक प्रश्नों का उत्तर

---

1. एक विशिष्ट व्यक्ति, संघ अथवा उसका भाग नहीं, उपज्झाय बन सकता था। कतिपय वर्गों के व्यक्तियों को उपज्झाय बनने का अधिकार नहीं था। **महावग्ग,** 1,68 में उनका विस्तृत वर्णन है।
2. इनका विवरण **महावग्ग,** 1,36,2 इत्यादि में दिया गया है। निस्सय देने के लिए भी यही स्तर अपेक्षित था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किस प्रकार देना चाहिए[1]। इस प्रकार समझाने के पश्चात् वह भिक्खु एक सभा में आता, जिसमें क़म से कम दस भिक्खुओं का होना अनिवार्य था[2], तथा निम्नलिखित शब्दों में अभ्यर्थी को उपस्थित होने के लिए उसकी औपचारिक अनुमति माँगता—

"मान्यवर, संघ मेरी बात सुने। अमुक व्यक्ति आयुष्मान् अमुक से उपसम्पदा प्राप्त करना चाहता है। मैंने उसे शिक्षा दी है। यदि संघ अनुमति दे तो अमुक यहाँ आ सकता है।" अनुमति मिलने पर अभ्यर्थी संघ के समक्ष उपस्थित होता, उत्तरीय से एक कंधा ढकता, अपने सिर से भिक्खुओं के चरणों में वन्दना करता, उकड़ूँ बैठता और अञ्जलि उठा कर तीन बार इस प्रकार कहता: मान्यवर, मैं संघ से उपस्म्पदा की याचना करता हूँ: "मान्यवर, अनुकम्पा करके संघ मुझे (इस पापपूर्ण संसार से) ऊपर उठाए।"

इस पर एक विद्वान् समर्थ भिक्खु संघ के निम्नलिखित प्रस्ताव (ञत्ति) रखता; "मान्यवर, संघ मेरी बात सुने। यह अमुक व्यक्ति अमुक आयुष्मान् से उपसम्पदा प्राप्त करना चाहता है, यदि संघ सहमत हो तो मैं अमुक व्यक्ति से उसकी अयोग्यताओं के विषय में प्रश्न करूँ।" अनुमति मिलने पर वह अभ्यर्थी को इस प्रकार सम्बोधित करता :—

"अमुक अमुक, क्या तुम सुनते हो? इस समय तुम्हें सत्यभाषण करना चाहिए और वही कहना चाहिए जो वस्तुतः है। जब मैं संघ के समक्ष तुमसे उस विषय में पूछूँ तो यदि वह हो तो तुम्हें उत्तर देना चाहिए 'यह है'; यदि ऐसा न हो तो उत्तर देना चाहिए 'यह नहीं है'।

1. विवरण के लिए देखिए **महावग्ग, 1,76**।
2. सीमावर्ती प्रदेशों में सभा में चार भिक्खुओं और एक अध्यक्ष का होना अनिवार्य था। द्रष्टव्य **महावग्ग** 5,13,11।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसके पश्चात् प्रश्नों की एक झड़ी सी लग जाती थी, "क्या तुम निम्निलिखित रोगों से ग्रस्त हो ? कुष्ठ, गण्ड, सूखा कोढ़, शोष और अपस्मार ? क्या तुम मनुष्य हो ? क्या तुम पुरुष हो ? क्या तुम स्वतन्त्र मनुष्य हो ? तुम ऋणी तो नहीं हो ? तुम राजकीय सेवा में तो नहीं हो ? क्या तुम्हारे पिता और माता ने अपनी अनुमति दे दी है ? तुम पूरे बीस वर्ष के तो हो न ? तुम्हारे भिक्षापात्र और चीवर तो अच्छी स्थिति में हैं न ? तुम्हारा नाम क्या है ? तुम्हारे उपज्झाय का क्या नाम है ?"

सन्तोषजनक उत्तर मिलने पर एक विद्वान् समर्थ भिक्खु संघ के समक्ष निम्नलिखित ञ्नति उद्घोषित करता : "मान्यवर, संघ मेरी बात सुने। यह अमुक व्यक्ति आयुष्मान् से उपसम्पदा प्राप्त करना चाहता है। वह अयोग्यताओं से मुक्त है। उसके भिक्षापात्र और चीवर अच्छी स्थिति में हैं। अमुक व्यक्ति अमुक उपज्झाय के साथ संघ से उपसम्पदा की याचना करता है। यदि संघ सहमत हो तो संघ अमुक व्यक्ति को अमुक उपज्झाय के साथ उपसम्पदा प्रकान करे।"

"मान्यवर, संघ मेरी बात सुने। यह अमुक व्यक्ति आयुष्मान अमुक से उपसम्पदा प्राप्त करनाा चहता है। संघ अमुक व्यक्ति को अमुक उपज्झाय के साथ उपसम्पदा देता है। आप लोगों में से जो अमुक व्यक्ति को अमुक उपज्झाय के साथ उपसम्पदा देने के पक्ष में हों वे मौन रहें, और जो इसके पक्ष में न हों वे बोलें।

"दूसरी बार मैं आप से इस प्रकार कहता हूँ : संघ अमुक व्यक्ति को अमुक उपज्भाय के साथ उपसम्पा दे।

"और मैं आपसे तीसरी बार इस प्रकार कहता हूँ : संघ (इत्यादि पूर्ववत्)।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"अमुक व्यक्ति अमुक उपज्झाय के साथ संघ से उपसम्पदा प्राप्त कार चुका है। संघ इसके पक्ष में है, इसी कारण वह मौन है। यह मेरी धारणा है।"

दो प्रकार के व्यक्तियों को संघ की सदस्यता में औपचारिक रूप से दीक्षित होने के पूर्व अनुशासन की एक मध्यवर्ती अवस्था से होकर गुजरना पड़ता था। ये व्यक्ति इस प्रकार थे : (१) जो पहले किसी बौद्धेतर सम्प्रदाय (तित्थिय) के सदस्य रहे हों, और (२) जिनकी आयु १५ और २० वर्ष के बीच हो।

इनमें से प्रथम को त्रिरत्न में शरण की उद्घोषणा करने पर संघ के एक औपचारिक कृत्य[1] द्वारा निश्चित चार मास के परीक्षाकाल[2] (परिवास) से होकर गुजरना पड़ता था। इस काल में यदि वह अपने चरित्र और व्यवहार[3] से भिक्खुओं को सन्तुष्ट नहीं कर पाता तो उसे उपसंपदा नहीं दी जाती थी।

पब्बज्जा—15 और 20 वर्ष के बीच की आयु का व्यक्ति त्रिरत्नों में शरण लेने की घोषणा कर केवल पब्बज्जा नामक दीक्षा प्राप्त कर सकता था, तथा उपसम्पदा के लिए उसे अपनी आयु के बीसवें वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। इस मध्यवर्ती काल में वह सामणेर कहलाता था। उसे एक उपज्झाय की अधीनता में कठोर अनुशासन का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उसे निम्न-

---

1. अग्निपूजक जटिलों तथा तित्थिय शाक्यों से विषय में अपवाद किया गया था। उन्हें सीधे उपसम्पदा दे दी गई थी तथा उनके लिए परिवास आवश्बक नहीं था। (महावग्ग, 1,38,11)।
2. अर्थात् उपसम्पदा दीक्षा के सन्दर्भ में विस्तार से वर्णित पद्धति।
3. विवरण के लिए देखिए **महावग्ग**, 1,38,5–7।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्दिष्ट दस शीलों का पालन करना पड़ता था—(1) प्राणिहिंसा, (2) अदत्तादान, (3) अब्रह्मचर्य, (4) असत्य भाषण, (5) मद्यपान, (6) अकाल भोजन, (7) नृत्य, गीत इत्यादि, (8) माला, गन्ध इत्यादि, (9) ऊँची शय्या का उपयोग तथा (10) जातरूप-रजत ग्रहण, इन दस बातों से विरत होना (महावग्ग, 1, 36)। यदि वह प्रथम पाँच नियमों का अतिक्रमण करता, अथवा बुद्ध, धर्म अथवा संघ के विरुद्ध कुछ कहता, अथवा मिथ्या सिद्धान्तों का अनुसरण करता अथवा भिक्षुणियों के साथ यौन सम्बन्ध रखता तो वह संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता था, (महावग्ग, 1, 60)। अन्तिम पाँच शीलों का अतिक्रमण करने पर उसे दण्ड मिलता था (वही, 1, 57)। कोई भी भिक्खु उपज्झाय की अनुमति से दण्ड दे सकता था (महावग्ग, 1, 58)।

चार निस्सयों की उद्घोषणा—उपसम्पदा संस्कार के पूर्ण होते ही नवीन भिक्खु को उसके भावी जीवन के विषय में कुछ जानकारी दी जाती थी। उसको चार निस्सय समझाए जाते थे, जिससे कि वह भावी जीवन की चिन्ताओं और कष्टों को झेलने के लिए पहले से ही प्रस्तुत हो सकता। बुद्ध ने कहा: "भिक्खुओ, मैं इस बात की अनुमति देता हूँ कि जो किसी भिक्खु को उपसम्पदा देता है वह उसे चार निस्सय समझाए—

"भिक्षा में दिए गए भोजन के ग्रास धार्मिक जीवन का एक निस्सय है......... ।"

"धूल के ढेर से बटोरे हुए चियड़ों से चीवर धार्मिक जीवन का एक निस्सय है...... ।"

"वृक्ष के मूल में निवास धार्मिक जीवन का एक निस्सय है.... ।"

"दुर्गन्धयुक्त मूत्र का भेषज धार्मिक जीवनका एक निस्सयहै.... ।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक नवीन भिक्खु को इस प्रकार अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करना चाहिए। अच्छा भोजन, चीवर इत्यादि, जिनका समय-समय पर उपभोग करने का सौभाग्य प्राप्त हो, एक प्रकार का अतिरेक लाभ समझना चाहिए (महावग्ग, 1,77)।

साथ ही निम्नलिखित चार निषेधों के रूप में उसे भावी कठोर नैतिक जीवन का भी कुछ परिचय दिया जाता था —

"उपसम्पन्न भिक्खु को सभी प्रकार के यौन सम्भोग से दूर रहना चाहिए, भले ही वह पशु के साथ क्यों न हो।

"उपसम्पन्न भिक्खु को अदत्तादान एवं चोरी से दूर रहना चाहिए, भले ही वह घास के एक तिनके की क्यों न हो।

"उपसम्पन्न भिक्खु को जानबूझ कर किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए, चाहे वह कीट अथवा चींटी ही क्यों न हो।

"उपसम्पन्न भिक्खु को स्वयम् पर किसी अलौकिक स्थिति का आरोप नहीं करना चाहिए (महावग्ग, 1,78)।"

अनुशासन-काल—उपज्झाय के साथ दस वर्ष का निवास— किसी व्यक्ति को इन नवीन विचारों और व्यवहार से अभ्यस्त करने के लिए विशिष्ट प्रशिक्षण की आवश्यकता थी। अतः यह व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक नए भिक्षु को प्रथम दस वर्ष तक पूर्णतः अपने उपज्झाय अथवा आचरिय पर आश्रित रहना चाहिए[1]। विनय-

---

1. यह साधारण नियम था (महावग्ग, 1,32,1)। किन्तु बाद में एक अवसर पर व्यवस्था की गई कि विद्वान् समर्थ भिक्खु को केवल पांच वर्ष तक अपने आचरिय अथवा उपज्झाय पर निर्भर रहना चाहिए तथा मूर्ख भिक्खु को यावज्जीवन (**वही**, 1,53,4)। कभी-कभी भिक्खु को बिना निस्सय (अर्थात् आचरिय अथवा उपज्झाय से स्वतन्त्र) के रहने की अनुमति दे दी जाती थी (**वही**, 15,3,5 और आगे)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पिटक (महावग्ग, 1,25,7 इत्यादि; 1,32,1 इत्यादि) में दोनों के पारिस्परिक सम्बन्ध का ब्यौरेवार वर्णन है तथा गौतम बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित सामान्य सिद्धान्त से उसकी कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है---

"भिक्खुओ, उपज्झाय को चाहिए कि वह सद्धिविहारिक को अपने पुत्र के समान समझे, सद्धिविहारिक को उचित है कि वह अपने उपज्झाय को पिता के समान समझे। इस प्रकार ये दोनों जीवन में परस्पर गौरव, विश्वास और सहयोग के साथ विचरण करते हुए धर्म और विनय में वृद्धि, उन्नति तथा वैपुल्य को प्राप्त होंगे" (महावग्ग, 1,25,6)।

सद्धिविहारिक के कर्त्तव्य—सद्धिविहारिक से उपज्झाय के व्यक्तिगत सेवक के रूप में कार्य करने की आशा की जाती थी। "प्रातःकाल वह उसको दन्त-काष्ठ, मुखोदक तथा प्रातः भोजन देगा। भिक्षा के लिए जाते समय वह उसका अनुसरण करेगा, उसे पीने के लिए पानी देगा, उसके स्नान की तैयारी करेगा, उसके कपड़े सुखाएगा, उसका निवासस्थान स्वच्छ करेगा, इत्यादि, इत्यादि। वह निर्देशक और सहायक भी होगा। "यदि यह सम्भावना हो कि उपज्झाय अपने शब्दों से कोई अपराध करनेवाला है तो सद्धिविहारिक को चाहिए कि वह उपज्झाय को उससे दूर रखे।" "यदि उपज्झाय किसी गम्भीर अपराध के लिए उत्तरदायी हो तथा 'परिवास', 'मानत्त' अथवा अन्य अनुशासनात्मक दण्ड से दण्डनीय हो तो सद्धिविहारिक को उचित है कि वह उसे संघ से दण्ड दिलाए।" पुनश्च, "यदि संघ उपज्झाय के विरुद्ध तज्जनिय कम्म (अथवा चुल्लवग्ग के प्रथम खन्धक (अध्याय) में वर्णित अन्य अनुशासनात्मक कार्यवाही) करना चाहे, तो सद्धिविहारिक को प्रयत्न करना चाहिए कि संघ उपज्झाय के विरुद्ध कार्यवाही न करे अथवा कार्यवाही की कठोरता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को कम कर दे। अथवा यदि संघ ने उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर दी है, तो सद्धिविहारिक को प्रयत्न करना चाहिए कि उपज्झाय सम्यक् व्यवहार करे, नम्रतापूर्वक रहे और अपने प्रायश्चित से मुक्त होने की इच्छा करे तथा संघ अपने दण्ड को वापस लेले" (महावग्ग, 1,25)।

उपज्झाय के कर्त्तव्य—इसी प्रकार सद्धिविहारिक के प्रति उपज्झाय के भी कुछ कर्त्तव्य थे। उससे सद्धिविहारिक के आध्यात्मिक एवं शारीरिक योगक्षेम का ध्यान रखने की अपेक्षा की जाती थी। इस प्रकार विनयपिटक में कहा गया है—"भिक्खुओ, उपज्झाय को चाहिए कि वह उपदेश, परिपृच्छा, शिक्षा तथा अनुशासन के माध्यम से सद्धिविहारिक को (आध्यात्मिक) सहयोग दे एवं उन्नति का मार्ग दिखाए। यदि उपज्झाय के पास भिक्षापात्र (अथवा चीवर अथवा भिक्खु के लिए आवश्यक अन्य वस्तु) हो और सद्धिविहारिक के पास न हो तो उपज्झाय को उचित है कि वह सद्धिविहारिक को वह वस्तु दे, अथवा उस वस्तु की प्राप्ति में उसकी सहायता प्राप्त करे। यदि सद्धिविहारिक रुग्ण हो तो उपज्झाय को यथासमय उठकर उसे दन्तकाष्ठ, मुखोदक इत्यादि देना चाहिए। (सद्धिविहारिक के लिए विहित अन्य कर्त्तव्य पर भी यही नियम लागू होता है।)" अनुचित व्यवहार के लिए[1] उपज्झाय सद्धिविहारिक को संघ से बाहर निकाल सकता था; किन्तु यदि सद्धिविहारिक क्षमा माँगता तो उसे क्षमा कर दिया जाता था[2]। उपज्झाय के दूर चले जाने, संसार को लौट जाने, मर जाने अथवा किसी विरोधी दल में सम्मिलित हो जाने

1. **महावग्ग,** 1,27,6–8 में अनुचित व्यवहार का विस्तृत वर्णन है।
2. कभी-कभी सद्धिविहारिक का बहिष्कार और उसका पुनर्वास अनिवार्य था। द्रष्टव्य **महावग्ग** 1,27।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर सद्धिविहारिकों को आचरिय का चुनाव करना पड़ता था। उनके साथ उसका वही सम्बन्ध होता था जो उपज्झाय का।

संघ-जीवन—उपज्झाय के साथ परिवास-काल के पूर्ण होने पर भिक्खु संघ का पूर्ण सदस्य बन जाता था। अब व्यावहारिक दृष्टि से उसका व्यक्तिगत अस्तित्व समाप्त हो जाता था और वह विशाल धार्मिक संघ का अभिन्न अङ्गमात्र बनकर रह जाता था। उसके आचार-व्यवहार का प्रत्येक अंग विशिष्ट नियमों से नियन्त्रित था तथा उनका किञ्चिन्मात्र उल्लंघन भी उसे दण्ड का भागी बनाने के लिए पर्याप्त था। इन नियमों का विस्तार से वर्णन करना एक श्रमावह कार्य है, किन्तु केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि ये भिक्खु के चीवर[1], बिछाने का कम्बल[2], उसके पात्र[3], भोजन स्नान[4] करने के ढंग[5] तथा आसन[6] जैसे महत्वहीन विषयों तक से सम्बद्ध थे। इन नियमों की प्रकृति तथा जिस सीमा तक एक भिक्खु का जीवन इनसे मर्यादित था उसकी कल्पना वह व्यक्ति भलीभाँति कर सकता है जिसे यह स्मरण है कि बौद्ध संघ में प्रथम महत्वपूर्ण भेद निम्नलिखित महत्वहीन प्रश्नों पर मतभेद के कारण उत्पन्न हुआ था—

(1) भिक्खु को सींग में नमक इक्ट्ठा करने की अनुमति है या नहीं, (2) दोपहर के बाद सूर्य की छाया दो अंगुल बढ़ जाने

1. पातिमोक्ख (निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा। 1–10, 24–29, पाचित्तिया धम्मा 58–60, महावग्ग 48,13–4 और आगे।
2. निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा (11–15)।
3. पाचित्तया, 31–46।
4. सं० बु० ई०, जिल्द 11, पृ० 112।
5. निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा, 21–22।
6. पाचित्तिया, 14।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर मध्याह्न भोजन किया जा सकता है या नहीं; (3) मध्याह्न भोजन समाप्त करने के बाद कोई भिक्खु खा सकता है या नहीं; (4) बिना किनारे के कम्बल का नियत आकार का होना आवश्यक है या नहीं; (5) सोना और चाँदी स्वीकार करने की अनुमति है या नहीं, इत्यादि ।

इस प्रकार यह बात पूर्ण सत्यता के साथ कही जा सकती है कि ये नियम तथा उपनियम भिक्खुओं के सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध थे, और बौद्ध संघ के सिद्धान्त के अनुसार वे अत्यन्त महत्वहीन तथा प्रत्यक्ष रूप से अत्यन्त आवश्यक कार्य भी निश्चित कानूनी अनुमति के बिना नहीं कर सकते थे । चुल्लवग्ग (5,14,2) के निम्नलिखित वचन से इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है —

उस समय भिक्खु विषम भूमि पर बने विहार में विचरण कर रहे थे । इससे उनके पैरों में पीड़ा हुई ।

उन्होंने भगवान् से इसकी चर्चा की ।

"भिक्खुओ, मैं इसे समतल करने की अनुमति देता हूँ ।"

विहार की नींव बहुत नीची थी और वह पानी में डूब गया था ।

उन्होंने भगवान् से इस विषय की चर्चा की ।

"भिक्खुओ, मैं इसकी नींव ऊंची करने की अनुमति देता हूँ ।"

नींव का सामने का भाग गिर गया ।

"भिक्खुओ, मैं तीन प्रकार के अग्रभाग का उपयोग करने की अनुमति देता हूँ—ईंट, पत्थर और लकड़ी का ।"

उन्हें उसमें प्रवेश पाने में कठिनाई का अनुभव हुआ ।

"भिक्खुओ, मैं तीन प्रकार की सीढ़ियों के उपयोग की अनुमति देता हूँ—ईंट, पत्थर और लकड़ी की ।"

जब वे उन पर चढ़ रहे थे तो वे गिर पड़े ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"भिक्खुओ, मैं जंगले के उपयोग की अनुमति देता हूँ।" उस समय विहार में विचरते समय भिक्खु नीचे गिर गए।

उन्होंने भगवान् से इस विषय की चर्चा की।

"भिक्खुओ, मैं विहार के लिए कठघरे के उपयोग की अनुमति देता हूँ।"

ऊपर उद्धृत अंश में उल्लिखित विशिष्ट घटनाओं के विषय में हम चाहे कुछ भी सोचें वह बौद्ध धर्म के नियमों की कठोरता को प्रमाणित करता है तथा इस सिद्धान्त को भलीभांति स्पष्ट करता है कि व्यक्तिगत विवेक के लिए बहुत कम अवकाश था और छोटी-बड़ी सब बातों में भिक्खुओं को भगवान् बुद्ध द्वारा विहित विशिष्ट नियमों का पालन करना पड़ता था।

§ ४

बौद्ध संघ का संगठन—अब हम उस संगठन के विषय में विचार करेंगे जिसने संघ के कठोर अनुशासन का सफलतापूर्वक निर्वाह किया। यह स्पष्ट है कि आरम्भ में भगवान् बुद्ध का वचन ही कानून था तथा उनकी उच्चतम शक्ति संघ का प्रमुख निर्देशक तत्व थी। किन्तु प्रमुखतः दो कारणों से यह व्यवस्था स्थायी नहीं हो सकती थी। पहली बात यह थी कि संघ का प्रसार देश के इतने विशाल भूभाग में हो गया था कि उसका एक मनुष्य के वैयक्तिक प्रशासन के अधीन रहना सम्भव नहीं रह गया था और दूसरी बात यह कि बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् भी संघ के निर्वाह की व्यवस्था करनी थी। अतः एक विशिष्ट संगठन शनैः-शनैः विकसित हुआ। यद्यपि उसके परिपक्व होने में दीर्घ काल लगा तथापि उसके विकास का प्रथम एवं महत्वपूर्ण उपक्रम बुद्ध के जीवनकाल में दृष्टिगत होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गौतम बुद्ध एकमात्र नियमप्रवर्तक—किन्तु एक अर्थ में पुरातन व्यवस्था बनी रही। बुद्ध अपनी मृत्यु के पश्चात् भी एकमात्र नियमप्रवर्तक बने रहे। वस्तुतः बौद्ध संघ का यह एक मूलभूत सिद्धान्त था कि धर्मप्रवर्तक के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति संघ के लिए नियमों का निर्माण नहीं कर सकता था। अन्य लोग उसका स्पष्टीकरण और व्याख्या कर सकते थे, किन्तु उन्हें नवीन नियमों की रचना का अधिकार प्राप्त नहीं था। जान पड़ता है कि अति प्राचीन काल में ही इस कल्पना का विकास हो चुका था, और परम्परागत विवरण के अनुसार राजगृह की प्रथम बौद्ध संगीति में संघ के एक औपचारिक प्रस्ताव के द्वारा इस सिद्धान्त की अन्तिम रूप से स्थापना कर दी गई। भगवान् बुद्ध ने आनन्द से कहा था: "मेरे (इस संसार से) चले जाने पर यदि संघ चाहे तो समस्त गौण तथा महत्वहीन नियमों को रद्द कर सकता है।" राजगृह की संगीति में जब संघ को दी गई इस अनुज्ञा पर विचार आरम्भ हुआ तो गौण तथा महत्वहीन नियमों की व्याख्या को लेकर गम्भीर मतभेद पाया गया। इसपर महाकस्सप के प्रस्ताव पर संगीति ने बुद्ध के जीवनकाल में विहित समस्त नियमों का पालन करने[1], नवीन नियमों का विधान न करने तथा पूर्वविहित नियमों को रद्द करने का निश्चय किया[2]।

स्थानीय संघ—केन्द्रीय संगठन का अभाव—आरम्भ में बौद्ध संघ के दो भाग थे—भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के अनेक स्थानीय संघ और भगवान् बुद्ध जो एक केन्द्रीय शक्ति के रूप में उनका नियमन करते थे। विभिन्न स्थानीय संघों के प्रतिनिधिभूत केन्द्रीय संगठन का पूर्णतः अभाव था। इस पद्धति के दोष स्पष्ट थे तथा स्वयं बुद्ध

1. पाचित्तिया, 57।
2. चुल्लवग्ग, 11,1,9।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के जीवनकाल में ही उनका अनुभव किया गया था। कौशाम्बी के घोषिताराम में जो घटनाएँ घटित हुईं उनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है (महावग्ग, 10 1–5)। वहाँ पर स्थानीय संघ ने एक भिक्खु को उक्खेपन (बहिष्कार) का दण्ड दिया। उस भिक्खु के समर्थकों ने उसके व्यवहार का अनुमोदन किया तथा अपने आपको उक्त निर्णय के विरुद्ध संगठित कर लिया। ज्योंही यह समाचार बुद्ध के पास पहुंचा, वे व्यग्रतापूर्वक चिल्ला पड़े: 'भिक्खुसंघ भिन्न हो गया है, भिक्खुसंघ भिन्न हो गया है।" और वे स्वयं विरोधी दलों के पास जा पहुंचे। उन्होंने उनके मतभेद को दूर करने का यत्न किया, किन्तु उन्हें यह उत्तर मिला: "भन्ते, धर्मस्वामी भगवान् धैर्य धारण करें। भन्ते, भगवान् शान्तिपूर्वक उस धर्मसुख का उपभोग करें जो उन्होंने इस जीवन में पहले ही प्राप्त कर लिया है। इस झगड़े, कलह, विवाद और विग्रह का उत्तरदायित्व केवल हमारे ऊपर रहेगा"। महान् बुद्ध ने पुनः–पुनः उन्हें ठीक रास्ते पर लाने का यत्न किया, किन्तु उन्हें सदा वही उत्तर मिला और अन्त में निराश होकर वे उस स्थान को छोड़ कर अन्यत्र चले गए।

इस पद्धति के स्पष्ट दोष—यह घटना इस पद्धति के गुण-दोषों को अत्यन्त सजीवता के साथ व्यक्त करती है। भिक्खुओं को दी गई स्थानीय स्वायत्तता निस्सन्देह एक स्वस्थ लक्षण थी तथा संगठन की शक्ति एवं सजीवता में इसका अपना महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा। किन्तु केन्द्रीय सत्ता की दुर्बलता इतनी शोचनीय थी कि उसके पास अपने घटक अंगों पर अपने निर्णयों को लागू करने का कोई साधन नहीं था, भले ही शक्ति का इस प्रकार प्रयोग संघ के लिए हितकर रहा हो। व्यावहारिक बुद्धि एवं दूरदर्शिता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युक्त कोई भी व्यक्ति इस पद्धति में महान् संघ के क्षय और अध:पतन के बीजों का साक्षात्कार किए बिना नहीं रह सकता था ।

महान् बुद्ध की मृत्यु होने पर तो केन्द्रीय सत्ता, जो पहले से ही दुर्बल थी, पूर्णतः लुप्त हो गई, क्योंकि भगवान् तथागत ने न तो अपने शिष्यों में से किसी को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत[1] किया और न अपना स्थान लेने के लिए किसी निश्चित संगठन की व्यवस्था ही की । सम्पूर्ण बौद्ध संघ के अनेक स्वतन्त्र स्थानीय संघों में विभक्त हो जाने का विषम संकट उपस्थित हो गया था । किन्तु कई परिस्थितियों ने इस विपत्ति का निवारण कर दिया ।

उक्त दोषों के निराकरण के उपाय—इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि ये स्थानीय संगठन किसी भी प्रकार से विभिन्न अवरुद्ध विभागों में परिणत नहीं हो सकते थे, क्योंकि किसी स्थानीय संघ का कोई भी सदस्य केवल अपने निवासस्थान का परिवर्तन कर स्वतन्त्रतापूर्वक किसी अन्य संघ में सम्मिलित हो सकता था । बौद्ध भिक्षुओं की भ्रमणशील प्रवृत्तियों से यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि सदस्यता का ऐसा विनिमय विरल

---

1. कर्न के अनुसार बुद्ध ने महाकस्सप को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था, किन्तु महापरिनिब्बानसुत बुद्ध के नाम पर दिया गया निम्नलिखित वक्तव्य इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है, "आनन्द यह हो सकता है कि तुम लोगों में से कुछ के मन में यह विचार उत्पन्न हों कि अब बुद्धवचन का अन्त हो गया है और अब हमारा कोई शास्ता नहीं है ।" किन्तु हे आनन्द, तुम लोगों को ऐसा नहीं सोचना चाहिए । मैंने जिन सत्यों तथा संघ के नियमों का प्रवचन तथा तुम सब के लिए विधान किया है, मेरे न रहने पर वे ही तुम्हारा मार्गदर्शन करें (सै० बु० ई०, जिल्द 11 पृ० 112) ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं था और व्यावहारिक रूप में इससे स्थानीय स्वायत्तता की भावना को सीमित रखने में बहुत अधिक सहायता मिली होगी।

दूसरी बात यह है कि महान् बौद्ध सम्राट् सम्भवतः संघ के प्रमुख माने जाते थे, और हमें यह भलीभांति विदित है कि महान् मौर्य सम्राट् अशोक ने वास्तव में यह स्थान ग्रहण किया था।

तीसरे, महासंगीति ने, जिसके अधिवेशन समय-समय पर हुआ करते थे, एक केन्द्रीय सत्ता का कार्य किया तथा अविभक्त संघ की परम्पराओं को जीवित रखा। तत्कालीन परिस्थितियों में महान् बौद्ध संघ की एकता को बनाए रखने के लिए इससे अधिक प्रभावकारी उपाय की कल्पना नहीं की जा सकती। और यह निस्सन्देह प्राचीन भारत की जनता के रग-रग में व्याप्त सामुदायिक भावना को भलीभांति व्यक्त करता है। कुल मिलाकर हमें ऐसी चार संगीतियों की चर्चा सुनने को मिलती है, तथा वैशाली की संगीति, जिसका कुछ विस्तृत विवरण हमें उपलब्ध है, अन्य संगीतियों का आदर्श मानी जा सकती है[1]।

1. सर्वाधिक विस्तीर्ण विवरण विनयपिटक के चुल्लवग्ग के 12वें खन्धक में सुरक्षित है। कर्न ने उसका सारांश इस प्रकार दिया है–'भगवान् के परिनिर्वाण के एक शताब्दी पश्चात् वैशालो के वृजि वंश के भिक्खुओं ने दस वस्तुओं को मान्य धोषित किया, जैसे.....(इन दस वस्तुओं के सामान्य उल्लेख के लिए देखिए ऊपर पृ० 282)। उस समय काकण्डक का पुत्र स्थविर यश वैशाली में आया और महावग्न में रहते हुए उसने वृत्ति भिक्खुओं के अवैध व्यवहार को देखा। उसने उपासकों से कहकर भिक्खुओं के अनुचित व्यवहार को रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु भिक्खुओं ने अवैध व्यवहार से दूर रहने के स्थान पर यश को रुष्ट उपासकों से क्षमा माँगने का आदेश दिया। यश ने विरोध किया और अपने साथ दूत के रूप में जाने के लिए एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु उक्त उपाय अपर्याप्त थे——किन्तु ये उपाय बौद्ध संघ की विभिन्न इकाइयों के मध्य उचित सामञ्जस्य बनाए रखने के प्रयोजन की पूर्ति के लिए सर्वथा पर्याप्त नहीं थे। व्यावहारिक

साथी की नियुक्ति की मांग, की जिससे उसे अपने साथ किए गए अन्याय के निराकरण की मांग करने का अवसर मिल सकता। उसकी मांग स्वीकार कर ली गई और वह अपने साथी को लेकर वैशाली में प्रविष्ट हुआ, जहां उसने श्रद्धालु उपासकों के समक्ष अपना पक्ष प्रस्तुत किया। जैसी कि आशा थी, वह अपने मुखर एवं प्रभावकारी निवेदन में सफल हुआ, क्योंकि उसका प्रवचन सुनने के बाद उपासकों ने घोषित किया कि एक वह ही योग्य श्रमण एवं शाक्यपुत्र था। वृजि भिक्खु अपनी बात पर अड़े रहे और यश के विरुद्ध उन्होंने उक्खेपन का कृत्य किया। किन्तु यश ने कौशाम्बी पहुंच कर पश्चिम देश, अवन्ति एवं दक्षिण देश के भिक्खुओं को एक सभा के लिए आमन्त्रित करने के हेतु दूत भेजे। इस निमन्त्रण के उत्तर में इन प्रदेशों से लगभग 700 बौद्ध भिक्खु एकत्रित हुए। जब यह न्यायसभा प्रश्न के निर्णय के लिए एकत्रित हो चुकी थी तो रेवत ने प्रस्ताव किया कि संघ को इस प्रश्न का निर्णय वहीं करना चाहिए जहां यह उत्पन्न हुआ था (अर्थात् वैशाली में)। प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने पर भिक्खु वैशाली पहुँचे। संघ के अगले अधिवेशन में कार्यवाही सफल नहीं हुई। अतः रेवत ने सभा के सामने इस प्रश्न को एक समिति को सौंप देने का प्रस्ताव किया। इसके लिए उसने एक समिति का चुनाव किया जिसमें आठ सदस्य थे, चार भिक्खु पूर्व के और चार पश्चिम के। समिति की बैठक के लिए वलिकाराम नामक एक शान्त और निर्बाध स्थान चुना गया। सभा की कार्यवाही का संचालन इस प्रकार से किया गया कि रेवत ने प्रश्न किए और सव्वकामी ने उनके प्रामाणिक उत्तर दिए। दस की दस वस्तुएँ (दसवत्थूनि) नियम विरुद्ध घोषित कर दी गईं और फलस्वरूप वृजि भिक्खु अपराधी माने गए। (कर्न, **मैन्युअल आफ इण्डियन बुद्धिज्म**, पृ० 103–5)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपयोगिता की दृष्टि से प्रथम उपाय कालक्रम से दृढ़तापूर्वक विकसित विघटनकारी प्रवृत्ति का नियन्त्रण करने में असमर्थ था। दूसरा उपाय अनिश्चित था और वह कुछ दुर्लभ अवसरों पर ही सहायक हो सकता था। वास्तव में देखा जाए तो एक सहस्र वर्षों के दीर्घ काल में केवल अशोक, कनिष्क और हर्ष इन तीन सम्राटों के नाम ही प्रधान रूप से उल्लेखनीय हैं। अन्त में यद्यपि साधारण संगीतियों का आयोजन सार्वाधिक फलप्रद उपाय था, तथापि अधिक से अधिक इसे संविधान के दोषों के निराकरण का एक निराश प्रयत्न माना जा सकता है तथा स्वाभाविक रूप से इसका अवलम्ब केवल असाधारण एवं अपवादभूत परिस्थितियों में ही लिया जा सकता था। इस स्थिति का परिणाम संघ में बारम्बार प्रकट होने वाले भेदों तथा प्रत्येक उत्तरकालीन महासंगीति के पिछली संगीति की अपेक्षा न्यूनतर प्रतिनिधिक स्वरूप में दृष्टिगत होता है। किन्तु यह पूर्णतः स्पष्ट है कि एक व्यापक बौद्ध संघ की भावना सिद्धान्त अथवा लोक-कल्पना में कदापि अनुपस्थिति नहीं थी, यद्यपि हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि व्यावहारिक प्रयोजन की दृष्टि से वास्तव में केवल स्थानीय संघों का ही अस्तित्व था।

अभिलेख बौद्ध संघ के इस दुहरे स्वरूप को अपन यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित करते हैं। इस प्रकार, जहाँ कुछ लेखों में भिक्खुओं के स्थानीय अथवा विशिष्ट संघों को दान दिए जाने का उल्लेख है[1] वहाँ अन्य अभिलेख सम्पूर्ण संघ (संघस चातुदिसस) को दान दिए

1. ल्यूडर्स द्वारा संकलित ब्राह्मी अभिलेखों की सूची, सं० 987, 1018, 1099, 1100, 1105, 1123–1126, 1175, 1248, 1250।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाने की चर्चा करते हैं[1] ।

स्थानीय संघों का प्रतिलोकतान्त्रिक संगठन—स्थानीय संघों का प्रशासन वस्तुतः लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों पर आधारित था । भिक्खुओं की साधारण सभा सर्वोच्च सत्तासम्पन्न संस्था थी तथा उसकी बैठकों की कार्यप्रणाली का विधान सूक्ष्म यथार्थता के साथ किया गया है[2]।

साधारण सभा और उसका संगठन—पहली बात यह है कि किसी संघ के सभी पूर्णतः दीक्षित भिक्खु सभा के सदस्य थे । उनमें से प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो किसी अपराध के लिए दिए गए दण्ड के कारण अयोग्य करार न दिया गया हो मतदान का अधिकार प्राप्त था । कोई भी बैठक तब तक वैध नहीं मानी जा सकती थी जब तक कि उसमें मतदान के अधिकारी सभी सदस्य उपस्थित न होते अथवा अनुपस्थित होने पर औपचारिक रूप से अपनी सहमति व्यक्त न कर देते[3] । सदस्यों की न्यूनतम संख्या, जिसकी उपस्थिति सभा की कार्यवाही की वैधता के लिए अनिवार्य थी, अथवा दूसरे शब्दों में गणपूर्ति के नियमों का निर्देश महावग्ग, (9,4) में मिलता है । विभिन्न प्रकार के अधिकृत कार्यों के लिए संख्या भी भिन्न-भिन्न थी । उदाहरणार्थ कुछ कार्य ऐसे थे जो केवल चार व्यक्तियों द्वारा किए जा सकते थे, जबकि अन्य कार्यों के लिए कम से कम बीस व्यक्तियों

---

1. ल्यूडर्स सं०, 5, 62बी, 64 ए, 998, 999, 1006, 1007, 1016, 1020, 1024, 1106, 1127, 1131, 1133, 1137, 1139, 1140, 1146 । गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स, सं० 5, 62 ।
2. महावग्ग,, 9,3 ।
3. अनुपस्थित सदस्यों की औपचारिक सहमति 'छन्द' कहलाती थी ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की उपस्थिति अनिवार्य थी। यदि कोई उपस्थित सदस्य यह सोचता कि सभा की रचना किसी भी दृष्टि से अनियमित है तो वह विरोध कर सकता था।

सभा के अधिवेशनों में अंगीकृत कार्यप्रणाली--सभा के विधवत् एकत्रित हो चुकने पर प्रस्तावक उपस्थित भिक्खुओं को प्रथम उस प्रस्ताव की सूचना देता था जिसे वह प्रस्तुत करने वाला होता था। यह सूचना 'ञत्ति' कहलाती थी। ञत्ति के पश्चात् उपस्थित भिक्खुओं से पूछा जाता था कि वे प्रस्ताव से सहमत हैं या नहीं। यह प्रश्न 'कम्मवाचा' कहलाता था। प्रश्न एक बार अथवा तीन बार किया जाता था। प्रथम प्रकार ञत्तिदुतिय कम्म कहलाता था और द्वितीय प्रकार ञत्तिचतुत्थकम्म[1]। प्रथम तथा द्वितीय श्रेणियों के अन्तर्गत आनेवाले कार्यों के सम्बन्ध में सूक्ष्म नियमों का विधान किया गया है। इस परम्परागत पद्धति का अतिक्रमण किसी आधिकारिक कृत्य को अवैध बनाने के लिए पर्याप्त था। इस प्रकार महावग्ग ९,३,३ में कहा गया है कि "भिक्खुओ, यदि कोई व्यक्ति एक ञत्ति के साथ ञत्तिदुतियकम्म करता है, अथवा कम्मवाचा उद्घोषित नहीं करता, तो ऐसा कार्य अवैध है। भिक्खुओ, यदि कोई व्यक्ति दो ञत्तियों के साथ ञत्तिदुतियकम्म करता है, किन्तु कम्मवाचा उद्घोषित नहीं करता तो यह अधर्मकार्य है। भिक्खुओ, यदि कोई एक कम्म वाचा के साथ ञत्तिदुतियकम्म करता और ञत्ति की स्थापना

1. सै० बु० ई०, जिल्द 13, पृ० 169, पादटिप्पणी 2। (सुविधा की दृष्टि से मूल पालि ग्रन्थ के आधार पर यहां कुछ परिवर्तन कर दिया गया है—अनुवादक। इस पद्धति के व्यावहारिक स्पष्टीकरण के लिए उपसम्पदा का ऊपर दिया हुआ विवरण देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं करता तो यह अधर्मकार्य है।"

संघ के सामने प्रस्ताव के औपचारिक रूप से एक या तीन बार[1] प्रस्तुत कर दिए जाने पर यदि उपस्थित सदस्य मौन रहते तो वह स्वतः पारित मान लिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति प्रस्ताव के विरुद्ध बोलता और सभा में मतभेद होता तो बहुमत का निर्णय माना जाता था। मत नियमित रूप से लिए जाते थे तथा इस प्रयोजन के लिए सलाकागाहापक संघ द्वारा औपचारिक रूप से नियुक्त किया जाता था[2]।

यदि विवादग्रस्त विषय गम्भीर और पेचीदा होता तो वह किसी ऐसे दूसरे स्थानीय संघ को सौंपा जा सकता था जिसमें भिक्खुओं की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होती। चुल्लवग्ग 4,14,17 इत्यादि में इसकी विधि का वर्णन विस्तार से किया गया है। जिस संघ को यह विषय सौंपा जाता था वह प्रथम यह वचन ले लेता था कि उसका निर्णय अन्तिम माना जाएगा। इसके बाद वे प्रस्तुत विषय पर प्रायः उसी पद्धति से विचार करना आरम्भ करते थे जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यदि प्रश्न जटिल होता और उस पर विचार-विमर्श के समय निरर्थक वक्तव्य दिए जाते तो वह एक छोटी समिति को सौंपा जा सकता था[3]। उच्चतम ख्यातिप्राप्त भिक्खु ही इन समितियों के लिए चुने जाते थे तथा उनकी नियुक्ति संघ के एक

---

1. नियम के अनुसार।
2. **चुल्लवग्ग** 4,9।
3. जान पड़ता है कि समिति को प्रश्नों के प्रेषण की प्रथा भलीभाँति प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वैशाली की संगीति में इसका आशय लिया गया था। देखिए **चुल्लवाग्ग,** 12,2,7।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

औपचारिक कृत्य के द्वारा की जाती थी। यदि समिति प्रस्तुत विषय पर पहुंचने में समर्थ न होती तो वह उसे संघ को वापस लौटा देती थी, जो उसका निर्णय बहुमत के आधार पर करता था।

यद्यपि साधारणतः विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय बहुसंख्यक मतों के द्वारा होता था, तथापि बौद्ध ग्रन्थों से यह बात भलीभांति स्पष्ट हो जाती है कि इस सामान्य सिद्धान्त की बाध्यकारिणी शक्ति समान रूप से मान्य नहीं थी। इस प्रकार चुल्लवग्ग 4,10,1 में कहा गया है कि जब मतग्राहक यह जानता है कि जिन लोगों के विचार धम्म–विनय के अनुकूल नहीं है वे बहुसंख्या में रहेंगे, अथवा सम्भवतः बहुसंख्या में हो सकते हैं तब मत ग्रहण अवैध है। इसके अतिरिक्त मत-ग्रहण की गुप्त पद्धति भी प्रचलित थी। "यदि मत-ग्राहक को यह निश्चित रूप से ज्ञात होता कि जिनका मत धम्म के विपरीत है वे बहुसंख्या में हैं तो मत-ग्रहण में त्रुटि के ब्याज से वह मतों को रद्द कर सकता था[1]"। इन नियमों में व्याप्त साधारण लोकतान्त्रिक भावना के इन व्यक्तिक्रमों का स्पष्टीकरण करना एक कठिन कार्य है। बहुमत के निर्णय के रद्द कर दिए जाने पर उपस्थित प्रश्नों का निर्णय कैसे होता था इस विषय में ग्रन्थ पूर्णतः मौन हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ये नियमोपनियम एक ऐसे रहस्य से आवृत हैं जिसका उद्घाटन करना सम्प्रति असम्भव है।

विहार के लौकिक कार्य—स्थानीय भिक्खुसंघ विहार के आवश्यक लौकिक कार्यकलाप का निर्वाह अनेक अधिकारियों के माध्यम से करता था। ये अधिकारी संघ के द्वारा विधिवत् चुने जाते थे। स्थान-भेद से इन अधिकारियों के अभिधानों और संख्या में भेद

१. **चुल्लवग्ग**, 4,14,26।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होना स्वाभाविक था, किन्तु उनमें सबसे महत्वपूर्ण ये थे—(1) फल, भात का मांड़, इत्यादि भोजन के पदार्थों के वितरक (फलभाजक, यागुभाजक, खज्जकभाजक,) (2) भाण्डागारिक, (3) सेनासनपञ्ञापक अर्थात् विहार में शयन और आसन का वितरण करने वाला (4) चीवरपटिग्गाहापक अथवा वस्त्रों को स्वीकार करने वाला, (5) चीवरभाजक अर्थात् चीवरों का वितरण करनेवाला, (6) साथ्यिगाहापक अर्थात् अधोवस्त्र इत्यादि का प्रबन्ध करने वाला, (7) पत्तगाहापक अथवा भिक्षापात्रों का प्रबन्ध करनेवाला और (8) मालियों का निरीक्षक (आरमिकपेसक)[1]। ये अधिकारी निश्चय ही भिक्खुओं में से चुने जाते थे, और उनमें से सर्वाधिक प्रतिष्ठित व्यक्तियों को ही ये महत्वपूर्ण दायित्व सौंपे जाते थे।

संघ का अपने सदस्यों पर अधिकार—स्थानीय संघ को अपने सदस्यों के ऊपर व्यापक अधिकार प्राप्त थे और वह उनको उनके अपराधों के लिए (1) तज्जनिय कम्म (भर्त्सना) (2) निस्सय कम्म (संरक्षण में रखना), (3) पब्बजनिय कम्म (निर्वासन), (4) पतिसरनिय कम्म (उपासक-उपासिकाओं की क्षतिपूर्ति करना) तथा (5) उक्खेपनिय कम्म (अस्थायी बहिष्कार) इत्यादि विविध दण्ड दे सकता था। इनमें से एक या दूसरे दण्ड के योग्य अपराधों तथा दण्ड देने के प्रकार का विस्तृत विवरण चुल्लवग्ग के प्रथम खन्धक में दिया गया है। इनके अतिरिक्त परीक्षाकाल (परिवास) और प्रायश्चित्त (मानत्त) की रीति भी प्रचलित थी, जिसका ब्यौरेवार वर्णन द्वितीय और तृतीय खन्धकों

1. मिलाओ कर्न, **मैन्युअल**, पृ० 83।
(अधिकारियों के पालि-नाम अनुवाद में मूलग्रन्थों से दिए गए हैं—अनुवादक)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में किया गया है । इन सब के ऊपर था संघ से बहिष्कार । यह बौद्ध धर्मग्रन्थों में वर्णित उच्चतम दण्ड है तथा इस सर्वोच्च दण्ड के योग्य अपराधों का वर्णन पातिमोक्ख के पाराजिक प्रकरण में मिलता है ।

भिक्खुनीसंघ—बौद्ध संघ के अन्तर्गत भिक्खुनियों का अपना विशिष्ट संगठन था । उनका अपना संघ था जो उन्हीं नियमों और उपनियमों से नियमित था जिनसे भिक्खुसंघ । किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भिक्खुनीसंघ भिक्खुसंघ के अधीन था । यद्यपि किसी नई भिक्खुनी को भिक्खुनीसंघ में ठीक उसी प्रकार दीक्षा दी जाती थी जिस प्रकार भिक्खुसंघ में एक नए भिक्खु को, तथापि भिक्खुसंघ के द्वारा उसकी पुष्टि की जानी आवश्यक थी । बौद्ध धर्मनियमों की साधारण प्रवृत्ति भिक्खुनियों को निश्चित रूप से हीन स्थान देने की थी, क्योंकि महान् बुद्ध के मतानुसार बौद्ध संघ में उनके प्रवेश से उसकी पवित्रता के नष्ट होने की सम्भावना थी । इस दोष के निवारण के लिए अनेक उपायों का आविष्कार किया गया, किन्तु भिक्खुसंघ के नियामक मूलभूत सिद्धान्त भी भिक्खुनीसंघ पर भी समान रूप से लागू थे । चुल्लवग्ग 10, 3 में आनन्द को बुद्ध के उत्तर से जान पड़ता है कि अन्य धार्मिक सम्प्रदाय भी स्त्रियों को अपने संगठनों में प्रवेश प्रदान करते थे[1] ।

§ ६

बौद्ध संघ के उपरोक्त विवरण से संस्था के संसृष्ट स्वरूप पर प्रचुर प्रकाश पड़ने की आशा है । अब हम इस संगठन के कुछ विशिष्ट तत्वों पर विचार करेंगे जो इस लक्षण को और अधिक सजीव रूप से व्यक्त करते हैं ।

---

1. भिक्खुनीसंघ के विवरण के लिए देखिए चुल्लवग्ग 10, भिक्खुनी पातिमोक्ख ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भिक्खु एवं भिक्खुसंघ के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध—सर्वप्रथम हम इस उपरिनिर्दिष्ट तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि बौद्ध संघ में व्यक्ति का अस्तित्व समूह में पूर्णतः विलीन हो जाता था। व्यक्ति का अपना कोई स्वातन्त्र्य नहीं था और उसके जीवन की छोटी से छोटी बात भी संघ द्वारा कार्यान्वित नियमों से मर्यादित थी। सम्पूर्ण विषय की जानकारी देने के उद्देश्य से कतिपय उदाहरणों का उल्लेख करना उपयोगी होगा—

(1) यदि कोई भिक्खु नीरोग होते हुए पर्याप्त कारण के बिना केवल उष्णता प्राप्त करने के उद्देश्य से आग जलाए अथवा जलवाए तो यह एक पाचित्तिय है (ऐसा अपराध जिसके लिए प्रायश्चित करना आवश्यक है)[1]।

(2) यदि कोई भिक्खु उचित अवसरों को छोड़ कर एक पक्ष से कम के अन्तर पर स्नान करे, तो यह एक पाचित्तिय है।[2]

(3) भिक्षा के लिए किसी घर में गए हुए भिक्खु से यदि लोग अपने मिष्ठान्न और पूओं में से ग्रहण करने का आग्रह करें और भिक्खु की ऐसी इच्छा हो तो वह दो या तीन पात्र भर कर स्वीकार कर सकता है। यदि वह इससे अधिक स्वीकार करे तो यह एक पाचित्तिय है[3]।

(4) यदि कोई भिक्खु अपना कम्बल अथवा चटाई बनवाते समय उसमें रेशम का उपयोग कराए तो यह एक पाचित्तिय है, जिसका दण्ड है उक्त कम्बल अथवा चटाई की जब्ती[4]।

---

1. सै० बु० ई०. जिल्द 13, पृ० 44।
2. वही, ।
3. वही, पृ० 39।
4. वही, पृ० 24।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(5) जब भिक्खु ने एक नया कम्बल बनवाया हो तो उसे उसका उपयोग छह वर्ष तक करना चाहिए। यदि वह संघ की अनुमति के बिना छह वर्ष के अन्दर दूसरा नया कम्बल बनवाए, भले ही उसने अपना पुराना कम्बल त्याग दिया हो अथवा नहीं, तो यह एक पाचित्तिय है, जिसका दण्ड है कम्बल का हरण[1]।

व्यक्ति और संघ के मध्य इसी सम्बन्ध की पुष्टि बौद्ध धर्मनियमों की इस सामान्य पूर्वकल्पना से भी होती है कि प्रत्येक वस्तु पर संघ का स्वामित्व है, किसी व्यक्तिगत भिक्खु का नहीं; और कोई भिक्खु उसी वस्तु को प्राप्त कर सकता है जो उसको विशेष रूप से दी गई हो। उदाहरणार्थ, यह एक साधारण नियम है कि एक भिक्खु एक समय में केवल एक पात्र रख सकता है और उसके बदले में उसे नया पात्र तभी मिल सकता है जब वह कम से कम पाँच स्थानों से टूट गया हो। अब यदि इस नियम के विपरीत किसी भिक्खु को एक नया पात्र प्राप्त होता तो संघ उसे जब्त कर ऐसे भिक्खु को दे देता था जिसका पात्र सबसे खराब रहा हो[2]। इसी प्रकार यह एक साधारण नियम था कि भिक्खु सोना अथवा चाँदी स्वीकार नहीं कर सकते थे, और यदि उनमें से कोई भी उसे प्राप्त

---

1. 'संघ की अनुमति के बिना' इस वाक्यांश को जोड़ने का कारण विभङ्ग में एक कथा के द्वारा समझाया गया है—"एक रुग्ण भिक्षु को उसके सम्बन्धियों ने चिकित्सा के लिए घर आने का निमन्त्रण दिया। उसने उत्तर दिया कि वह इतना रुग्ण था कि वह कम्बल नहीं ले जा सकता था, वह कम्बल के बिना काम भी नहीं चला सकता था और न छह वर्षों के अन्दर वह एक नया कम्बल ही बनवा सकता था। इस पर बुद्ध ने उक्त नियम का यह अपवाद किया। (**वही, पृ० 25 और पादटिप्पणी**)।
2. **से० बु० ई०, जिल्द 13, पृ० 27**।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करता अथवा किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा अपने लिए प्राप्त करता अथवा अपने लिए उसे सुरक्षित रखवा देता तो उसे संघ के उपयोग के लिए उसका त्याग करना पड़ता था[1]। यहाँ तक कि जब किसी भिक्खु को किन्हीं वस्तुओं के व्यक्तिगत उपयोग की अनुमति दे दी जाती थी तब भी वह संघ की सम्पत्ति मानी जाती थी[2]। यह बात इस सिद्धान्त के पूर्णतः अनुरूप है कि भिक्खु की मृत्यु हो जाने पर संघ उसकी सम्पत्ति का स्वामी हो जाता था[3]:

"हे भिक्खुओ, किसी भिक्खु की मृत्यु हो जाने पर उसके पात्र और चीवरों का स्वामित्व संघ को प्राप्त हो जाता है। किन्तु जो लोग रोगी की सेवा करते हैं वे बहुत उपयोगी हैं। हे भिक्खुओ, मैं संघ को अनुमति देता हूँ कि वह (मृत भिक्खुओं के) चीवर और पात्र उनको दें जिन्होंने रोगी की सेवा की हो। और जो स्वल्प सम्पत्ति अथवा भिक्खुओं के लिए आवश्यक थोड़ी-बहुत वस्तुएं वहाँ हों.उनका विभाजन वहाँ विद्यमान संघ कर सकता है। किन्तु बड़े परिमाण में जो सम्पत्ति अथवा भिक्खुओं के लिए आवश्यक वस्तुएँ हों वे किसी को दी अथवा विभक्त नहीं की जा सकतीं । इसके विपरीत उन पर 'आगतानागत चातुदिस भिक्खुसंघ' का अधिकार होगा।"

सम्पत्ति के इस साम्यवादी सिद्धान्त को निम्नलिखित कथा

---

1. **सै० बु० ई०**, जिल्द 13, पृ० 26 और पादटिप्पणी।
2. किसी भिक्खु को अपने चीवरों पर व्यक्तिगत स्वामित्व प्राप्त नहीं था। यद्यपि वे नाममात्र के लिए उसको अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए दिए जाते थे और नियमानुसार वे वस्तुतः उसी के थे तथापि कानूनी दृष्टि से वे संघ की सम्पत्ति थे। (**वही**, पृ० 18, पादटिप्पणी 1)।
3. **महावग्ग**, 8,27,5।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी सुन्दरतापूर्वक स्पष्ट करती है :

"उस समय सावत्थी के निकट एक ग्राम्य विहार में रहनेवाले भिक्खु तंग आ गए थे, क्योंकि जो भ्रमणशील भिक्खु (अन्य स्थानों से) वहाँ आते थे उनके लिए उन्हें निरन्तर शय्याओं का प्रबन्ध करना पड़ता था। और उन भिक्खुओं ने सोचा : (इस दशा में) हम सब, शय्याएँ, जो संघ की सम्पत्ति हैं, (हममें से किसी) एक भिक्खु को दे दें और हम उसकी सम्पत्ति मानकर उनका उपयोग करें।" और उन्होंने [ऐसा ही किया]।

तब आगन्तुक भिक्खुओं ने उनसे कहा: "मान्यवर, हमारे लिए बिछौने तैयार कीजिए।"

"मान्यवर, संघ के पास बिछौने नहीं हैं। हमने वे सब हममें से एक को दे दिए हैं।"

"क्या मान्यवर! क्या आप लोगों ने संघ की सम्पत्ति को हथिया लिया है?"

"मान्यवर आप ठीक कह रहे हैं।"

मध्यमार्गी भिक्खुओं ने इस पर असन्तोष व्यक्त किया, और भगवान् से इस विषय की चर्चा की।

"भिक्खुओ, क्या इनका यह कथन कि भिक्खु संघ की सम्पत्ति को हथिया लेते हैं सत्य है?"

"भगवन्, यह सत्य है।"

इस पर भगवान् ने उनकी भर्त्सना की, इत्यादि, और भिक्खुओं से कहा: "भिक्खुओ, ये पाँच वस्तुएँ अहस्तान्तरणीय हैं और संघ अथवा दो या तीन भिक्खुओं का गण अथवा कोई एक व्यक्ति इनका विनियोग नहीं कर सकता। ये पाँच वस्तुएँ कौन सी हैं? आराम अथवा आराम का स्थान—यह प्रथम अहस्तान्तर-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

णीय वस्तु है, जिसका संघ अथवा गण अथवा कोई व्यक्ति विनियोग नहीं कर सकता। यदि इसका विनियोग कर दिया जाए, तो यह विनियोग अवैध है और जिस किसी ने इसका विनियोग किया हो, वह थुल्लच्चय का अपराधी है। विहार अथवा विहार-भूमि—यह दूसरी अहस्तान्तरणीय वस्तु है, इत्यादि (जैसा ऊपर कहा जा चुका है) शय्या, अथवा आसन, अथवा मसनद, अथवा तकिया—यह तृतीय अहस्तान्तरणीय वस्तु है, इत्यादि। पीतल का भाण्ड, अथवा पीतल का घड़ा, अथवा पीतल का बरतन, अथवा पीतल का कलश, अथवा छुरा, अथवा फरसा, अथवा कुल्हाड़ी अथवा फावड़ा—यह चतुर्थ अहस्तान्तरणीय वस्तु है, इत्यादि। लताएँ, अथवा बाँस, अथवा मूँज, अथवा बल्बज घास, अथवा साधारण घास, अथवा मिट्टी अथवा लकड़ी से बनी वस्तुएँ, अथवा मिट्टी के बरतन—यह पाँचवीं इत्यादि (पूर्वोक्तानुसार थुल्लच्चय तक)[1]।

इस प्रकार यदा-कदा व्यक्तिगत सदस्य के लिए वृहत्तर संघ की कल्पना का साक्षात्कार करना सम्भव था। बौद्ध संघ के किसी केन्द्रीय संगठन के अभाव में ये विलक्षण सिद्धान्त और व्यवहार ही किसी सदस्य को इस तथ्य का अनुभव करने का अवसर प्रदान कर सकते थे कि विभिन्न स्थानीय संघ एक वृहत्तर संघ के अंगमात्र थे। यदि काश्मीर का कोई भिक्खु अपनी यात्रा के मध्य पाटलिपुत्र के एक विहार में रात्रि के समय अधिकारपूर्वक शय्या की माँग कर सकता तो उसे वृहत्तर संघ की कल्पना का साक्षात्कार होना निश्चित था। यह अनुभव अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं था।

§ ७

बौद्ध संघ की विशिष्ट संस्थाएं और धार्मिक कृत्य—बौद्ध संघ की अनेक संस्थाएँ सदस्यों के मन में सामुदायिक भावना

१. चुल्लवग्ग, 6,15।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को निरन्तर जीवित रखती थीं । इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम भिक्खुओं की नियमित सभा का उल्लेख किया जा सकता है ।

(१) **नियमित सामयिक सभाएं**--प्रथम यह नियम बनाया गया था कि भिक्खुओं को प्रत्येक पक्ष के आठवें, चौदहवें और पन्द्रहवें दिन एकत्रित होकर **धम्म** का पाठ करना चाहिए[1]। अन्तिम दो दिनों में से एक दिन उपोसथ कर्म होता था जिसमें पातिमोक्ख का पाठ किया जाता था ।[2] यह अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता था तथा इस कृत्य के समुचित रूप से संचालन के लिए विस्तृत नियमों का विधान किया गया था ।

किसी स्थान का सम्पूर्ण संघ एकत्रित होकर उपोसथ करता था । इस प्रयोजन के लिए स्थानीय प्रदेश की सीमाएँ संघ के एक औपचारिक कृत्य के द्वारा स्पष्ट रूप से निर्धारित की गईं थीं ।[3] नियमानुसार यह प्रदेश अधिक विस्तृत नहीं होना चाहिए और न उसमें ऐसी प्राकृतिक रुकावटें ही होनी चाहिएँ जैसे एक विशाल नदी, जिसके दोनों तटों के बीच नाव आदि के द्वारा नियमित यातायात का प्रबन्ध न हो । सब सदस्यों की उपस्थिति को सम्भव बनाने के निमित्त ही अधिक सावधानी बरती जाती थी । पहले से उद्घोषित निश्चित दिन में इस प्रयोजन के लिए पूर्वनिश्चित स्थान पर एक ही उपोसथ कर्म होता था ।

---

1. **महावग्ग,** 2,1,3 ।
2. **महावग्ग,** 2,3,2, 3; 2,4,2 ।
3. यदि कोई निश्चित सीमा निर्धारित न की गई हो तो जिस ग्राम अथवा नगर में भिक्खु रहते हों उसकी सीमा ही उपोसथ की सीमा मान ली जाती थी (**महावग्ग,** 2,12,7) ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पातिमोक्ख का पाठ--भिक्खुओं के एकत्रित हो जाने पर एक विद्वान् समर्थ भिक्खु सभा की औपचारिक आज्ञा से पातिमोक्ख[1] का पाठ करता था[2]। ज्यों-ज्यों पाठ होता जाता था, अपराधों के प्रत्येक वर्ग के वर्णन के अन्त में उपस्थित भिक्खुओं से पूछा जाता था कि वे उस सम्बन्ध में शुद्ध हैं या नहीं। यह प्रश्न तीन बार दुहराया जाता था और यदि सभा मौन रहती तो पाठ चालू रहता था, क्योंकि मौन शुचिता की घोषणा के समकक्ष माना जाता था[3]। इसके विपरीत यदि कोई उपस्थित भिक्खु इनमें से किसी अपराध के लिए उत्तरदायी होता तो उसे अपना अपराध स्वीकार करना पड़ता था और उसके नियमोपनियमों के अनुरूप व्यवहार किया जाता था। पातिमोक्ख का पाठ समाप्त हो चुकने पर सभा में संघ से सम्बद्ध विविध विषयों पर विचार होता था[4] और कभी-कभी संघकार्य भी किया जाता था[5]। साधारणतः ज्येष्ठ भिक्खु उपोसथ का प्रमुख होता था, किन्तु यदि वह अनभिज्ञ एवंपातिभोक्ख का पाठ करने में असमर्थ होता तो सर्वाधिक विद्वान् और समर्थ भिक्खु उसका स्थान ग्रहण करता था। यदि किसी प्रदेश के सभी भिक्खु पातिमोक्ख से अनभिज्ञ होते तो उन्हें तत्काल किसी भिक्खु को समीपवर्ती संघ में पातिमोक्ख का संक्षिप्त अथवा पूर्णरूप में अध्ययन करने के लिए भेजना पड़ता था। यदि वह ऐसा करने में समर्थ न होता तो उपोसथ

---

1. पातिमोक्ख (विविध अपराधों और उनके लिए समुचित दण्डों की वर्गीकृत सूची) का पाठ पूरे विस्तार के साथ किया जाता था, किन्तु संकट के समय इसका संक्षेप हो सकता था (वही, 2,15)।
2. **महावग्ग, 2,3,3** ।
3. **वही, 2,3** ।
4. **वही 2,15, 5–11** ।
5. **वही, 2,23** ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्म और पातिमोक्ख के पाठ के लिए सभी भिक्खुओं को एक निकट-वर्ती संघ में जाना पड़ता था।

उपोसथ कर्म में सदस्यों की उपस्थिति पर विशेष बल दिया जाता था। यदि कोई सदस्य रुग्ण होने के कारण अनुपस्थित होता तो उसे किसी अन्य भिक्खु के द्वारा अपनी 'परिसुद्धि' (अर्थात् प्रातिमोक्ष में निर्दिष्ट अपराधों से मुक्त होने की गम्भीर घोषणा) भेजनी पड़ती थी। साथ ही उसे सभा में किए जाने वाले कार्यों के प्रति अपनी सहमति भी व्यक्त करनी पड़ती थी[1]। यदि रुग्ण भिक्खु अपनी 'परिसुद्धि' भेजने में सफल न होता तो वह अपने बिस्तर अथवा आसन पर ही सभा में ले जाया जाता था। यदि रुग्ण भिक्खु के परिचारक सोचते कि उसे अन्यत्र ले जाने से उसका रोग बढ़ेगा अथवा उसकी मृत्यु हो जाएगी तो सम्पूर्ण संघ को रोगी के पास जाकर वहीं उपोसथ करना पड़ता था। किन्तु किसी भी दशा में वे अपूर्ण संघ में उपोसथ नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार यदि कोई भिक्खु अपने सम्बन्धियों अथवा राजाओं अथवा डाकुओं के द्वारा पकड़ लिया जाता तो भिक्खु सर्वप्रथम उपोसथ कर्म में सम्मिलित होने के लिए उसे अस्थायी रूप से मुक्त कराने का यत्न करते थे। यदि वे इसमें सफल न होते तो वे उनसे उपोसथ कर्म के समय भिक्खु को सीमा से बाहर ले जाने की प्रार्थना करते थे, जिससे परिभाषानुसार संघ पूर्ण हो सकता। इनमें असफल होने पर अपूर्ण संघ में उपोसथ करने की अपेक्षा उसे पूरी तरह रोक देना ही समुचित है। पुनश्च यदि कोई भिक्खु पागल हो जाता तो उसके बिना उपोसथ आरम्भ करने के पूर्व उसको 'उम्मत्तकसम्मुति' (पागल की छुट्टी) देनी पड़ती थी। समस्त सदस्यों की उपस्थिति एवं अपराधों की पारस्परिक स्वीकृति पर इतना

1. वही, 2,23।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिक बल दिया जाना बौद्ध भिक्खुओं की सामूहिक भावना का द्योतक और निस्सन्देह उसका महान् वर्धापक माना जाना चाहिए[1]।

(२) **वर्षावास**—वस्स अथवा वर्षा ऋतु में भ्रमण त्याग कर एक निश्चित स्थान पर रहने की प्रथा एक अन्य संस्था थी जो बौद्ध भिक्खुओं के मध्य सामूहिक भावना के विकास में सहायक हुई होगी। यह नियम था कि प्रति वर्ष आषाढ़ अथवा श्रावण पूर्णिमा के अगले दिन से आरम्भ कर वर्षाऋतु के तीन मासों में भिक्खुओं को एक निश्चित स्थान पर रहना पड़ता था[2]। इस काल में वे संकट की स्थिति के अतिरिक्त, जिसका विस्तृत विवरण महावग्ग में दिया गया है, अपना निवास-स्थान नहीं छोड़ सकते थे। इस प्रकार तीन मास तक अनेक भिक्खु परस्पर स्नेह तथा सद्भाव से एक साथ रहते थे। भिक्खुओं के एक समुदाय के जीवन के निम्नलिखित संक्षिप्त विवरण से हमें इसकी एक झलक मिलती है—"जो भिक्खु अपनी भिक्षा-यात्रा पूरी करके ग्राम से प्रथम वापस आता था वह आसन तैयार करता, पैर धोने के लिए जल, पादपीठ और तौलिया तैयार रखता, जूठन के बरतन को साफ कर उसे प्रस्तुत रखता और पेय (जल) और भोजन वहाँ रखता था। जो अपनी भिक्षा-यात्रा समाप्त करके ग्राम से सब के बाद लौटता था वह यदि अन्य भिक्खुओं के भोजन से कुछ बच रहता और यदि उसकी खाने की इच्छा होती तो भोजन करता था, और यदि उसकी खाने की इच्छा न होती तो वह उसे घास से रहित स्थान पर अथवा प्राणि-रहित जल में फेंक देता, पाद-प्रक्षालन के लिए जल,

---

1. यह विवरण **महावग्ग,** 2 से लिया गया है।
2. वर्ष के अवशिष्ट भाग में भिक्खु एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते रहते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पादपीठ ग्रौर तौलिया रखता, जूठन का बरतन साफ करके उसे ग्रौर पानी तथा भोजन को ग्रलग रख देता ग्रौर भोजनागार को बुहारता था, इत्यादि[1]।"

(३) **पवारणा**—वस्सावास के ग्रन्त में एकत्रित भिक्खु पवारणा कर्म करते थे, जिसमें उपस्थित प्रत्येक भिक्खु संघ को ग्रपने विरुद्ध ऐसे किसी ग्रपराध का ग्रारोप लगाने के लिए ग्रामन्त्रित करता था जिसके लिए वह उसे उत्तरदायी समझता हो—ऐसा ग्रपराध जिसे उन्होंने देखा-सुना ग्रथवा जिस पर सन्देह किया हो—जिससे वह उसका प्रायश्चित कर सकता[2] ।

(४) **कठिन कर्म**—पवारणा के तत्काल पश्चात् स्थानीय संघ के पास विद्यमान चीवर उसके सदस्यों में बाँट दिए जाते थे । यह 'कठिन कर्म' कहलाता था । 'कठिन' (ग्रक्षरार्थ 'कठोर') का ग्राशय उपासक-उपासिकाग्रों द्वारा प्रदत्त कपास की राशि से था जिससे ग्रागामी वर्ष में संघ के उपयोग के लिए चीवर बनाए जाते थे । संघ के एक ग्रौपचारिक कृत्य द्वारा एक भिक्खु को इन वस्त्रों को रंगने ग्रौर सीने का काम सौंपा जाता था । जब नवीन वस्त्र पहिनने के लिए तैयार हो जाते थे तो वह एक वस्त्र ग्रपने लिए चुन लेता था ग्रौर शेष वस्त्र वहाँ उपस्थित भिक्खुग्रों को यह निर्देश करते हुए दिखलाता था कि उसकी दृष्टि में कौन-सा वस्त्र संघ के प्रौढ़ सदस्यों के लिए उपयुक्त है ग्रौर कौन-सा युवा भिक्खुग्रों के लिए । ग्रन्त में वह संघ से ग्रपने कार्य का ग्रौपचारिक रूप से ग्रनुमोदन करने की

---

1. **महावग्ग,** 4,57 ।
2. इस कृत्य के ब्यौरे ग्रौर ग्रौपचारिकताग्रों के लिए देखिए **महावग्ग,** 4 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रार्थना करता था । इस प्रकार की अनुमति प्राप्त होने पर भिक्खु अपने-अपने चीवर ले लेते थे और कठिन कर्म समाप्त हो जाता था[1] ।

§ ८

बौद्ध संघ से भिन्न धार्मिक संघ——बौद्ध संघको, जिसका संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया गया है, प्राचीन भारत के धार्मिक नियमों का प्रतिनिधि माना जा सकता है । जैन संघ एकमात्र अन्य ऐसा धार्मिक संघ है जिसके सम्बन्ध में हमें कुछ विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है । वह भी स्पष्टत: इसी प्रकार का था[2] । अन्य संघों के सम्बन्ध में हमारी निश्चित जानकारी बहुत कम है । किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये धार्मिक संघ सदा प्राचीन भारतीय समाज के महत्वपूर्ण घटक थे । यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि बौद्ध धर्म के उदय के समय इस प्रकार के अनेक संघ विद्यमान थे । धर्मशास्त्रों और अभिलेखों से उत्तरकाल में इनका अविच्छिन्न अस्तित्व सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, ऊपर पृ० 39 पर उद्धृत याज्ञवल्क्य का श्लोक निगमों के लिए नियमोपनियमों का विधान करते हुए 'पाषण्डियों' अथवा ब्राह्मणेतर धार्मिक सम्प्रदायों का निर्देश करता है । नारद-संहिता के निम्नलिखित श्लोकों में भी पाषण्डि निगमों का स्पष्ट निर्देश मिलता हैं :

> "पाषण्डिनैगमादीनां स्थिति: समय उच्यते ।
> समयस्यानपाकर्म्म तद् विवादपदं स्मृतम् ।।
> पाषण्डिनैगमश्रेणीपूगव्रातगणदिषु ।
> संरक्षेत् प्रथमं राजा दुर्गे जानपदे तथा ।।" (10,1–2)

---

1. सै० बु० ई०, जिल्द 17, पृ० 148–152 और पादटिप्पणियाँ ।
2. स्थानाभाव के कारण जैन संघ का विस्तृत विवरण देना सम्भव नहीं है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी के एक अभिलेख में चरकों के पर्षद को एक दान दिए जाने का उल्लेख है[1]। चरक सम्भवतः ब्राह्मणधर्मानुयायी संन्यासियों का एक विशिष्ट वर्ग था। एक अन्य अभिलेख अपराजितों के पवित्र संघ को दिए गए दान का उल्लेख करता है[2]।

हिन्दू भारत के अर्वाचीनतम काल तक उनका अविच्छिन्न अस्तित्व—हिन्दू काल के परवर्ती भाग में दक्षिण भारत में धार्मिक संघ, विशेष रूप से विविध वैष्णव और शाक्त सम्प्रदायों के संघ, बहुत समृद्ध हुए। दक्षिण भारतीय अभिलेखों में मन्दिरों का निर्देश बहुधा मिलता है। इन निर्देशों से इसमें सन्देह नहीं रहता कि न्यूनाधिक निश्चित स्वरूप के ये धार्मिक संघ मन्दिरों से सम्बद्ध थे। कुछ अंश तक वे प्राचीन बौद्ध विहारों से समानता रखते थे, किन्तु उनका सामूहिक संगठन उस उच्च स्थिति को कभी प्राप्त नहीं कर सका। प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए इन संस्थाओं का विस्तृत विवरण आवश्यक नहीं है, चाहे भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए वह कितना ही रोचक एवं उपयोगी क्यों न सिद्ध हो। उत्तरभारत की इस प्रकार की संस्थाओं पर भी यही बात लागू होती है।

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 8, पृ० 79। अशोक और दशरथ के दानपरक लेख भी देखिए।
2. ल्यूडर्स की **सूची**, सं० 1163।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ५

सामाजिक जीवन में संघटक प्रवृत्तियाँ

§ १

वर्णव्यवस्था––सामाजिक जीवन की संघटक प्रवृत्ति का मूर्तरूप––प्राचीन भारतीयों की सामूहिक गतिविधियाँ उनके सामाजिक जीवन में विशेष रूप से अभिव्यक्त हुई थीं और वे पूर्णता की उस सीमा पर पहुँच चुकी थीं जो विश्व में अन्यत्र अज्ञात हैं। वर्ण और जाति नामों से प्रसिद्ध यह संस्था उन गतिविधियों का मूर्त्त रूप है तथा अपने उच्चतम विकसित रूप में यह इतिहास को ज्ञात सामाजिक संघ का सर्वोत्तम रूप प्रस्तुत करती है। यहाँ मेरा उद्देश्य वर्णव्यवस्था के उद्भव और विकास के जटिल प्रश्न का विस्तृत विवेचन करने का नहीं है, क्योंकि यह एक व्यापक विषय है और इसके स्वतन्त्र विवेचन की आवश्यकता है। मुझे अपने आपको उन मूलभूत विशेषताओं तक सीमित रखना चाहिए जिनके कारण संघटन (corporation) शब्द प्रयोज्य है तथा इस संस्था के संघटक स्वरूप को अधिक स्पष्ट रूप से सामने लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

वर्णव्यवस्था का उद्भव और प्राचीनता–––हम भारतीय इतिहास के प्राचीनतम ज्ञात-काल–ऋग्वैदिक युग–से आरम्भ कर सकते हैं। जातिव्यवस्था उस काल के लोगों को ज्ञात थी या नहीं, इस विषय पर गम्भीर मतभेद है। आफ्रेख्ट, बेन्फी, मैक्समूलर, म्यूर, रॉथ, वेबर और ज़िमर के मतानुसार उत्तरकालीन ब्राह्मण सामाजिक संगठन वैदिक काल में ज्ञात नहीं था। सेना, मैक्डोनल, वॉन् श्रोडर तथा केगी इस मत का समर्थन करते हैं। दूसरी ओर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हॉग, कर्न और ल्युडविग इस मत का विरोध करते हैं तथा ओल्डेनवर्ग और गेल्डनर भी उनका समर्थन करते हैं ।[1] इन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत तर्कों का विस्तार से विचार करना निरर्थक है, किन्तु हम उस सीमा तक तथ्यों का परीक्षण कर सकते हैं जहाँ तक उक्त विद्वानों ने उन्हें स्पष्ट किया है ।

ऋग्वैदिक काल में वर्ण–व्यवस्था अज्ञात थी—सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त ही ऋग्वेद का एक ऐसा अंश है जिसमें चार वर्गों में समाज के विभाजन का उल्लेख है । किन्तु यह सूक्त निश्चित रूप से उत्तर-कालीन है और परिणामस्वरूप प्राचीनतम काल के लिए प्रमाण नहीं माना जा सकता । किन्तु इस बात पर विश्वास करने के लिए समुचित आधार उपलब्ध है कि प्राचीनतम भारतीय आर्यों (Indo-Aryans) को चार वर्ग अज्ञात नहीं थे । प्राचीनतम ईरानी समाज चार वर्गों (पिष्त्र) में विभक्त था जो पुरुषसूक्त में वर्णित वर्गों से काफी समानता रखते थे । इस प्रकार अथ्रव (पुरोहित), रथएस्थ (योद्धा), वास्त्रिय शौयन्त् (Vastriyas Fshouyauts, कुल के प्रमुख) तथा हुइति (Huitis, श्रमिक) क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्गों के सदृश थे[2] । ल्युड्विग का यह तर्क कुछ सबल जान पड़ता है कि चूँकि ऋग्वेद में वर्णित धार्मिक विचार उस काल तक जा पहुँचते हैं जब ईरानी और आर्य लोग साथ-साथ रहते थे, अतः हमें सामाजिक विचारों को भी उसी काल का प्रतिनिधि मानने का अधिकार

---

1. इन मतों के सारांश के लिए देखिए ज़िमर **A. L.** पृ० 186 और **वैदिक इंडेक्स**, जिल्द 2, पृ० 247 और आगे ।
2. ल्युड्विग **ऋग्वेद**, जिल्द 3, पृ० 243–44 सेना **कस्ट** पृ० 140 और आगे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है । और यदि हम ऋग्वेद-काल में इस प्रकार के वर्गभेद का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते तो हमें यह कल्पना करनी पड़ेगी कि आर्यों के समाज में मूलतः ये भेद थे, आगे चलकर ये लुप्त हो गए और कुछ परवर्ती काल में पुनः इनका निर्माण किया गया[1] ।

ऋग्वेद का वर्गभेद जातिभेद से भिन्न है—इस प्रकार यह स्वीकार किया जा सकता है कि पुरुषसूक्त में प्रतिबिम्बित चार वर्गों में समाज का विभाजन ऋग्वैदिक काल में ज्ञात था । किन्तु यह मानने के लिए कोई भी आधार नहीं है कि ये चार वर्ग किसी भी रूप में चार वर्णों के सदृश थे । सभ्यता की उन्नत स्थिति में प्रत्येक राष्ट्र का चार (अथवा अधिक) वर्गों में भेद किया जा सकता है । उदाहरणार्थ, इंग्लिश राष्ट्र पादरियों, कुलीन, मध्यवर्ग एवं श्रमिकों में विभक्त किया जा सकता है । यह मानने के लिए कोई आधार नहीं है कि ऋग्वैदिक काल में मोटे तौर पर चार वर्गों में राष्ट्र का विभाजन इंग्लैंड में प्रचलित वर्गभेद की अपेक्षा अधिक कठोर था । इंग्लैंड के आनुवंशिक कुलीन (nobles) ऋग्वेदकाल के न्यूनाधिक आनुवंशिक पुरोहित वर्ग के योग्य प्रतिरूप माने जा सकते हैं । यह तर्क किया जा सकता है कि जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, परवर्ती साहित्य इन वर्गों को कठोर वर्णों के रूप में चित्रित करता है तथा विरोधी प्रमाणों के अभाव में ऋग्वैदिक काल के सम्बन्ध में भी हम इसी बात को सत्य मान सकते हैं । इस मत की तर्कहीनता के अतिरिक्त ईरानी समाज का उदाहरण स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि उपर्युक्त वर्गभेद किसी प्रकार के जातिभेद के

1. **ऋग्वेद,** जिल्द 3, पृ० 244 । किन्तु ल्युड्विग द्वारा कल्पित classen-unterschiede die anf der geburt beruhten का कोई प्रश्न नहीं है । मिलाओ सेना, **कास्ट,** पृ० 142; Spiegel, Eran Altarthumste, पृ० 551 और आगे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्योतक नहीं हैं, और अधिक महत्व की बात यह है कि वे अनिवार्य रूप से जातिभेद की ओर ले भी नहीं जाते ।

अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि इन वर्गों में संघटनों की विशेषताएँ थीं या नहीं और यदि थीं तो किस सीमा तक । हम संघटन शब्द का व्यवहार उसी दशा में कर सकते हैं जब जनता के एक वर्ग को पारस्परिक सम्बन्ध में आबद्ध करनेवाली कोई कड़ी विद्यमान हो, भले ही यह कड़ी व्यवसाय की हो, या सामाजिक स्थिति की या अन्य किसी प्रकार की हो । इसका कोई प्रमाण नहीं है कि ऋग्वेद के सूक्तों से जिन चार वर्गों के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है वे कभी भी एक व्यावसायिक वर्ग अथवा सामाजिक इकाई के रूप में संगठित रहे हों । हाँ, ब्राह्मणों और शूद्रों के विषय में कुछ सन्देह अवश्य किया जा सकता है । यह कहा जा सकता है कि पौरोहित्य पहले ही एक व्यवसाय के रूप में परिणत हो चुका था[1] और शूद्रों अथवा दासों का अपना एक विशिष्ट जातीय वर्ग था । किन्तु जहाँ तक पौरोहित्य का सम्बन्ध है, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि इस व्यवसाय पर जनता के किसी विशिष्ट एवं निश्चित वर्ग का एकाधिकार था, अथवा जिन लोगों ने इस व्यवसाय को स्वीकार किया था उनका कोई सुसंगठित सामाजिक वर्ग था (या थे) । अब शूद्रों अथवा दासों को लीजिए । यद्यपि वे जातीय दृष्टि से आर्यों से भिन्न थे तथापि यह मानने का कोई आधार नहीं है कि वे समान जाति के थे । उनमें विविध आदिम जातियों का समावेश था, जिनके साथ आर्यों को अपनी भारतीय बस्तियों में युद्ध करना पड़ा था । अतः मोटे तौर पर यह माना जा सकता है कि यद्यपि पूर्ववैदिक काल में आर्यों के मध्य अनेक वर्ग थे तथापि वर्ण या जाति का कोई प्रश्न नहीं

1. म्यूर, संस्कृत टेक्सट्स, जिल्द 1, पृ० 259 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था[1] ।

§ २

उत्तरवैदिक काल में वर्ण--व्यवस्था—अब हम उत्तरवैदिक काल के सम्बन्ध में विचार करेंगे । वेबर ने इन आधारभूत ग्रन्थों में वर्ण अथवा जाति के विषय में उपलब्ध सामग्री का विशेष अध्ययन किया है । उनके मत में इस काल में वर्णव्यवस्था पूर्णत: विकसित हो चुकी थी तथा इस युग में हमें उस व्यवस्था के दर्शन होते हैं जिसे परवर्ती काल में मनुसंहिता में एक आदर्श का रूप दिया गया था। किन्तु साथ ही उन्हें यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस व्यवस्था में कहीं-कहीं कुछ ढिलाई दिखाई देती है[2]। किन्तु यह बात अब साधारणत: मान ली गई है कि वर्णव्यवस्था के विकास के सम्बन्ध में वेबर का उक्त मत भ्रान्तिमूलक है[3] । इस प्रश्न के विस्तार में न जाते हुए हम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार कर यह जानने का प्रयास करेंगे कि उनमें संघटक स्वरूप की विशेषताएँ किस सीमा तक विद्यमान थीं ।

ब्राह्मण—

ब्राह्मण के अधिकार और कर्तव्य—ब्राह्मण का अभिमान निस्सन्देह अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था । कौषीतकी में वे देव और देवदेव कहे गए हैं (पृ० 35) [4]। यहाँ तक कि वे ब्रह्म

1. सेना, **कास्ट्स**, पृ० 149 और आगे ।
2. **इण्डिश स्टडिएन**, जिल्द 10, पृ० 2 ।
3. हॉप्किन्स, **कास्ट**, पृ० 2,108 ।
4. पृष्ठ संख्या **इण्डिश स्टडिएन**, जिल्द 10 की है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से अभिन्न माने गए हैं (पृ० 37) । केवल वे ही यज्ञ में अर्पित वस्तुओं को ले सकते हैं । उन्हें निम्ननिर्दिष्ट चार विशेषाधिकारों पर स्वत्व जताने का अधिकार था--(1) अर्चा (आदर), (2) दान, (3) अज्येयता (दमन से मुक्ति) और (4) अवध्यता । उनके निम्नांकित चार कर्तव्य भी हैं--(1) ब्राह्मण्य (रक्त की शुद्धि), (2) प्रतिरूपचर्या (जीवन का समुचित प्रकार), (3) यश: (वेद आदि के अध्ययन से कीर्ति का अर्जन करना) और (4) लोकपंक्ति (अध्यापक, ऋत्विज तथा पुरोहित के नाते लोगों का बौद्धिक एवं धार्मिक प्रशिक्षण)[1]। ये अधिकार और कर्त्तव्य सामुदायिक रूप में जनता के किसी अन्य वर्ग को प्राप्त नहीं थे । इस कारण ब्राह्मणों को निश्चित रूप से एक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग मानना चाहिए । इसके अतिरिक्त ब्राह्मण के आचरण के निर्देशन के लिए विशेष नियमोपनियम भी विहित थे । यथा--

(1) उसको शस्त्र धारण नहीं करना चाहिए (पृ० 96 कौषीतकी, 93,104) ।

(2) उसे अशिष्ट भाषा में नहीं बोलना चाहिए (पृ० 97)[2]।

(3) उसे अपने पुत्र को एक विशिष्ट आयु में उपनीत करना चाहिए (पृ० 101) ।

(4) भोजन के सम्बन्ध में विहित नियमों का उसे पालन करना चाहिए ।

(5) उसको ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए (पृ० 102) ।

---

1. **इण्डिश स्टडिएन,** 10, पृ० 41 । उपर्युक्त विशेषाधिकारों एवं कर्त्तव्यों में से प्रत्येक के विस्तृत विवरण के लिए देखिए **वही,** पृ० 41–160 ।

2. **शतपथ ब्राह्मण,** 3,2,1,24 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन नियमों के व्यतिक्रमण के दण्ड के रूप में प्रायश्चित्त विहित थे, और कभी-कभी इसका परिणाम होता था ब्राह्मण वर्ग से निष्कासन। किन्तु जातिहीन मनुष्य कुछ प्रायश्चित्तों का अनुष्ठान करके अपने समाज में पुनः प्रवेश प्राप्त कर सकता था (पृ० 102)।

ब्राह्मण संघटन का प्रारम्भ—इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट है कि ब्राह्मणों में संघटक विशेषताएँ पहले से ही विद्यमान थीं। अब हमें इस संघटन के स्वरूप पर विचार करना चाहिए।

पहली बात जो किसी भी व्यक्ति को स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है यह है कि संघटन निर्माण की प्रक्रिया में से होकर गुजर रहा है, और उसे अधिकाधिक पूर्ण बनाने की दिशा में चेतन प्रयत्न स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में जो प्रथम प्रश्न उठता है वह है—इस संघटन का आधार क्या है? जनता का वह वर्ग जो ब्राह्मण कहलाता था जन्म के सम्बन्ध से परस्पर आबद्ध नहीं था। यह सिद्ध करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं है कि परवर्ती काल के समान ब्राह्मण के पुत्र को छोड़ कर कोई व्यक्ति इस वर्ग में सम्मिलित नहीं हो सकता था।

ये नियम निस्सन्देह विहित थे कि ऐसे किसी व्यक्ति को ऋत्विज का कार्य नहीं करना चाहिए जो ऋषियों की तीन (कौषीतकी सूत्र के अनुसार) अथवा दस (लाट्यायन सूत्र के अनुसार) पीढ़ियों से अपना उद्‌भव सिद्ध करने में असमर्थ हो (पृ 70)। किन्तु इन्हीं नियमों से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्राह्मण-कुल का अविच्छिन्न क्रम अभी तक केवल एक आदर्श था, यथार्थता नहीं। साथ ही यह दृढ़तर नैगमिक संगठन की दिशा में, जिसकी चर्चा ऊपर हम कर चुके हैं, एक चेतन प्रयत्न को स्पष्ट करता है।

किन्तु अपनी मान्यता की स्थापना के लिए हम केवल निषेधात्मक प्रमाणों पर ही आश्रित नहीं हैं। प्रामाणिक प्राचीन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रन्थ पुनः-पुनः उद्घोषित करते हैं कि कोई व्यक्ति ज्ञान से ब्राह्मण बनता है, जन्म से नहीं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण, (2, 6, 2, 10) से हमें ज्ञात होता है कि जनक याज्ञवल्क्य की शिक्षाओं से ब्राह्मण हो गए थे। तैत्तरीय संहिता (6,6,1,4) उद्घोषित करती है: "एष वै ब्राह्मण ऋषिरार्षेयो यः शुश्रुवन्" अर्थात् "जो बहुश्रुत है वही ब्राह्मण ऋषि है"। काठक (30, 1) एवं मैत्रायणीय संहिता (48,1; 107,9) में भी कहा गया है:

"किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम्।
श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यम् स पिता स पितामहः।।"

संघटन ज्ञान पर आधारित था, जन्म पर नहीं—"ब्राह्मण के पिता के विषय में क्या पूछते हो, ब्राह्मण की माता के विषय में क्या पूछते हो? क्योंकि जो वेद का ज्ञाता है वही पिता है, वही पितामह है।" इन एवं अन्य समान वचनों से सूचित होता है कि किसी व्यक्ति को ब्राह्मण के रूप में मान्यता प्रदान करने के लिए ज्ञान प्रमुख योग्यता मानी जाती थी तथा वंशपरम्परा का स्थान इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं था[1]।

और यदि ब्राह्मणत्व मुख्यतः वैदिक पूजा के लिए अपेक्षित ज्ञान और विद्या पर निर्भर था, तो उसे प्राप्त करने का कोई निश्चित उपाय अवश्य रहा होगा। सौभाग्यवश यह उपाय कौषीतकी, 55 में दिया गया है जिससे विदित होता है कि आचार्य को अपने शिष्य

---

1. Und so wird denn auch sonst noch mehrfach das ueissen allein als wesentlich die abkunft uberhaupt als ganz unwesentich bezeichnet (इण्डिश स्टडिएन, पृ० 70)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को आर्षेयम् अर्थात् ब्राह्मणत्व प्रदान करने का अधिकार था,[1] स्पष्ट ही यदि वह (शिष्य) पौरोहित्य को व्यवसाय के रूप में अपनाने के लिए प्रस्तुत रहता और आचार्य के अनुसार इसके लिए आवश्यक क्षमता उसमें विद्यमान रहती। म्यूर द्वारा उद्धृत[2] ऐतरेय ब्राह्मण के एक अंश (7, 19) में इसका एक सुन्दर उदाहरण मिलता है। उसमें कहा गया है कि "क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से यज्ञ भाग खड़ा हुआ और ब्राह्मण के समीप गया, जिसके फलस्वरूप यज्ञ अब भी ब्राह्मण पर निर्भर करता है।" इस पर क्षत्रिय ने ब्राह्मण का अनुसरण किया और उससे कहा, 'मुझे (भी) इस यज्ञ में (भाग लेने के लिए) आमन्त्रित कीजिए।' ब्राह्मण ने उत्तर दिया, 'ऐसा ही हो।" तब अपने औजारों (धनुष, बाण इत्यादि) को अलग रख कर, ब्राह्मण बन कर, ब्राह्मण के रूप में ब्राह्मण के औजारों के साथ यज्ञ के निकट जाओ'। क्षत्र ने प्रत्युत्तर दिया—'ऐसा ही हो'। और वह अपने औजारों को छोड़कर ब्राह्मण बनकर ब्राह्मण के रूप में ब्राह्मण के औजारों के साथ यज्ञ के निकट गया। इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय के मध्य कोई सहज भेद नहीं था, और अपनी जीवन-पद्धति और व्यवसाय में परिवर्तन करके एक दूसरे में परिवर्तित हो सकता था। ऐतरेय ब्राह्मण (7, 231) में भी यही विचार दृष्टिगत होता है। "दीक्षा प्राप्त करता हुआ (दीक्षमाणः) वह राजा ब्राह्मणत्व में प्रविष्ट होता है।" शतपथ ब्राह्मण (3,2, 1, 39 और आगे) में भी हमें इसी विचार के दर्शन होते हैं। इन तथा अन्य वचनों के आधार पर वेबर निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचते हैं: "इस प्रकार प्रत्येक राजन्य और वैश्य यज्ञ

---

1. इस सम्बन्ध में विभिन्न ब्यौरों के लिए देखिए **इण्डिश स्टडिएन**, 10, पृ० 71–2।
2. म्यूर, **संस्कृत टेक्स्ट्स**, जिल्द 1, पृ० 368।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में दीक्षा के द्वारा यज्ञ के अन्त तक ब्राह्मण बन जाता है, और इसी शब्द से उसे सम्बोधित किया गया है" (पृ० 17)। पुनश्च, शतपथ ब्राह्मण (13, 4, 1, 3) में कहा गया है : "जो कोई यज्ञ करता है, वह मानो प्रथम ब्राह्मण बनकर ऐसा करता है।" इसी प्रकार कात्यायन अपने श्रौतसूत्र (6, 4, 12) में कहते हैं : "वैश्य और राजन्य भी ब्राह्मण शब्द से सम्बोध्य हैं।" इस पर टीकाकार ने लिखा है : "वैश्य और राजन्य के यज्ञ में भी 'यह ब्राह्मण दीक्षित हो गया है' इस वचन का उपयोग किया जाता है, यह 'राजन्य' अथवा यह 'वैश्य' दीक्षित हो गया है, इन शब्दों का नहीं[1]।"

इस प्रकार कौषीतकी, 55 का उक्त वचन निगम के आधार का एक सम्भव सूत्र प्रस्तुत करता है, जिसे ढूँढ़ निकालने के लिए हम यत्नशील रहे हैं। यह पौरोहित्य के लिए अपेक्षित ज्ञान एवं आचरण हैं और इस प्रकार उन दिनों का ब्राह्मण समाज पुरोहित की श्रेणि माना जा सकता है। जिस प्रकार एक निश्चित उपाय के द्वारा ही नवीन सदस्य किसी शिल्प-श्रेणि में प्रवेश पासकते थे, उसी प्रकार पुरोहितों की इस श्रेणि में भी कोई व्यक्ति एक गुरु के साथ प्रशिक्षण-काल की निश्चित अवधि पूर्ण करने पर ही दीक्षित हो सकता था। सूत्रकारों ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। इस प्रकार आपस्तम्ब कहते हैं : "वह (आचार्य) पवित्र ज्ञान (देकर) उसको (शिष्य को) द्वितीय जन्म प्रदान करता है" (सै० बु० ई०, जिल्द 2, पृ० 3) "यह द्वितीय जन्म श्रेष्ठ है, पिता और माता केवल शरीर को जन्म देते हैं।" (वही)। आपस्तम्ब यह भी कहते हैं कि "जिसके पिता और माता उपनीत नहीं हुए हैं (उसके दो पूर्वज) ब्रह्मघ्न कहलाते हैं। उनके साथ सम्पर्क, भोजन और अन्तर्विवाह

1. म्यूर, **संस्कृत टेक्स्ट्स**, जिल्द 1, पृ० 369 एवं पादटिप्पणी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का वर्जन करना चाहिए (वही, पृ० 5)। कोई (शिशु) तब तक किसी धार्मिक कृत्य को नहीं कर सकता जब तक वह मेखला-बन्धन नहीं करता क्योंकि वेद से अपने (नवीन) जन्म के पूर्व वह शूद्र के समान है (वही, पृ० 10)।" इस प्रकार दीक्षा, जन्म नहीं, ब्राह्मणत्व का आधार था और इसमें हमें उन जटिल विधि-विधानों का सयुक्तिक स्पष्टीकरण मिलता है जो गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध का नियमन करते थे।'

श्रेणि के साथ सादृश्य को एक पग और आगे ले जाया जा सकता है। जिस प्रकार इनमें से अनेक श्रेणियाँ (जैसे जुलाहों, नापितों, कुम्हारों और तेलियों की श्रेणियाँ) अन्ततोगत्वा 'जातियों' के रूप में विकसित हुईं, उसी प्रकार 'पुरोहितों की श्रेणि' भी 'ब्राह्मण जाति में' परिणत हो गई। हम प्राचीन काल की उन शिल्प-श्रेणियों और उनके प्रतिनिधियों को आजकल बहुसंख्यक जातियों के रूप में संगठित पाते हैं। यह कहना कि प्राचीन श्रेणियों की सदस्यता जन्म पर निर्भर थी उतना ही युक्तिसंगत है जितना प्राचीन ब्राह्मण समाज के बारे में यह विधान करना।

यह आवश्यक है कि हम अपने मन को पूर्वाग्रहों से मुक्त रखें तथा आधुनिक विचारों को प्राचीन परिस्थिति से सम्बद्ध करने के प्रयत्न से अपना बचाव करें। दृष्टिकोण में भी कुछ परिवर्तन अपेक्षित हैं। हम यह कहने के लिए अभ्यस्त हैं कि 'केवल ब्राह्मण ही ऋत्विज हो सकते थे, केवल वे ही वेदों का अध्यापन कर सकते थे। जब कि वस्तुतः हमें कहना चाहिए कि केवल वे ही ब्राह्मण थे जिन्हें वेदों का ज्ञान था और जिनमें ऋत्विज का कार्य करने की योग्यता थी। कोई व्यक्ति इसलिए ब्राह्मण था चूँकि वह वैदिक विद्वान् तथा पुरोहित था, इसके विपरीत नहीं। इसके अतिरिक्त उन दिनों के ब्राह्मण अपनी गतिविधियों को पुरोहित या ऋत्विज के कार्यों तक ही सीमित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं रखते थे । जैसा कि हम देख चुके हैं,उनमें से कुछ योद्धा भी थे और यह निश्चित है कि अनेक लोग अन्य व्यवसायों का भी अनुसरण करते थे । किन्तु शस्त्र-धारण पर कौषीतकी में जो प्रतिबन्ध हमें दृष्टिगत होता है वह सम्भवतः इस सम्बन्ध में क्रमिक प्रतिबन्ध का एक लाक्षणिक उदाहरण है । साथ ही यहाँ हम संघटन को दृढ़तर बनाने की दिशा में एक चेतन प्रयत्न पाते हैं जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है ।

संघटन अभी तक कठोर नहीं था—पुरोहितों के संघटन में अभी तक उस सामाजिक पृथकत्व का विकास नहीं हुआ था जो उनके आधुनिक वंशजों की प्रमुख विशेषता है । वे जनता के सभी वर्गों में स्वतन्त्रतापूर्वक विवाह करते थे और यहाँ तक कि शूद्र समाज से भी पत्नियाँ ग्रहण करते थे । शूद्रों के साथ विवाहसम्बन्ध वस्तुतः तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था जैसा कि गोभिल (3,2,42, इत्यादि),वत्स की कथा एवं अन्य सूत्रों से विदित होता है, किन्तु वह निषिद्ध नहीं था (पृ० 73–74) । इन सब बातों पर विचार कर वेबर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उन दिनों रक्त की उस पवित्रता के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं थे जिसको लेकर बाद के दिनों में अनेक विधि-निषेधों का निर्देश किया गया है[1] ।

इस प्रकार पुरोहितों का संघटन अशिथिल और कठोर नहीं था । वस्तुतः उसको ऐसा बनाने की दिशा में हम चेतन प्रयत्नों को क्रियाशील पाते हैं, किन्तु इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए जिन नियमों का विधान किया गया था उनका सदस्यों पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा और उनको दृढ़तापूर्वक लागू करने का प्रयास नहीं किया गया ।

---

1. **इण्डिश स्टडिएन**, जि० 10, पृ० 75 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परम्परागत कर्त्तव्यों के व्यतिक्रमरण के लिए केवल साधारण से प्रायश्चित्त करने पड़ते थे, और यद्यपि उनकी निरंतर अवहेलना के परिणामस्वरूप निगम से निष्कासन सम्भव था, तथापि अनेक दृष्टान्तों में उसमें पुन: प्रवेश के उपाय अत्यन्त सरल थे[1]।

मैंने अब तक सर्वत्र 'पुरोहितों का संघटन' अथवा 'श्रेणि' शब्द का प्रयोग किया है। सम्भवत: 'पुरोहितों के संघटन, अथवा श्रेणियाँ' कहना सत्य के अधिक निकट होगा; क्योंकि हम पूरी तरह यह विश्वास नहीं कर सकते कि देश के विभिन्न भागों के ब्राह्मणों का एक ही संघटन था। यद्यपि उनके लक्ष्यों, कार्यों और जीवन-पद्धति में कुछ साधारण समानता अवश्य रही होगी तथापि अपेक्षाकृत संश्लिष्ट संगठन में केवल सीमित भाग का समावेश सम्भव था। वस्तुत: इस काल में हम ब्राह्मणों की विभिन्न शाखाओं की चर्चा सुनते हैं, यथा—यजुर्वेदी, माध्यन्दिन, मैत्रायणी, ऋग्वेदी, आपस्तम्ब, हिरण्य-केशी, इत्यादि। वस्तुत: इन नामों से सूचित होता है कि भेदकारी तत्व उन वैदिक विद्वानों से सम्बद्ध थे जिन पर उनका विश्वास था, और एक तरह से यह इन संघटनों के आधार के सम्बन्ध में मेरे इस उपर्युक्त मत का समर्थन करता है कि यह आधार जन्म नहीं, प्रत्युत पुरोहित के लिए आवश्यक ज्ञान है। शाखा और चरण के अनुसार ब्राह्मणों का विभाजन भी हमें इसी निष्कर्ष की ओर ले जाता है।

क्षत्रिय—वेबर द्वारा Ver haltniss der beiden ober sten kasten (इण्डिश स्टडिएन, जिल्द 10, पृ० 26-35) शीर्षक के अन्तर्गत उद्धृत वचनों के अनुशीलन से इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि

---

1. वही, पृ० 102।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षत्रियों का भी अपना एक वर्ग था। ब्राह्मणों के साथ तथा अन्य सब वर्गों से अलग बहुधा उनका उल्लेख एक विशेषधिकार प्राप्त वर्ग के रूप में किया गया है। वे निस्सन्देह कुलीन वर्ग के प्रतिनिधि तथा प्राचीन जातीय प्रमुखों के वंशज थे। किन्तु यह अनुमान करना निराधार होगा कि उनके वर्ग का द्वार संवृत था, अथवा उनमें किसी प्रकार का सामाजिक पार्थक्य था। इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक स्थिति के बन्धनों ने उनको संघटित स्वरूप प्रदान किया था, किन्तु ब्राह्मणों के निगम के समान उनका निगम भी अभी तक कठोर नहीं था। वे ब्राह्मणों के साथ-साथ विकसित होते रहे, और जैसा कि हम देखेंगे, सुदीर्घ काल तक उनके और ब्राह्मणों के मध्य समाज में सर्वोच्च स्थान की प्राप्ति के लिए संघर्ष चलता रहा। चूँकि इन दोनों वर्गों का विकास प्रायः समानान्तर रेखाओं पर हुआ अतः क्षत्रियों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से विस्तृत विवेचन करना आवश्यक नहीं है।

वैश्य—वैश्य उस विशाल जन-समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसके मध्य से उपरिलिखित दो उच्चतर वर्गों का चयन किया जाता था[1]। उनके और दो उच्चतर वर्गों के भेदों को व्यक्त करने के लिए अनेक नियमों का निर्देश किया गया है। उदाहरण के रूप में उनमें कुछ को उद्धृत किया जा सकता है—

(1) यज्ञीय स्थान में ब्राह्मण 'एहि' शब्द से सम्बोधित किया जाता है और वैश्य तथा क्षत्रिय **क्रमशः** 'आगहि' तथा 'आद्रव' शब्दों से (शतपथ ब्राह्मण, 1,1,4,12)।

---

1. तुलनीय—**शपपथ ब्राह्मण,** 2,2,7,16; 12,7,3,8 ओल्डेनवर्ग **Z D M G** जिल्द 51, पृ० 280, सेना, **कास्ट्स,**, पृ० 153, फिक, पृ० 163।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) ब्राह्मण तीन स्त्रियों से विवाह कर सकता है, क्षत्रिय दो से और वैश्य केवल एक से (पृ० 21)।

(3) ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए विद्यार्थी-जीवन आरम्भ करने की आयु क्रमशः 8, 11, और 12 वर्ष है (वही)।

(4) ब्राह्मण की सावित्री गायत्री है, क्षत्रिय की त्रिष्टुभ्, और वैश्य की जगती (पृ० 22)।

(5) ब्राह्मण का उपनयन संस्कार वसन्त ऋतु में होता है, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का शरद् में (पृ० 22)।

(6) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी भिक्षा माँगते समय भवत् शब्द का प्रयोग क्रमशः वाक्य के आरम्भ, मध्य और अन्त में करते हैं (पृ० 22)।

(7) ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के गृह-निर्माण के लिए क्रमशः सफेद, लाल और पीले रंग की भूमि विहित है।

(8) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उत्तरीय, मेखला और दण्ड के लिए भिन्न-भिन्न उपकरणों का विधान किया गया है।

इन तथा इनके सदृश अन्य परिच्छेदक विशेषताओं की व्यावहारिक यथार्थता उससे अधिक नहीं थी जितनी इस कल्पना की कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः सफेद, लाल और पीले रंग के हैं (अन्य लेखकों के अनुसार वैश्य और क्षत्रिय क्रमशः सफेद और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काले थे)[1] (पृ० 10)। वे निस्संशय तीन वर्गों के बीच भेद की दीवारें खड़ी करने के, ब्राह्मण लेखकों के, प्रयत्न के द्योतक हैं। किन्तु साथ ही वे यह भी स्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं कि विद्यमान भेद अधिक प्रबल नहीं थे।

यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से और निस्संदेह काफी हद तक व्यावहारिक रूप से भी वैश्यों का ब्राह्मणों और क्षत्रियों से भेद किया गया है, तथापि यह सोचना निराधार है कि वे कभी भी एक समान-जातीय समुदाय के रूप में संगठित थे। उनके घटक अङ्गों की संख्या इतनी बड़ी थी तथा उनकी प्रकृति में इतना वैविध्य था कि उनके संघटक स्वरूप का निर्वाह करना असम्भव था और यद्यपि शूद्रों से वे जन्म के द्वारा भिन्न थे, तथापि वे जनता के विभिन्न व्यवसायों और जीवन के विभिन्न नियमों का अनुसरण करने वाले विभिन्न वर्गों के विजातीय समुदाय बने रहे। उत्तरकाल में ही इन वर्गों ने अपने संघटित स्वरूप का विकास किया। इस पर आगे विचार किया जाएगा।

शूद्र--गत काल के आर्य और दास के मध्य विरोध का स्थान विचाराधीन काल में आर्य और शूद्र के विरोध ने ले लिया (पारस्परिक विरोध को स्पष्ट करने वाले वचनों तथा आर्य और शूद्र

---

1. इस बात को अन्तिम रूप से सिद्ध करने के लिए (यदि प्रमाण आवश्यक हों तो) आपस्तम्ब के निम्ननिर्दिष्ट सूत्रों का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के व्यवहार के लिए उपयुक्त द्रव्यों के निर्देश के पश्चात् वे कहते हैं--"कुछ लोग बिना वर्ण का उल्लेख किए घोषित करते हैं कि ब्रह्मचारी का दण्ड (ऐसे) वृक्ष की लकड़ी से बनाना चाहिए (जो यज्ञ के काम में आती है)" (सै० बु० ई०, जिल्द 2, पृ० 9)। पुनः "मेष-चर्म सभी वर्णों द्वारा धारण करने योग्य है" (वही, पृ० 10)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के मध्य लाक्षणिक संघर्ष के विवरण के लिए देखिए——इण्डिश स्टडिएन, जिल्द 10, पृ० 5 और आगे) । दोनों के बीच भेद की बातों पर बल देने का स्पष्ट प्रयत्न किया गया है । यह दावा किया गया है कि शूद्रों को पवित्र अग्नि के निकट जाने (अर्थात् यज्ञ करने) अथवा पवित्र साहित्य (वेद) के पठन का अधिकार नहीं है (पृ० 11) । किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में कुछ ऐसे वचन हैं जो जो इन अधिकारों को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करते हैं (पृ० 12) । टीकाकार के अनुसार इन वचनों में शूद्र शब्द से रथकार समझना चाहिए । जैसा कि वेबर ने लिखा है, शूद्र शब्द की यह सीमित अर्थ-व्यक्ति केवल आनुषङ्गिक रूप से उद्भूत है तथा उस चेतन प्रयत्न की द्योतक है जिसकी ओर मैंने अभी-अभी संकेत किया है । साथ ही शूद्रों को मृतक शरीर के दाह संस्कार का निषेध किया गया है । किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में क्रमशः ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की समाधियों की नापों का निर्देश है । टीकाकार न केवल इसे उक्त तर्क (अर्थात् यहाँ शूद्र का आशय रथकार से है) के द्वारा उड़ा देना चाहते हैं, प्रत्युत उनमें से कुछ तो एक पग आगे बढ़कर साहसपूर्वक प्रतिपादित करते हैं कि शूद्र की समाधि की नाप यहाँ नाम-मात्र के लिए दी गई——'परिमाण प्रसङ्गात्' । इस तथ्य की चर्चा मैं पहिले ही कर चुका हूँ कि शूद्रों के साथ विवाह-सम्बन्ध क्रमशः तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा था ।

ये तथ्य एक ओर आर्यों, जिनमें ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का समावेश था, और दूसरी ओर शूद्रों के मध्य बढ़ती हुई दरार की ओर संकेत करते हैं । किन्तु समस्त आर्य समाज का संघटित स्वरूप के प्रति दावा उतना ही तुच्छ था जितना कि शूद्र शब्द से अभिज्ञात जनता के मिश्रित समुदाय का ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

§ ३

परवर्ती काल में ब्राह्मणों और शूद्रों के भेद पर क्रमशः बल दिया गया––किन्तु आर्यों और शूद्रों के मध्य सामाजिक भेद की दीवारें आने वाली शताब्दियो में क्रमशः बढ़ती गई। सर्वप्रथम भोजन को ही लिया जा सकता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि 'प्रथम तीन वर्णों के सदस्यों के निर्देशन में शूद्र (विश्वदेव कृत्य में उपयुक्त गृहस्थ का) अन्न तैयार कर सकते हैं[1]'। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह अन्न देवताओं के लिए उपयुक्त है तथा कुल के स्वामी और स्वामिनी, पति-पत्नी 'इस अन्न को खाते थे'। इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि ऐसा भी एक समय था जब ब्राह्मण शूद्र द्वारा दिया हुआ भोजन स्वतन्त्रता पूर्वक स्वीकार करते थे। किन्तु साथ ही उक्त ग्रन्थ में हमें निम्नलिखित निर्देश भी मिलते हैं––कुछ (आचार्यों) के अनुसार शूद्रों को छोड़कर अन्य किसी भी वर्ण के स्वधर्म का पालन करने वाले (लोगों द्वारा दिया हुआ अन्न) खाया जा सकता है[2]। किन्तु गौतम 17[3] में, जिसके अनुसार जीवन धारण के अन्य उपायों के किसी प्रकार (उपलब्ध न होने पर) (वे) शूद्र से (स्वीकार किएं जा सकते हैं), हमें प्राचीन प्रथा का अवशेष दिखाई देता है। ये विधि-निषेध उन क्रमिक डगों को स्पष्ट करते हैं जिनके द्वारा ब्राह्मणों और शूद्रों के मध्य भेद की घनी रेखा खींची गई थी। पहले जिस बात की पूर्णतः और स्वतन्त्रता पूर्वक आज्ञा थी, उसे अब केवल आपत्काल में ही स्वीकार किया गया है। इस पर पूर्ण प्रतिबन्ध

1. **सै० बु० ई०**, जिल्द 2, पृ० 104।
2. **वही**, समान निर्देशों के लिए द्रष्टव्य **मनु** 4, 211; **वसिष्ठ** 14।4, **विष्णु**, 41, 13–14।
3. **वही**, पृ० 265।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लगाने की साधारण प्रवृत्ति स्पष्ट है। शनैः-शनैः स्पर्शजन्य अशुद्धि के सिद्धान्त ने भी जोर पकड़ा। इस प्रकार आपस्तम्ब कहते हैं- "यदि उसके (ब्राह्मण के) भोजन करते समय शूद्र उसका स्पर्श करता है (तो वह खाना छोड़ देगा)[1]।" "अशुद्ध शूद्र के द्वारा लाई गई (भले ही उसने उसका स्पर्श किया हो या नहीं) वस्तु को नहीं खाना चाहिए[2]।" गौतमधर्मसूत्र में भी यह निर्देश किया गया है कि स्नातक शूद्र के दिए जल का आचमन नहीं करेगा।[3]

अब हम विवाह के सम्बन्ध में विचार करेंगे। (हम ऊपर कह आए हैं कि इस प्रकार का विवाह स्पष्टतः निषिद्ध था, किन्तु साधारणतः तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। किन्तु कालक्रम से उसके साथ प्रत्यक्ष हीनताएँ जोड़ दी गईं)। गौतम के अनुसार, जिसकी एकमात्र पत्नी शूद्र स्त्री हो उसे श्राद्ध के अवसर पर भोजन नहीं कराना चाहिए[4]। इसी आचार्य के अनुसार, अन्य पुत्र के बिना मृत ब्राह्मण की (सम्पत्ति में से) शूद्रा पत्नी से उत्पन्न पुत्र को वृत्तिमात्र मिलनी चाहिए। अन्ततोगत्वा इस प्रकार का विवाह पूर्णतः निषिद्ध कर दिया गया। वसिष्ठ कहते हैं—

"कुछ (आचार्य) कहते हैं (कि द्विज पुरुष) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पत्नियों के समान शूद्र वर्ण की स्त्री के साथ भी वैदिक मन्त्रों के (उच्चारण के) बिना विवाह कर सकते हैं। (किन्तु) उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार के (विवाह के) परिणाम-स्वरूप कुल का पतन और मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग का अलाभ निश्चित

---

1. वही, पृ० 61।
2. वही, पृ० 60।
3. वही, पृ० 220।
4. गौतम, 15,19; सै० बु० ई०, जिल्द 2, पृ० 258।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है[1] ।"

मनु भी उसी कठोर स्वर में कहते हैं—"(घोरतम) आपत्ति के होने पर भी ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय की शूद्र पत्नी[2] का उल्लेख किसी (प्राचीन) वृत्तान्त में नहीं मिलता। जो द्विजाति मोहवश हीन (शूद्र) जाति की स्त्री से विवाह करते हैं वे अपने कुलों और सन्तानों को शूद्रत्व को प्राप्त करा देते हैं।

"अत्रि और उतथ्य के पुत्र (गौतम) के अनुसार शूद्र स्त्री से विवाह करने वाला अपनी जाति से गिर जाता है, शौनक के अनुसार पुत्रोत्पत्ति होने पर और भृगु के अनुसार जो उससे (शूद्र स्त्री से)[3] पुत्र प्राप्त करता है वह पतित होता है। जो ब्राह्मण शूद्र स्त्री के साथ शयन करता है वह (मृत्यु के पश्चात्) नरक को जाता है और जो उससे पुत्र उत्पन्न करता है वह ब्राह्मणत्व से वंचित हो जाता है। पितर और देव उस पुरुष के (कव्य और हव्य को) नहीं खाते जो देवों, पितरों और अतिथियों से सम्बद्ध कृत्यों को मुख्य रूप से (शूद्र पत्नी की) सहायता से करता है, और वह स्वर्ग को नहीं जाता। जो शूद्र स्त्री के फेन (अधर-रस) को पीता है, जो उसके श्वास से भ्रष्ट हो चुका है और जो उससे सन्तान उत्पन्न करता है उसके लिए कोई भी प्रायश्चित्त विहित नहीं है[4]।"

इस प्रकार ब्राह्मणों ने अपने और शूद्रों के मध्य

---

1. सै० बु० ई०, जिल्द 14, पृ० 5–6।
2. अंग्रेजी अनुवादक ने इस शब्द के पूर्व कोष्ठक में 'प्रथम' शब्द जोड़ दिया है, किन्तु मूल में इसके लिए कोई आधार नहीं है।
3. अनुवादक ने 'केवल' शब्द जोड़ दिया है, किन्तु इसका मूल में कोई आधार नहीं है।
4. मनु, 3,14–19 अंग्रेजी अनुवाद के लिए देखिए सै० बु० ई० जिल्द 25, पृ० 78–79।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुल्लंघनीय दीवारें खड़ी कर दीं। शूद्रों के साथ विवाह और उनके द्वारा तैयार किया गया अन्न समान रूप से निषिद्ध कर दिए गए। यहाँ तक कि उनका स्पर्श भी अपवित्र माना जाने लगा। सामाजिक पार्थक्य, जिसके समक्ष ब्राह्मणों ने आत्मसमर्पण कर दिया, उन्हें और भी आगे ले गया। वे भेद की दीवारों को उस समय तक आगे ही आगे बढ़ाते गए जब तक उन्होंने अपने आपको उस कठोर संघटन में परिणत न कर लिया, जिसे अब हम अपनी आँखों के सामने देखते हैं। अलगाव के उन सिद्धान्तों को, जिनके फलस्वरूप वे शूद्रों से पूर्णतः पृथक् हो गए थे, उन्होंने क्रमशः जनता के अन्य वर्गों (क्षत्रिय और वैश्य) पर भी लागू किया। यह प्रक्रिया उस समय तक चलती रही जब तक ब्राह्मण स्वयं को मनुष्यों का एक अद्वितीय प्रकार न मानने लगे। और अन्त में उन्होंने यह साहसपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि जन्म ही किसी को ब्राह्मण बनाता है तथा अन्य किसी वर्ण के लोगों को ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं हो सकता। अतः आगे हम इस महत्वपूर्ण तथ्य पर विचार करेंगे जिसके कारण ब्राह्मणों को अपने प्रयत्नों में अपूर्व सफलता मिली।

§ ४

ब्राह्मणों के दम्भ में क्रमिक वृद्धिः जन्म संघटनों का आधार बन गया—जन्म से ही कोई ब्राह्मण होता है, इस सिद्धान्त का विकास शनैः-शनैः हुआ। वेदों अथवा ब्राह्मणों में ऐसे किसी सिद्धान्त का चिह्न नहीं है, और, जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, कतिपय ग्रन्थ स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करते हैं कि ब्राह्मणत्व का निर्णायक तत्व वस्तुतः ज्ञान था, जन्म नहीं। इस सम्बन्ध में विचारों में किस प्रकार परिवर्तन हुआ इसे मतङ्ग की कहानी के साथ विश्वामित्र और जनक की कहानियों की तुलना करके भलीभांति स्पष्ट किया जा सकता है। प्राचीन साहित्य में कहा गया है कि किस प्रकार विश्वामित्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और जनक, जो मूलतः राजन्य वर्ग के थे, तपस्या और ज्ञान द्वारा ब्राह्मण हो गए[1]। इसके विपरीत मतङ्ग की कथा[2] का प्रयोजन अन्य वर्णों के सदस्यों के ब्राह्मण बनने के बड़े से बड़े प्रयत्नों से की निरर्थकता को स्पष्ट करना है। कथा के मध्य में इन्द्र के मुख से कहलाया गया है कि "एक चण्डाल एक सहस्त्र वर्षों में केवल शूद्र बन सकता है, इसके तीस गुने काल के पश्चात् शूद्र वैश्य हो सकता है। इसके साठ गुने काल के अनन्तर वैश्य राजन्य हो सकता है, इसके साठ गुने समय के पश्चात् राजन्य ब्राह्मण हो सकता है, इत्यादि, इत्यादि। म्यूर इस वचन पर निम्नलिखित टीका करते हैं :-

"जन्म-जन्मान्तरों की सुदीर्घ परम्परा को पार किए बिना, एक क्षत्रिय की ब्राह्मणत्व प्राप्त करने की असम्भाव्यता के यहाँ किए गए दावे और विश्वामित्र, वीतहव्य तथा अन्य लोगों की कथाओं के मध्य निश्चित रूप से ज्वलन्त विरोध है।"

इस सिद्धान्त का शनैः-शनैः विस्तार किया गया और यह प्रतिपादित किया गया कि माता और पिता दोनों ब्राह्मण हों तभी उनकी सन्तति ब्राह्मण मानी जा सकती है। यह समझना कठिन है कि मिश्रित विवाह इस सिद्धान्त के साथ कैसे सङ्गत हो सकता था। उदाहरणार्थ, उस शिशु की क्या स्थिति होगी जिसका पिता ब्राह्मण हो और माता क्षत्रिय? सैद्धान्तिक ग्रन्थों को निश्चय ही इन प्रश्नों का उत्तर देने में कोई कठिनाई नहीं होती। वे उसके लिए एक नवीन जाति का प्रतिपादन करते हैं, जैसा कि वे ऐसे प्रत्येक मिश्रित विवाह की सन्तति के विषय में करते हैं जिसकी कल्पना की जा सकती है (तुलनीय

---

1. विस्तृत विवरण के लिए देखिए म्यूर, **संस्कृत टेक्स्ट्स,** जिल्द 1, पृ० 337–430।
2. वही, पृ० 440 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गौतम, 4,16 इत्यादि)। किन्तु इस प्रकार के काल्पनिक सिद्धान्त सप्रमाण परीक्षा के समक्ष टिक नहीं सकते। उदाहरणार्थ, यवन क्षत्रिय पिता और शूद्र माता की सन्तति कहे गए हैं (गौतम, 4,21)।

सत्य यह है कि इस विषय में भी ब्राह्मणों के दम्भ का विकास शनैः-शनैः हुआ। महाभारत के एक श्लोक में कहा गया है कि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही होता है, भले ही उसकी माता क्षत्रिय हो या वैश्य (13,47,17)। इसके विपरीत मनुसंहिता (10,6) में कहा गया है कि "द्विजाति पुरुषों द्वारा अव्यवहित निम्न वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों को वे (उनके पिताओं के) समान (किन्तु) मातृदोष के कारण विगर्हित मानते हैं[1]।" इस प्रकार यह उस सिद्धान्त के विकास का पहला कदम था जिसने ऐसी सन्तति को पिता के समकक्ष स्थान देने से इन्कार कर दिया। ब्राह्मणों के इस दम्भ और अभिमान की क्रमिक स्थापना के विलक्षण प्रकार का एक सुन्दर उदाहरण गौतम (4,22,23) में मिलता है। इन वचनों को टीकाकारों ने जिस अर्थ में लिया है उसे यहाँ सविस्तर उद्धृत किया जा सकता है[2]। "यदि क्षत्रिय पत्नी और ब्राह्मण पति से उत्पन्न सवर्ण स्त्री का विवाह किसी ब्राह्मण से किया जाए और उसके स्त्री वंशजों का विवाह सात पीढ़ियों तक इसी प्रकार होता रहे, तो सातवीं स्त्री वंशज अपने ब्राह्मण पति से जिस सन्तति को जन्म देती है वह जाति में ब्राह्मण के सदृश होगी। इसी प्रकार एक ब्राह्मण और उसकी क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न सवर्ण पुत्र क्षत्रिय स्त्री से विवाह करे और यह क्रम सातवीं पीढ़ी तक चलता रहे तो सातवें पुरुष वंशज का पुत्र जाति की दृष्टि से क्षत्रिय के सदृश होगा। इसी सिद्धान्त को क्षत्रिय पुरुषों और उनकी

1. सं० बु० ई०, जिल्द 25; मनु 10,6।
2. सं०बु० ई०, जिल्द 2, पृ० 199।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैश्य पत्नियों तथा वैश्य पुरुषों और उनकी शूद्र पत्नियों की सन्तति के सम्बन्ध में भी लागू करना चाहिए।" गौतम ने यह भी कहा है कि अन्य आचार्यों के अनुसार जाति का इस प्रकार का परिवर्तन पाँचवीं पीढ़ी में होता है। वर्ण के परिवर्तन की यह प्रक्रिया जिसके द्वारा शूद्र ब्राह्मण के पद को प्राप्त करता है और ब्राह्मण शूद्र के समकक्ष हो जाता है मनुसंहिता (10,64–65) में भी वर्णित है।

इस प्रकार यहाँ हमें विकास की विभिन्न अवस्थाओं का एक सम्पूर्ण चक्र दृष्टिगत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि सर्वप्रथम ब्राह्मण पुरुष और उसकी क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र पत्नी से उत्पन्न सन्तति ब्राह्मण मानी जाती थी, इसके पश्चात् यद्यपि उसका वर्ण वही बना रहा तथापि उसकी सामाजिक स्थिति निम्नतर हो गई। आगे चलकर यह पूर्णतः निषिद्ध कर दिया गया, यद्यपि पाँच पीढ़ियों तक ब्राह्मण रक्त के सम्पर्क से उसके वंशजों के लिए अपनी पूर्वजाति में प्रत्यावर्तन सम्भव था। आगे चलकर यह सीमा सात तक बढ़ा दी गई, और अन्ततोगत्वा यह व्यवस्था पूर्णतः समाप्त कर दी गई। इस प्रकार (१) ब्राह्मण-पुत्र के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति ब्राह्मण नहीं हो सकता, और (२) ब्राह्मण जनक और ब्राह्मण जननी के पुत्र को छोड़कर अन्य कोई व्यक्ति ब्रह्मण नहीं हो सकता, इन दो सहवर्ती सिद्धान्तों की क्रमिक प्रतिष्ठा के फलस्वरूप वह अशिथिल सामाजिक संघटन अस्तित्व में आया जिसे ब्राह्मण जाति कहना अनुचित न होगा।

§ ५

वर्ण व्यवस्था के विकास के सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य का साक्ष्य—यह बड़े ही सौभाग्य की बात है कि ब्राह्मण जाति के विकास की इस क्रमिक प्रक्रिया में हमें काल का कुछ संकेत मिलता है। बौद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्मग्रन्थ, पालि त्रिपिटक, इस प्रश्न पर मनोरंजक पार्श्वप्रकाश डालते हैं और उनके रचना-काल को मोटे तौर पर निश्चित करने के लिए हमारे पास अच्छे साधन हैं। अतः मैं अब प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में इस साहित्य के साक्ष्य पर कुछ विस्तार से विचार करूँगा। महत्व-पूर्ण प्रकरणों के साराँश से आरम्भ करना उपयुक्त रहेगा।

जातक--

(1) भद्दसाल जातक की लम्बी प्रस्तावना (पच्चुप्पन्नवत्थु) में यह कहानी कही गई है कि किस प्रकार कोसल के राजा ने एक दासी से उत्पन्न महानाम शाक्य की पुत्री वासभखत्तिया के साथ विवाह किया और जब सत्य का पता चला तो किस प्रकार उसने अपनी रानी और उससे उत्पन्न पुत्र को अपने पदों से हटा दिया। जब भगवान् बुद्ध राजप्रासाद में आए तो राजा ने उनसे इस विषय की चर्चा की जिस पर उन्होंने कहा :

"हे राजन्, शाक्यों ने अनुचित किया। यदि उन्होंने कोई कन्या दी तो उन्हें उचित था कि वे स्वतः अपने रक्त की कन्या देते। किन्तु हे राजन्, मैं यह कहता हूँ--वासभखत्तिया एक राजा की कन्या है तथा एक कुलीन राजा के घर में उसका अभिषेक हुआ है; विडूडभ भी एक कुलीन राजा से उत्पन्न है। प्राचीन काल के बुद्धिमान पुरुषों ने कहा है, माता की जाति का क्या महत्व है ? पिता का जन्म ही मान है[1]। और विचारी पत्नी को जो लकड़ी चुनती थी, उन्होंने राज्ञी का पद दिया; और उससे उत्पन्न पुत्र ने बारह योजन विस्तृत वाराणसी का प्रभुत्व प्राप्त किया और वह राजा कट्ठवाहन हुआ (जातक सं० 7, पृ० 133 इत्यादि में यह कहानी विस्तार से कही गई है।)

1. तुलनीय **महाभारत**, अनुशासनपर्व, 47,17।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"यह वक्तव्य सुनकर कोसलराज प्रसन्न हुआ और अपने आपसे यह कहते हुए कि पिता का जन्म ही मनुष्य का मान है उसने माता और पुत्र के साथ उनके अनुरूप व्यवहार किया[1] ।"

(2) कुम्मासपिण्ड जातक के पच्चुप्पन्नवत्थु में बताया गया है कि किस प्रकार सावत्थी के मालियों के मुखिया की पुत्री मल्लिका कोसलराज पसेनदि की पटरानी बनी (3, 405) ।

(3) उद्दालक जातक (4, 293) में बताया गया है कि किस प्रकार वाराणसी के राजा के ब्राह्मण पुरोहित का एक गणिका से प्रेम हो गया, और उनका उद्दालक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । बालक जब बड़ा हुआ तब अपने पिता के पास गया । उद्दालक की माता को उसने जो मुद्रिका दी थी उसे देखते ही वह अपने पुत्र को पहचान गया । उसने उद्दालक को ब्राह्मण मानकर उसे अपने अधीन पुरोहित नियुक्त कराया ।

(4) (अ) मातङ्ग जातक में बताया गया है कि सोलह हजार ब्राह्मणों को एक चाण्डाल की जूठन चखने के अपराध में अन्य ब्राह्मणों ने किस प्रकार जाति से बहिष्कृत कर दिया (जातक, 4, 388)। (तुलनीय सतधम्म जातक, जिल्द 2, पृ० 82 और आगे) ।

(4) (आ) चित्तसम्भूतजातक (4, 390 इ०) में बताया गया है कि किस प्रकार नगर-द्वार से बाहर जाते समय दो स्त्रियों— एक व्यापारी की पुत्री और दूसरी पुरोहित की— की भेंट दो चण्डालों से हो गई । उन्होंने कहा: "इनका दिखाई पड़ना एक अपशकुन है" और सुगन्धित जल से आँखें धोकर वे वापस लौटीं । भीड़ ने दोनों चण्डालों को पीटा और उन पर कड़ी विपदा ढा दी (तुलनीय— मातङ्ग जातक का प्रथम भाग, जिल्द 4, पृ० 376) ।

---

1. जातक, जिल्द 4, पृ० 147–48 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुत्त —

(5) अम्बट्ठसुत्त[1] (दीघनिकाय, सं० 3)

अम्बट्ठ नामक एक युवा ब्राह्मण गौतम बुद्ध के पास जाता है और यह दावा करता है कि चार वर्णों में से तीन क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—ब्राह्मण के सेवक हैं। उस धृष्ट ब्राह्मण के अहंकार का दमन गौतम उसे यह स्मरण दिलाकर करते हैं कि कृष्णायन गोत्र, जिसका वह एक सदस्य था, एक क्षत्रिय राजा की दासी से प्रारम्भ हुआ था। यह बताया गया है कि दासी का पुत्र एक महर्षि बना और उसने क्षत्रिय राजा की कन्या से विवाह किया।

इसके बाद गौतम ने अम्बट्ठ से पूछा: "यदि पुरुष क्षत्रिय का ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न पुत्र हो तो क्या वह ब्राह्मणों के मध्य आसन और जल प्राप्त कर सकता है?" "वह प्राप्त करेगा"। "क्या वह उनके साथ-अन्न जल ग्रहण कर सकता है?"। अवश्य "अच्छा क्या वे उसे मन्त्रों के विद्यार्थी के रूप में स्वीकार करेंगे? "अवश्य।" "क्या वे उसे अपनी कन्याएँ देंगे?" 'अवश्य'। "क्या क्षत्रिय उसे क्षत्रिय के पद पर अभिषिक्त करेंगे?" "नहीं"। क्यों? "क्योंकि वह माता की ओर से (उनकी जाति से) उत्पन्न नहीं है"। "क्या क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मणों के मध्य जल, प्याला और थाली ग्रहण कर सकता है?" "अवश्य" "क्या वे उसे विद्यार्थी के रूप में स्वीकार करेंगे?" "अवश्य"। "क्या वे उसे अपनी कन्याएँ देंगे?" "अवश्य"। "क्या क्षत्रिय उसे (अपनी जाति में) अभिषिक्त करेंगे?" "नहीं". "क्योंकि पिता की ओर से वह (उनकी जाति से) उत्पन्न नहीं है।"

1. इस सुत्तका सारांश कोपल्स्टोन के बुद्धिज्म, पृ० 145 तथा आगे से लिया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गौतम कहते हैं: "तब हे अम्बट्ठ, इस प्रश्न पर तुम चाहे स्त्री की दृष्टि से विचार करो चाहे पुरुष की दृष्टि से, क्षत्रिय उच्चतर हैं और ब्राह्मण निम्नतर। एक ऐसे ब्राह्मण का ही उदाहरण लो जिसको उसके साथी ब्राह्मणों ने जाति से बहिष्कृत कर दिया है। क्या ब्राह्मण उसका स्वागत करेंगे, अथवा उसके साथ खाएंगे अथवा उसे पढ़ाएंगे ?" "नहीं" "क्या वे उसको अपनी स्त्रियाँ देंगे ? "नहीं"। किन्तु यदि एक क्षत्रिय को बहिष्कृत कर दिया है तो क्या ब्राह्मण उसका स्वागत करेंगे, उसे भोजन कराएंगे और उसे पढ़ाएंगे ?" "अवश्य"। "क्या वे उसे अपनी कन्या देंगे ?" "अवश्य"। "तो जब क्षत्रिय अत्यधिक अपमान जनक स्थिति में हो तब भी क्षत्रिय श्रेष्ठ है और ब्राह्मण हीन।"

वह ब्राह्मण अम्बट्ठ ही था जिसने निम्न निर्दिष्ट गाथा कही :

"क्षत्रिय उनसे श्रेष्ठ हैं जिन्हें अपने कुल का मान है। किन्तु निर्दोष आचार और ज्ञान से सम्पन्न पुरुष ही देवों और मनुष्य में श्रेष्ठ हैं, और हे अम्बट्ठ मैं सोचता हूँ कि यह बहुत ठीक कहा गया है।"

(6) अस्सलायनसुत्त[1] (मज्झिमनिकाय, सं० 93)——

यह इस वर्णन के साथ आरम्भ होता है कि सावत्थी के अनेक ब्राह्मण किसी ऐसे व्यक्ति को ढूँढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे जो बुद्ध द्वारा स्थापित इस मत का खण्डन कर सकता कि चारों वर्ण समान रूप से शुद्ध हैं। अपनी कठिनाई में वे एक युवक और विश्रुत विद्वान् अस्सलायन से, जो उनकी दृष्टि में इस वाग्युद्ध के लिए उपयुक्त था, प्रार्थना करते हैं। अस्सलायन गौतम के पास जाता है और उनसे पूछता है :

---

1. इस सुत्त का सारांश टी० डब्ल्यू० रीज डैविड्स लिखित **इण्डियन बुद्धिज्म** (हिब्बर्ट लेक्चर्स, पृ० 51 और आगे) से लिया गया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"हे गौतम, ब्राह्मण इस प्रकार कहते हैं : ब्राह्मण श्रेष्ठ वर्ण है, प्रत्येक अन्य वर्ण हीन है, । ब्राह्मण श्वेत वर्ण है, प्रत्येक अन्य वर्ण काला है । केवल ब्राह्मण ही शुद्ध हैं, जो ब्राह्मण नहीं हैं वे शुद्ध नहीं हैं । (केवल) ब्राह्मण ब्रह्मा के वास्तविक पुत्र हैं, वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हैं, वे ब्रह्मा से निर्गत हैं, ब्रह्मा द्वारा निर्मित हैं, ब्रह्मा के उत्तराधिकारी हैं । किन्तु मान्यवर, इस विषय में आपका क्या कहना है ?"

इस पर गौतम अस्सलायन से पूछते हैं कि "क्या ब्राह्मणों की पत्नियाँ शिशु-जन्म के उन दोषों और दुर्बलताओं के अधीन नहीं हैं जो अन्य स्त्रियों में पाई जाती हैं । अस्सलायन को यह स्वीकार करना पड़ा कि बात वास्तव में ऐसी ही है और इस पर भी ब्राह्मण अपना दावा प्रस्तुत करते हैं ।

इसके बाद अन्वेषण की आधुनिक तुलनात्मक पद्धति का उपयोग करते हुए बुद्ध अस्सलायन से पूछते हैं कि "क्या बैक्ट्रिया अथवा अफगानिस्तान—जैसे निकटवर्ती देशों में वैसा वर्णभेद नहीं पाया जाता जैसा ब्राह्मणों और अन्य वर्णों के मध्य पाया जाता है, और क्या इतने पर भी उन देशों में दास स्वामी और स्वामी दास नहीं बन सकते ?

गौतम आगे पूछते हैं कि क्या कोई हत्यारा यदि वह क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो तो मृत्यु के पश्चात् इस शरीर के नष्ट हो जाने पर दु:ख और सन्ताप से युक्त दुर्गतिपूर्ण अवस्था में उत्पन्न होगा, किन्तु यदि वह ब्राह्मण हो तो नहीं ? अस्सलायन उत्तर देता है कि इस सम्बन्ध में ब्राह्मण अन्य वर्णों के समान है । गौतम प्रतिकूल स्थिति प्रस्तुत करके इसी प्रकार के उत्तर प्राप्त करते हैं ।

इसी प्रकार प्रश्न करते हुए गौतम यह बताते हैं कि जब कि घोड़ी और गधे के संयोग से खच्चर पैदा होता है, जो अपने जनक और जननी दोनों से भिन्न है, एक क्षत्रिय स्त्री और ब्राह्मण पुरुष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अथवा ब्राह्मण स्त्री और क्षत्रिय पुरुष के संयोग से जो सन्तान होती है वह अपने माता और पिता दोनों से समानता रखती है।

अन्त में गौतम युवक ब्राह्मण विद्वान् से पूछते हैं: "दो भाइयों में से, जिनमें एक उपनीत विद्यार्थी है और दूसरा नहीं, ब्राह्मण स्वत: किसे प्राथमिकता देंगे ?" अस्सलायन कहता हैं: "उपनीत विद्यार्थी को।" गौतम प्रतिप्रश्न करते है: "किन्तु यदि उपनीत विद्यार्थी दुश्चरित्र और दुर्वृत्त हो और दूसरा सच्चरित्र और सुशील हो तो स्वयं ब्राह्मण किसे प्राथमिकता देंगे।" उत्तर मिला "अनुपनीत को।" बुद्ध कहते हैं: "अस्सलायन, अपने पहले उत्तर में तुमने जन्म की श्रेष्ठता का त्याग कर दिया है और दूसरे उत्तर में धर्मग्रन्थों के ज्ञान की श्रेष्ठता का। और ऐसा करके तुमने सब वर्णों की पवित्रता को स्वीकार किया है, जिसका मैं प्रतिपादन करता हूँ।"

(7) वासेट्ठसुत्त (सै० बु० ई०, जिल्द 10, पृ० 108 और आगे)—

भारद्वाज और वासेट्ठ नामक दो युवकों के मध्य एक संवाद हुआ। संवाद का विषय था 'कोई व्यक्ति ब्राह्मण कैसे बनता है?' भारद्वाज ने कहा: "जो माता और पिता दोनों की ओर से जन्म से कुलीन हो, जिसके पूर्वजों की सात पीढ़ियाँ जन्म की दृष्टि से शुद्ध हों और जो जन्म की दृष्टि से परित्यक्त वा तिरस्कृत न हो, वह ब्राह्मण है।" वासेट्ठ कहने लगा: "जो व्यक्ति सुशील और पुण्यकर्मा हो वही ब्राह्मण है।" कोई भी अपने विरोधी को सन्तुष्ट नहीं कर पा रहा था। अत: वे इस प्रश्न को गौतम बुद्ध को सौंपने के लिए सहमत हो गए। बुद्ध ने जो उत्तर दिया उसका तत्व और सार यह था कि कोई जन्म से ब्राह्मण अथवा अब्राह्मण नहीं हो सकता, कर्म से ही कोई ब्राह्मण अथवा अब्राह्मण होता है; चूँकि जो व्यक्ति गोपालन से अपनी जीविका चलाता है वह कृषक है, ब्राह्मण नहीं और जो मनुष्य गृहकर्म करा कर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जीविकार्जन करता है वह याजक है, ब्राह्मण नहीं इत्यादि, इत्यादि[1]। अपने तर्कों की शृंखला के द्वारा गौतम ने इस धारणा का भी खण्डन किया कि विभिन्न वर्णों के बीच कोई वास्तविक जातिभेद है।

(8) कण्णकथाल सुत्त (मज्झिम निकाय, सं० 90) में बुद्ध कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इन चार वर्णों में से दो-क्षत्रियों और ब्राह्मणों-को प्रणाम, आदर, अभिवादन और सेवा-सुश्रूषा के सम्बन्ध में प्राथमिकता दी जाती है[2]।

(9) मधुर सुत्त[3] में महाकच्चान से वही प्रश्न किया गया है जो अस्सलायन सुत्त में बुद्ध से पूछा गया था। वे उत्तर देते हैं कि सार्वजनिक रूप से यह कहना कि ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ वर्ण है, केवल अर्थहीन शब्द हैं (इत्यादि, सम्पूर्ण प्रश्न अक्षरशः दुहाराया गया है)। वे अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित पाँच कारण प्रस्तुत करते हैं:

(अ) यदि कोई क्षत्रिय सम्पन्न हो तो वह किसी भी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र को अपनी सेवा में नियुक्त कर सकता है। इसी प्रकार अन्य तीन वर्णों में से किसी का कोई भी धनी सदस्य क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य अथवा शूद्र को अपनी सेवा में नियुक्त कर सकता है और वे सभी समान उत्साह से अपने स्वामी की सेवा करेंगे, भले ही वे किसी भी वर्ण के सदस्य क्यों न हों।

(आ) एक हिंसक, लुटेरा, दुराचारी, मिथ्याभाषी, निन्दक, कटुभाषी, व्यर्थ बकवास करनेवाला, लोभी, द्रोही तथा असह्य विचारों

---

1. वे योग्यताएँ जिनके कारण मनुष्य ब्राह्मण बनता है गाथा 27–54 में वर्णित हैं।
2. ज० रा० ए० सो,० 1894, पृ० 341।
3. इस सुत्त के मूल और अनुवाद के लिए देखिए ज० रा० ए० सो०, 1894, पृ० 349 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को मानने वाला क्षत्रिय मृत्यु के पश्चात् कष्टजनक दण्ड की स्थिति को प्राप्त होता है ; ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के बारे में भी यही बात सत्य है ।

(इ) जो क्षत्रिय उक्त दोषों से दूर रहता है वह मृत्यु के अनन्तर आनन्द की स्थिति एवं स्वर्गलोक को प्राप्त करता है । ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र के बारे में भी यही बात सत्य है ।

(ई) जो क्षत्रिय घरों में प्रवेश करता है, लूटता है, चोरी करता है, डाकू बनता है अथवा व्यभिचार करता है वह शूली पर चढ़ा दिया जाता है, जला दिया जाता है अथवा निष्कासित किया जाता है अथवा उसके साथ उसके अपराध के अनुरूप व्यवहार किया जाता है । ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है ।

(उ) जो क्षत्रिय संन्यास धारण करता है लोग उसका सत्कार करते हैं । यही बात ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के बारे में भी सत्य है ।

इस प्रकार यह सिद्ध करने के पश्चात् कि जाति किसी भी प्रकार जीवन में भौतिक सफलता को, पारलौकिक आनन्द और दण्ड को, न्यायालयों के निर्णयों को तथा संन्यासियों के प्रति व्यक्त एकरूप आदरभाव को प्रभावित नहीं कर सकती, महाकच्चान अपना वक्तव्य इस प्रकार समाप्त करते हैं: "यदि यह सत्य हो तो ये चार वर्ण वस्तुतः समान हैं या नहीं ? अथवा, तुम्हें यह बात कैसी लगती है ?"

उनका राजकीय सम्भाषक केवल यही उत्तर दे सका: "निस्सन्देह कच्चान, यदि बात ऐसी ही हो तो मुझे उनके मध्य कोई भेद दिखाई नहीं देता ?"

बौद्ध साहित्य और जाति-व्यवस्था का विकास—बौद्ध साहित्य के उपरिलिखित प्रकरणों से इसमें सन्देह नहीं रहता कि यद्यपि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्णों की समानता के प्रतिपादक सिद्धान्त तथा उच्चतर एवं निम्नतर वर्णों के सम्बन्ध में तर्कसंगत विचार पूर्णतः अनुपस्थित नहीं थे तथापि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के मध्य व्यावहारिक भेद भलीभांति प्रतिष्ठित हो चुका था, यद्यपि वह इतना कठोर नहीं था जितना आजकल। अम्बठ्ठसुत्त एक क्षत्रिय के ब्राह्मण होने की सम्भावना पर स्पष्ट रूप से विचार करता है जिससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण वर्ण संवृत नहीं था[1]। यह निस्सन्देह सत्य है कि क्षत्रियों की ओर से यह अहंकारपूर्ण दावा प्रस्तुत किया गया है कि ऐसा कोई व्यक्ति क्षत्रिय नहीं हो सकता जो पिता और माता दोनों की ओर से उस वर्ण में उत्पन्न न हुआ हो। किन्तु यदि हम यह स्मरण रखें कि बौद्ध लेखक निश्चित रूप से क्षत्रियों के पक्षपाती थे, तो सम्भवतः यह अङ्गीकार करना पड़ेगा कि इसका वास्तविक महत्व ब्राह्मणों द्वारा प्रस्तुत इसी प्रकार के दावों की अपेक्षा अधिक नहीं था। इसके अतिरिक्त यह उस मूलभूत सिद्धान्त के पूर्णतः प्रतिकूल है जिसका उपदेश बुद्ध ने कोसल के राजा को दिया था (सं० 1)—माता के जन्म का क्या

1. बौद्ध ग्रन्थों की उपलब्धि से हमारे विचारों के विस्तार में कितना अधिक योग मिला इसकी कल्पना 1881 में बौद्ध धर्म के उदय के समय भारत की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में रीज डेविड्स के निम्नलिखित वक्तव्य की (**बुद्धिस्ट इण्डिया**, अध्याय 4 में इस विषय पर उनके द्वारा व्यक्त विचारों से) तुलना करके की जा सकती है: "समान वर्णों को छोड़कर अब अन्तरजातीय विवाह सम्भव नहीं रहे थे। कोई क्षत्रिय अब ब्राह्मण नहीं हो सकता था।" (हिब्बर्ट लेक्चर्स, पृ० 34)। उपर्युक्त उद्धरणों से यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि महान् पालि विद्वान् रीज डेविड्स निस्सन्देह भ्रम में थे। तुलनीय **ज० रा० ए० सो०**, 1894, पृ० 343, पाद-टिप्पणी 1।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महत्व है ? पिता का जन्म ही मान है ।" इस सिद्धान्त तथा ऊपर उद्धृत अन्य वचनों (सं० 1, 3, 5) से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि विभिन्न वर्णों के मध्य विवाह प्रचलित थे, यद्यपि जातकों के अनेक अंशों से सूचित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी जाति में ही विवाह प्रशस्त माना जाता था[1] । जाति-प्रथा के महत्वपूर्ण लक्षणों में से एक है दूसरों के द्वारा छुए हुए अन्न को ग्रहण करने पर प्रतिबन्ध । कम से कम जहाँ तक उच्च वर्गों का सम्बन्ध है बौद्ध ग्रन्थों से इसके समर्थन में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । फिक ने इस दृष्टिकोण से जातकों का विशेष अध्ययन किया है और इस सम्बन्ध में उनके विचारों को विस्तार से उद्धृत करना उपयोगी होगा:

"यदि हम यह स्मरण रखें कि समस्त धार्मिक विषयों में आर्य अन्न के प्रश्न को बहुत अधिक महत्व देते थे तथा सहभोजन सदा रक्त-सम्बन्ध का बाह्य चिह्न माना जाता रहा है तो यह प्रतीत होगा कि प्रत्येक अशुद्ध वस्तु को सहभोजन से दूर रखने का सिद्धान्त पुरातन था । यह सिद्धान्त कुल से जाति में ले जाया गया जहाँ वह विशेष कठोर रूप में विकसित हुआ । तथापि हमें इस तथ्य को नहीं छिपाना चाहिए कि निम्नतर व्यक्तियों को भोजन से दूर रखने की आधुनिक भारतीय प्रथा के चिह्न यदि जातकों में पाए भी जाते हों

1. ('एकं समजातिककुलाकुमारिकं गह्ण') **जातक** जिल्द 3, पृ० 422 । इसी प्रकार के अन्य वचनों के लिए देखिए जातक, जिल्द 1, पृ० 199; जिल्द 2, पृ० 121, 225; जिल्द 3, पृ० 93, 162;, जिल्द 4, पृ० 22 । असिताभ् **जातक** (2,229) और सुवण्णमिग जातक (3,182) के पच्चुप्पन्नवत्थु भी देखिए । फिक ने इन दृष्टान्तों का संकलन किया है (पृ० 34–35) ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तो वे अत्यन्त दुर्लभ हैं [1]।

फिक ने जो एकमात्र दृष्टान्त प्रस्तुत किया है वह है एक शाक्यमुख्य के द्वारा एक दास-कन्या के साथ अन्न ग्रहण करने सेइनकार (जिल्द 4, पृ० 144 इ०) । जातकों से निस्संशय यह तथ्य प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण के लिए चण्डाल के भोजन का उच्छिष्ट खाना एक महापाप समझा जाता था।[2] उनसे यह भी स्पष्ट है कि चण्डाल का दिखाई पड़ना भी अपवित्र माना जाता था[3]। यद्यपि मातङ्ग जातक में कहा गया है कि व्यापारी की वह कन्या जिसको चण्डाल दिखाई पड़ा था अन्ततोगत्वा उसकी पत्नी बन गई। किन्तु यह स्मरणीय है कि यह कठोरता केवल चण्डाल के साथ सम्बन्ध की सूचक है, और यह प्रतिपादित करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं है कि जहाँ तक शूद्र प्रभृति अन्य वर्गों के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है भोजन और स्पर्श पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध था।

§ ६

क्षत्रियों और ब्राह्मणों के मध्य संघर्ष—किन्तु क्षत्रियों और ब्राह्मणों के मध्य उच्चता के लिए संघर्ष इस काल का प्रमुख वैशिष्ट्य प्रतीत होता है[4]। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से यह अनुमान करना सहज ही है कि इस प्रकार का संघर्ष कभी भी विद्यमान नहीं था तथा

---

1. फिक, पृ० 29–30 ।
2. टेक्स्ट, सं० 4 ए ।
3. टेक्स्ट सं० 4 बी ।
4. तुलनीय—टेक्स्ट्स, 5–9 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सर्वोच्चता के लिए ब्राह्मण का दावा सदा एक निर्विवाद सत्य था[1]। किन्तु सर्वोच्चता के लिए संघर्ष की यथार्थता प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध कतिपय आकस्मिक उल्लेखों से प्रकट है, जिनका म्यूर ने विशद विश्लेषण किया है[2]। प्ररंतु उन्हें केवल ब्राह्मण ग्रन्थों पर निर्भर रहना पड़ा था, जिनसे पूर्ण सत्य को निष्पक्षतापूर्वक व्यक्त करने की आशा नहीं की जा सकती। चित्र का दूसरा पहलू बौद्ध ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित है जहाँ क्षत्रियों के लिए समान रूप से निर्विवाद सर्वोच्चता का दावा किया गया है। यह वचन सं० 5 एवं इस तथ्य से स्पष्ट है कि चार वर्णों का उल्लेख करते समय बौद्ध लेखक क्षत्रिय का निर्देश सदा ब्राह्मण के पूर्व करते हैं। इस सम्बन्ध में जैन ग्रन्थ बौद्ध लेखकों के कथन की पूर्ण रूप से पुष्टि करते हैं। उदाहरणार्थ, कल्पसूत्र[3] में हम पढ़ते हैं कि यह न कभी हुआ और न कभी होगा कि अर्हत् निम्न परिवारों अथवा ब्राह्मण कुलों में उत्पन्न हों। कर्म के फलस्वरूप वे इन परिवारों की किसी स्त्री की कुक्षि में गर्भ का रूप धारण कर सकते हैं, किन्तु उनका जन्म इस प्रकार की कुक्षि से कभी नहीं होता—वे उच्च तथा कुलीन परिवारों में ले जाए जाते हैं। अतः राजाओं और देवों के अधिपति शक्र ने सम्मान्य परिव्राजक महावीर को ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ से निकाल कर क्षत्रियाणी त्रिशला की कुक्षि में गर्भ के रूप में प्रतिष्ठित कराने का निश्चय किया।

बौद्ध लेखकों में क्षत्रिय-पक्षपात के ।बड़े परिमाण में अस्तित्व को मैंने पहले ही स्वीकार किया है और जैन लेखकों के सम्बन्ध में भी

---

1. तुलनीय **इण्डिश स्टडिएन**, 10, पृ० 27–41 में वेबर द्वारा उद्धृत वचन।
2. म्यूर, **संस्कृत टेक्स्ट्स**, पृ० 337–371।
3. **सै० बु० ई०**, जिल्द 22, पृ० 225–226।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यही कहा जा सकता है। अतः उनके कथन को निरपवाद रूप से स्वीकार कर लेना उतना ही अनुचित होगा जितना ब्राह्मण-ग्रन्थों में उल्लिखित ब्राह्मणों के सब दावों को पूर्ण रूप से सत्य मान लेना। इसके विपरीत बौद्ध और जैन लेखकों के अङ्गीकृत पक्षपात के कारण उनके वक्तव्यों को पूर्णतः अस्वीकृत कर देना भी हमारे लिए उचित नहीं है, क्योंकि इस आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों को भी पूर्णतः अविश्वसनीय मानना पड़ेगा। वस्तुतः बौद्ध और जैन लेखक इस दृष्टि से अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति में हैं। वे समाज की सीमाओं से परे रहने वाले परिव्राजक थे, और जाति की उच्चता के प्रश्न के साथ उनका कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं था। दूसरी ओर ब्राह्मण लेखक वस्तुतः उच्चता के संघर्ष में फंसे हुए थे[1] और बड़ी सीमा तक उनकी सांसारिक स्थिति उसमें सफलता अथवा असफलता पर निर्भर करती थी। इसके फल-स्वरूप उनके विवरण का अधिक विकृत होना तथा उनका अपने दावों के प्रति अधिक पक्षपातपूर्ण होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार इन दोनों वर्गों के ग्रन्थों की तुलना से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि यद्यपि ब्राह्मणों और क्षत्रियों के मध्य सर्वोच्चता के लिए स्पर्धा चल रही थी तथापि उनमें से किसी का भी दावा निरपवाद रूप से मान्य नहीं हो सका था। क्षत्रियों के पक्ष का समर्थन करते हुए भी बौद्ध ग्रन्थ वास्तविक तथ्यों को कभी नहीं छिपाते तथा क्रमांक 5, 6, 8 और 9 मोटे तौर पर ब्राह्मणों के दावों का उल्लेख करते हैं। साधारणतः ब्राह्मण ग्रन्थ क्षत्रियों की श्रेष्ठता का उल्लेख नहीं करते तथापि

1. यदि यह माना जाए कि वे भी संन्यासी थे तो बात और है। किन्तु इसके समर्थन में उतने सुदृढ़ प्रमाण नहीं हैं जितने बौद्ध और जैन लेखकों के सम्बन्ध में। किन्तु यदि ऐसा हो भी तो इससे केवल उनके सुनवाई के अधिकाल की समानता सिद्ध होती है, न कि ब्राह्मण लेखकों की सर्वोच्चता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ अरक्षित वचन इतस्ततः वास्तविक स्थिति को प्रकट करते हैं। इस प्रकार वाजसनेयी संहिता (38,19) में क्षत्रियों का निर्देश ब्राह्मणों के पूर्व किया गया है, जब कि काठक (28,5) में स्पष्ट रूप से कहा है कि क्षत्रिय ब्राह्मणों की अपेक्षा श्रेष्ठ है[1]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण राजा का अनुचरण करता था (1,2,3,2) तथा 'वह राजा के पश्चात् आदर का पात्र था' (5,4,2,7)। ऐतरेय ब्राह्मण के एक वचन (7,22) में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के मध्य प्राधान्य के लिए होनेवाले संघर्ष की ओर संकेत है, तथा पंचविंश ब्राह्मण (18,10, 8)[2] में दोनों के मध्य शत्रुता का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। म्यूर[3] ने भी कुछ विस्तार से उस संघर्ष के कुछ पौराणिक उदाहरणों की चर्चा की है जो हिन्दू इतिहास के प्रारम्भिक युगों में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के मध्य हुआ। उपर्युक्त बौद्ध ग्रन्थ—जातकों का पच्चुप्पन्नवत्थु और सुत्त—ईसा पूर्व चतुर्थ शती के माने जा सकते हैं। इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट है कि इस काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अभी तक उन अशिथिल संघटनों के रूप में विकसित नहीं हुए थे जिन्हें साधारणतः 'जाति' शब्द से समझा जाता है। जातिप्रथा के इस मूलभूत तत्व को कि सन्तान की जाति का निर्णय पिता की जाति से होता है, अवश्य ही सैद्धान्तिक मान्यता प्राप्त हो चुकी थी, किन्तु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, एक जाति से दूसरी जाति में जाना अब भी सम्भव था। इसके अतिरिक्त विभिन्न वर्गों के मध्य विवाह अब भी प्रचलित थे और कम से कम जहाँ तक तीन उच्चतर वर्गों का सम्बन्ध है, अन्न ग्रहण करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। और

---

1. **इंडिश स्टडिएन**, जिल्द 10, पृ॰ 30 :
2. **वही**, पृ॰ 28।
3. म्यूर, **संस्कृत टेक्स्ट्स**, जिल्द 1, पृ॰ 296 और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्त में यह तथ्य कोई कम महत्व का नहीं है कि अन्य समस्त वर्गों पर ब्राह्मणों के निर्विवाद प्रभुत्व के दिन अभी तक नहीं आए थे ।

§ ७

ब्राह्मणों की अन्तिम विजय––किन्तु सर्वोच्चता के लिए होने वाले संघर्ष की समाप्ति का दिन दूर नहीं था। ब्राह्मण क्रम से, किंतु दृढ़ता से, तब तक अपने अधिकारों और विशेषधिकारों को प्रतिपादित करते रहे जब तक कि उनकी श्रेष्ठता विवाद के परे न हो गई। ब्राह्मण लेखकों के दावों की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए बौद्ध ग्रन्थों के सदृश स्वतन्त्र साक्ष्य के अभाव में इस विकास की क्रमिक अवस्थाओं को स्थिर करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। तथापि यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि बौद्ध धर्म के ह्रास एवं गुप्तों के तत्वाधान में ब्राह्मण धर्म के पुनर्जागरण ने ब्राह्मणों की सर्वोच्चता पर अन्तिम रूप से मुहर लगा दी। जैसा कि हम देख चुके है, बौद्ध धर्म ने अपने आपको क्षत्रियों के दावों से अभिन्न कर लिया और ब्राह्मण धर्म के साथ उसके संघर्ष ने अप्रत्यक्ष रूप से दो संघर्षरत दलों के मध्य शक्ति-परीक्षा का कार्य किया। सम्प्रति बौद्ध धर्म के पतन के कारणों का पता लगाना सम्भव नहीं है, किन्तु उसका पतन होता गया तथा प्रतिद्वन्द्वी विजेताओं के लिए मैदान छोड़कर वह उस दल को भी अपने साथ ले गया जिससे वह सम्बद्ध था।

ई. सन्. की षष्ठ शताब्दी के तालगुंड अभिलेख में सर्वोच्चता के इस संघर्ष की स्मृति सुरक्षित प्रतीत होती है[1]। उसमें कहा गया है कि कदम्ब राजवंश का संस्थापक ब्राह्मण मयूरशर्मा सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य के अध्ययन की इच्छा से पल्लव-नरेशों की नगरी में गया। "एक पल्लव घुड़सवार के साथ भयङ्कर कलह से क्रुद्ध होकर (उसने

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 8, पृ० 31, 34।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सोचा): "इस कलियुग में ब्राह्मण क्षत्रियों की तुलना में इतने अधिक दुर्बल हों यह बड़े दुःख का विषय है। जिसने विधिवत् अपने गुरु के कुल की सेवा की हो तथा निष्ठापूर्वक वेद की अपनी शाखा का अध्ययन किया हो उसे यदि पवित्रता में पूर्णता के लिए किसी राजा पर निर्भर रहना पड़े, तो इससे अधिक कष्टकर बात और क्या हो सकती है ?" और फलस्वरूप उसने कुश घास, समिधा, प्रस्तर, चमस, पिघला घी तथा आहुति-पात्र के ग्रहण में दक्ष हाथ से पृथिवी पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा से एक चमचमाते खड्ग को अनावृत किया। अवशिष्ट श्लोकों में वर्णन है कि उसने किस प्रकार पल्लव सेनाओं को पराजित कर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया।

ब्राह्मण संघटनों की कठोरता पूर्णता पर पहुंचती है—ब्राह्मणों ने युद्ध में विजय प्राप्त की तथा दुर्ग उनके हाथ में आ गया। अगला कदम था उसके चारों ओर सुदृढ़ प्राचीर खड़ी करके उसे दुर्गम बना देना। साधन सुलभ थे। उनका अपना एक निगम था जो थोड़े-बहुत परिवर्तन के द्वारा एक कठोर तथा अनन्य साधारण संघटन के रूप में परिणत किया जा सकता था, और वे उत्सुकतापूर्वक इस कार्य में लग गए। इसका परिणाम आज हम प्रत्यक्ष देखते हैं। अन्य वर्णों के साथ विवाह स्पष्ट रूप से निषिद्ध कर दिया गया तथा भोजन एवं स्पर्श सम्बन्धी प्रतिबन्धों ने योजना को पूर्ण कर दिया। इतिहास ने एक बार पुनः अपने आपको दुहराया। जिन उपायों से अभिमानी आर्यों ने अपने और शूद्रों के मध्य भेद की दीवार खड़ी की थी उन्हीं उपायों का उनके एक वर्ग ने अन्य वर्गों पर हीनता का स्थायी चिह्न लादने के लिए सफलतापूर्वक अवलम्बन किया। इस हीनता और शूद्रों की हीनता के मध्य केवल मात्रा का अन्तर था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मणों के इस सामाजिक पृथक्त्व के पूर्णता पर पहुंचने के काल का ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है। अभिलेखों के साक्ष्य से यह सिद्ध होता जान पड़ता है कि ब्राह्मणों तथा अन्य वर्णों के मध्य विवाह अत्यन्त परवर्ती काल तक होते रहे। इस प्रकार ई० सन् की नवम शती के प्रतीहार बाउक के जोधपुर अभिलेख[1] में कहा गया है कि प्रतीहार वंश के संस्थापक ब्राह्मण हरिचन्द ने दो स्त्रियों से विवाह किया था, एक ब्राह्मणी और दूसरी क्षत्रिया। प्रथम पत्नी से उत्पन्न पुत्र प्रतीहार ब्राह्मण बन और दूसरी पत्नी से उत्पन्न पुत्र प्रतीहार क्षत्रिय। इस मूर्त उदाहरण के सम्बन्ध में हम कुछ भी क्यों न सोचें, यह निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि अभिलेख की रचना के समय अन्तरजातीय विवाह प्रचलित थे, क्योंकि कोई वंशावलिकर्ता किसी ऐसी प्रक्रिया के द्वारा वंश का उद्भव बताने का साहस न करता जो उसके काल में पूर्णतः लुप्त हो चुकी थी। ई० सन् की नवम शती के उत्तरार्ध में हुए अरब यात्री इब्न खोर्दाद्बेह (मृत्यु 912 ई०) के विवरण से इस निष्कर्ष का पूर्णतः समर्थन होता है। कतरियों अथवा क्षत्रियों की चर्चा करते हुए वह कहता है कि ब्रह्म (अर्थात् ब्राह्मणों) के वर्गों की कन्याएँ इस वर्ग के पुत्रों को विवाह में नहीं दी जातीं; किन्तु ब्रह्म उनकी कन्याओं को लेते हैं।[2] दक्षिण भारत में भी हम यही बात पाते है। काकुत्स्थवर्मा का तालगुण्डा स्तम्भलेख,[3] जो षष्ठ शती ई० के आरम्भ का माना जा सकता है,[4] यह सिद्ध करता है कि यद्यपि कदम्ब, जिनके वंश में वह हुआ था, ब्राह्मण थे, तथापि उसने अपनी कन्या

---

1. **ज० रा० ए० सो०**, 1894 पृ० 1 और आगे।
2. इलियट, **हिस्ट्री आफ इंडिया**, जिल्द 1, पृ० 16।
3. **एपि० इण्डि०**, जिल्द 8, पृ० 24 और आगे।
4. **वही**, पृ० 31।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुप्तों को विवाह में दी थी । गुप्त सम्राट् माता की ओर से व्रात्य लिच्छवियों से उत्पन्न हुए थे, तथापि हम पाते हैं कि कदम्ब वंश के एक राजा ने, जिसे अपने ब्राह्मणत्व का पूर्ण अभिमान था, शास्त्रों के कठोरतम नियमों के विरुद्ध उन्हें अपनी कन्या विवाह में दी । इसके अतिरिक्त आवनि के एक अभिलेख से हमें विदित होता है कि ई० सन् की दसवीं शताब्दी में भी कदम्बवंश में उत्पन्न दिवलम्बा एक नोलम्ब राजा की अग्रमहिषी थी[1] । नोलम्ब पल्लवों से उत्पन्न होने का दावा करते थे,[2] और उपर्युक्त तालगुण्डा अभिलेख के कथनानुसार पल्लव क्षत्रिय थे । इन दृष्टान्तों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कम से कम दशम शताब्दी के पूर्व ब्राह्मणों के संघटन अपने विकास की अन्तिम अवस्था पर नहीं पहुंच सके थे।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आरम्भ से ही ब्राह्मण-संघटन अनेक अंगों में विभक्त था । जब ऋत्विज के व्यवसाय के लिए अपेक्षित विद्या इस संघटन का आधार थी तब उसके आन्तरिक वर्ग अध्ययन के विविध विषयों पर आधारित थे । जब विद्या का स्थान जन्म ने ले लिया तब प्रदेशों पर आधारित भेद उत्पन्न हुए होंगे । जातकों में हम पहले से ही 'उदिच्च' ब्राह्मण शब्द तथा इस प्रकार के कुल में जन्म से विशिष्ट अभिमान के द्योतक वचन बहुधा पाते हैं[3] । यह उत्तरकालीन कनौज गौड़, कोंकणस्थ तथा तैलङ्ग ब्राह्मणों का पुरोगामी था । भोजन और विवाह से सम्बद्ध सूक्ष्म नियमों के प्रतिष्ठित हो जाने पर प्रजा के विभिन्न वर्गों द्वारा उनके अनुसरण

---

1. एपि० इण्डि०, जिल्द 10, पृ० 61–62 ।
2. वही, पृ० 57 ।
3. जातक, जिल्द 2, पृ० 82 और आगे; 438 और आगे; जिल्द 1, पृ० 356 और आगे; 371 और आगे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की विभिन्न मात्राओं पर आधारित अनेक अन्य उपविभागों का अस्तित्व में आना अनिवार्य था। इन विभिन्न तत्वों ने असंख्य ब्राह्मण संघटनों की रचना में योग दिया है और उनमें से प्रत्येक का अपना संघटित स्वरूप इतना पूर्ण है कि यह पता लगाना कोई आसान बात नहीं है कि वे सब एक विशाल संघटन के अङ्ग हैं। सेनार्ट ने ठीक ही कहा है कि "हम एक ब्राह्मण जाति की चर्चा करते हैं जब कि वास्तव में हमें कहना चाहिए ब्राह्मण जातियाँ। एक सामान्य शब्द के अन्तर्गत हम अनेक जातियों का समावेश करते हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना निजी व्यक्तित्व है[1]।"

§ ८

अन्य सामाजिक संघटनों की क्रमिक रचना—यदि ब्राह्मण[2] भी, जिनका अन्य वर्णों की अपेक्षा न्यूनाधिक निश्चित वर्ग था, इस प्रकार इतने अधिक उपविभागों को जन्म दे सकते थे, जो व्यावहारिक दृष्टि से केवल नाम को छोड़कर अनेक जातियाँ ही थीं तो वैश्यों और शूद्रों से (जिनमें आबादी के वे तत्व भी सम्मिलित थे जो मूलत: आर्यों के प्रभावक्षेत्र के बाहर थे किन्तु क्रमश: उसके अन्तर्गत आ गए थे) हम इस प्रकार के परिणामों की और भी अधिक आशा कर सकते हैं।

पहले लिखा जा चुका है कि वैश्य और शूद्र लोग कभी भी एक रूप नहीं थे। प्राचीनतम काल से ही उनमें विभिन्न वर्ग विद्यमान

1. सेना कास्ट्स, पृ० 139।
2. क्षत्रिय भी इसी प्रकार के वर्गों में विभक्त रहे होंगे, किन्तु अब उनका पता लगाना कठिन है। बंगाल के सेन राजाओं के अभिलेखों में हमें 'ब्रह्मक्षत्रिय' और 'कर्णाट क्षत्रिय' जैसे शब्द मिलते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहे होंगे, और अन्ततोगत्वा वे वर्गों अथवा जातियों के रूप में विकसित हो गए। अकेला वैदिक साहित्य[1]ही अनेक व्यावसायिक वर्गों के नाम प्रस्तुत करता है जो आजकल की जानी-पहचानी जातियों से मिलते जुलते हैं। उदाहरण के लिए यहाँ उनमें से कुछ का उल्लेख किया जा सकता है --

वैदिक साहित्य में उल्लिखित व्यवसायिक वर्ग[2]	**आधुनिक जाति**	**व्यवसाय**
कर्मार	कर्मकार	लुहार
कुलाल	कुम्हार	मिट्टी के बरतन बनाने वाला
कैवर्त	कैवर्त्त	मछवाहा
गणक	गणक	ज्योतिषी
गोपाल	ग्वाला	चरवाहा
तक्ष।तष्ट्रि	सूतार	बढ़ई
धैवर	धीवर	मछुवा
नापित	नापित	नाई
मलग	धोबी	धोबी
वयितृ	तान्ती	जुलाहा
सुराकार	सुरी, कलवार	मद्य बनाने वाला

उनकी रचना में सहायक विभिन्न तत्व--साधारणतः यह अनुमान किया जा सकता है कि इनमें अनेक वैदिक काल में ही मान्यता-

---

1. विशेषतः तुलनीय **वाजसनेयी संहिता**, 16, 30।
2. यह सूची **वैदिक इंडेक्स**, खंड ,2 पृ० 585–86 से संकलित की गई है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त वर्गों के रूप में विकसित हो चुके थे। यह धैवर (धीवर का वंशज)–जैसे पैतृक नामों से स्पष्ट है। हम पहले ही देख चुके हैं कि उनमें से अनेक––जैसे लुहारों, कुम्हारों, ग्वालों, बढ़इयों और जुलाहों –के अपने श्रेणि-संगठन थे। इसमें सन्देह की अधिक गुंजाइश नहीं हो सकती कि ये औद्योगिक संगठन अन्ततोगत्वा सामाजिक संघटनों के रूप में विकसित हो गए थे[1]। जातीय तत्व ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण योग दिया। उदाहरणार्थ, वैदिक साहित्य[2] में निषादों का एक महत्वपूर्ण कबीले के रूप में प्रायः उल्लेख आता है। इसके विपरीत मनुसंहिता में उनको एक सामाजिक संघटन माना गया है (10,8)। राजनीतिक संघों की सामाजिक संघटनों के रूप में विकसित होने की प्रवृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण यह है कि कपिलवस्तु के शाक्यों ने भोजन और विवाह के सम्बन्ध में निश्चित नियमों का विधान किया था[3]। सम्भवतः इसी प्रकार लिच्छवि भी अन्ततोगत्वा सामाजिक संघटनों के रूप में परिणत हो गए थे, क्योंकि मानव-धर्मशास्त्र (10,22) में उनका उल्लेख इस रूप में किया गया है। आजकल के गोसाइयों और वैरागियों के उदाहरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि धार्मिक संगठनों ने भी सामाजिक संघटनों की वृद्धि में योग दिया।

इस प्रकार यह माना जा सकता है कि आजकल के सामाजिक संघटनों की विशाल संख्या के अंतर्गत औद्योगिक, जातीय, राजनीतिक एवं धार्मि––ये सभी प्रकार की संघटित संस्थाएँ थी। वर्तमान जातियों में से प्रत्येक की उत्पत्ति का उक्त संगठनों में से

---

1. तुलनीय––ओल्डेनबर्ग, **ZDMG** जिल्द 51, पृ० 289 में।
2. **वैदिक इंडेक्स,** जिल्द 1, पृ० 454।
3. तुलनीय––**भद्दसाल जातक की पच्चुप्पन्नवत्थु,** जिल्द 4, पृ० 145।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक अथवा दूसरे से पता लगाना सम्प्रति असम्भव है, और उस काल का, जिसमें ये किन्हीं पूर्ववर्ती संगठनों से इस रूप में विकसित हुए, मोटे तौर से भी पता लगाने का प्रयत्न करना उतना ही निराशाजनक कार्य है ।

विनयपिटक का एक वचन[1] साधारण रीति से इस क्रमिक रूपान्तर के काल तथा प्रक्रिया को सूचित करता है । इसमें कहा गया

---

1. "ओमसवादोनाम दशहि आकारेहि ओमसतिः जातियापि नामेनपि गोत्तेनपि कम्मेनपि सिप्पेनपि जाति नाम, द्वेजातियो, हीना च जाति उक्कट्ठा च जाति । हीना नाम जाति चण्डाल जाति वेणजाति नेषाद जाति रथकारजाति पुक्कुसजाति, एसा हीना नाम जाति । उक्कट्ठानाम जाति खत्तियजाति ब्राह्मणजाति, ऐसा उक्कट्ठानाम जाति ।
"सिप्पं नाम, द्वे सिप्पानि, हीनञ्च सिप्पं उक्कट्ठञ्च सिप्पं । हीनं नाम सिप्पं नलकारसिप्पं, कुम्भकारसिप्पं, पेसकारसिप्पं, चम्मकारसिप्पं, नहापितसिप्पं तेसु तेसु वा पन जनपदेसु ओञ्ञातां अवञ्ञातं हीलूतं परिभूतं अचित्तिकतं, एतं हीनं नाम सिप्पं । उक्कट्ठनामसिप्पं मुद्दा गणना लेखा तेसु तेसु वा पन जनपदेसु अनोञ्ञातं अनव ञ्ञातं अहीलूतं अपरिभूतं चित्तिकतं एतं उक्कट्ठंनाम सिप्पं ।" इसी प्रकार यह भी कहा गया है—"हीनं नामकम्मं कोट्ठककंम्मं पुप्फ छड्डककम्मं ···उक्कट्ठं नाम कम्मंकसि वाणिज्जा गोरक्खा ।" विनयपिटक (4, पृ० 6 और आगे । सुत्त- विभङ्ग, पाचित्तिय 11'2) । इस वचन पर ओल्डेनबर्ग इस प्रकार लिखते हैं—
"इस बात का कोई संकेत नहीं किया गया है कि जाति के कुछ और भी ऐसे उदाहरण हैं जो उत्कृष्ट अथवा हीन माने जा सकते हों—वस्तुतः ऐसी किसी सम्भावना का प्रत्यक्ष रूप से खण्डन किया गया है । इससे स्वभावतः ही उत्कृष्ट और हीन जातियों के बीच मध्यवर्ती जाति के अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता ।" (ZDMG) जिल्द 51, पृ० 281) ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है कि एक पुरुष दूसरे पुरुष की निन्दा उसकी जाति, नाम, कर्म, शिल्प, इत्यादि दस उपायों से कर सकता है। इसके पश्चात्, ये हीन

ओल्डेनबर्ग ने यहां 'मध्यवर्ती जाति' की कल्पना अपने इस सिद्धान्त के बचाव के लिए की है कि उन दिनों वैश्य और शूद्र भी सुसंगठित जातियां थीं। किन्तु यह सन्दिग्ध है। यदि अन्य उपर्युक्त उदाहरणों की भांति शूद्र भी एक निश्चित जाति के रूप में संगठित होते तो उनकी गणना 'हीनजाति' में की जाती और यदि वैश्य एक विशिष्ट जाति के रूप में संगठित होते तो कृषि, वाणिज्य और गोरक्षा को, जो उनके निजी व्यवसाय थे, कर्म की श्रेणी में नहीं रखा जाता। इसके अतिरिक्त मध्यवर्ती और उत्कृष्ट अथवा हीनजाति के मध्य रेखा खींचना कठिन है। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि देश के विभिन्न भागों में उनमें से अनेक उत्कृष्ट अथवा हीन मानी जाती रही होंगी, और यदि मध्यवर्ती जाति वस्तुतः विद्यमान होती तो जाति के सम्बन्ध में भी वह रक्षात्मक उपवाक्य मिलता जो गोत्त, कम्म सिप्प इत्यादि के प्रसंग में पाया जाता है। यह सत्य है कि बौद्ध ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनको सुविधा के लिए प्रयुक्त सामान्य नाम मानना अधिक उचित है। समाज के साधारण विभागों की चर्चा करते समय हर बार वेण, रथकार, पुक्कुस एवं अन्य विविध वर्गों का विस्तार से उल्लेख करना असम्भव नहीं तो अत्यन्त असुविधाजनक अवश्य होता। यदि वैश्य और शूद्र शब्दों को ब्राह्मणों और क्षत्रियों को छोड़कर आबादी के अन्य समस्त विविध तत्वों का वाचक न माना जाए तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जातियों की समानता से सम्बद्ध बुद्ध के मत में अनेक जातियों पर विचार नहीं किया गया है (यथा अस्सलायनसुत्त में)। यह स्वभावतः असम्भव है। अतः हमें यह मानना चाहिए कि यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का उल्लेख करने में बौद्ध ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों का अनुसरण करते हैं, तथापि वे इन शब्दों को केवल सामान्य अर्थ में लेते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाति, नाम, कर्म, इत्यादि हैं, और ये उत्कृष्ट जाति, नाम, कर्म इत्यादि हैं, कहकर उक्त दस उपायों में से प्रत्येक का उल्लेख किया गया है। जाति के अतिरिक्त अन्य समस्त उपायों के सम्बन्ध में यह वस्तुत: उत्कृष्ट और हीन कर्मों, शिल्पों, इत्यादि का उल्लेख करता है और अन्त में कहता है—"और अन्य जो इतर देशों में उत्कृष्ट या हीन समझे जाते हैं।" जाति के विषय में केवल यही कहा गया है, "हीन जातियाँ जैसे चण्डाल, वेण, निषाद, रथकार और पुक्कस; उत्कृष्ट जातियाँ जैसे क्षत्रिय और ब्राह्मण।" "और अन्य जो अन्य देशों में उत्कृष्ट या हीन माने जाते हैं" यह महत्वपूर्ण वचन केवल जाति के विषय में छोड़ दिया गया है, जिससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उत्कृष्ट तथा हीन जातियों की यहाँ दी गई सूची पूर्ण है।

इस प्रकार विनयपिटक के उक्त वचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल वेण, चण्डाल, निषाद और रथकार वास्तविक जातीय वर्गों के रूप में संगठित हो पाए थे, जब कि चर्मकार, कुम्भकार तथा हस्तशिल्पियों के अन्य वर्ग, जिनका कर्म और शिल्प की श्रेणियों में समावेश किया गया है, अभी तक इस परिवर्तन से होकर नहीं गुजरे थे। उनका शिल्प, जाति नहीं, अभी भी उनका विशिष्ट चिह्न है। विनयपिटक, जिससे उपरिलिखित उद्धरण लिया गया है, साधारणत: ई० पू० चतुर्थ शताब्दी का माना गया है। अत: हम निस्संकोच यह मान सकते हैं कि जातीय (जैसे निषाद और पुक्कुस) और औद्योगिक (रथकार, वेण इत्यादि) वर्गों का सामाजिक संघटनों के रूप में परिवर्तन वास्तव में आरम्भ अवश्य हो गया था, किन्तु अभी तक उसने अधिक उन्नति नहीं की थी।

वर्ण-संकर का सिद्धान्त—इन जातियों का क्रमिक निर्माण इस ब्राह्मण-सिद्धान्त से असङ्गत है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शूद्र ये ही चार वर्ण थे जिनमें समाज विभक्त था। इन नवीन जातियों के अस्तित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी, जबकि दूसरी ओर ब्राह्मण अपने को मूर्ख बनाए बिना अपने शास्त्रानुसारी सिद्धान्त में परिवर्तन नहीं कर सकते थे। अतः स्पष्ट ही ऐसा कुछ करना आवश्यक था जिससे उनका सिद्धान्त भी अक्षत बना रहता और साथ ही समाज के नवीन घटकों के आविर्भाव पर भी विचार किया जा सकता।

वह साधन जिसके द्वारा उन्होंने इस लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयत्न किया है 'वर्ण संकर' का सिद्धान्त है, जो चार प्रसिद्ध वर्णों के अतिरिक्त अन्य प्रत्येक जाति के उद्भव को संकरण-नियम के माध्यम से समझाता है। यह सिद्धान्त प्राचीनतम धर्मसूत्रों[1] में पाया जाता है और इसका पूर्ण विकास मनु[2] में दृष्टिगत होता है। इस व्यवस्था की बेहूदगी को स्पष्ट करने के लिए मेरा कुछ लिखना मेरे प्रबुद्ध पाठकों के लिए अपमानजनक होगा। वह बिलकुल स्पष्ट है और जो भी व्यक्ति इसे पढ़ेगा वह उसको भलीभांति समझ सकता है। सेना ने ठीक ही कहा है कि "वर्ण संकर का यह स्पष्टीकरण किसी को कभी धोखा नहीं दे सकता। इसकी पूर्ण असम्भवनीयता इसकी निन्दा के लिए पर्याप्त है[3]।" जौली ने भी यही विचार व्यक्त किया है: "संकर जाति के सिद्धान्त में कृत्रिमता का चिह्न पूर्णतः स्पष्ट है[4]।"

इस सिद्धान्त का ऐतिहासिक महत्व—किन्तु यद्यपि यह

1. **गौतम धर्मसूत्र**, 4, 16 इत्यादि।
2. मनु, 10, 8 और आगे।
3. सेना, **कास्ट्स**, पृ० 121।
4. **ZDMG**, जिल्द 50, पृ० 507।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिद्धान्त विवेक शून्य है और यह व्यवस्था अत्यन्त कृत्रिम है, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। सर्वप्रथम इससे यह सूचित होता है कि आर्य समाज का चार वर्णों में विभाजन आरम्भ से ही पूर्णतः काल्पनिक था, और वैश्य तथा शूद्र शब्दों के अन्तर्गत प्रजा के अनेक न्यूनाधिक विशिष्ट वर्ग सम्मिलित थे, जिन्होंने अन्ततोगत्वा जाति की प्रायः समस्त विशेषताएँ प्राप्त कर लीं। इससे जो दूसरी बात सूचित होती है वह है ब्राह्मण लेखकों की उनके द्वारा विकसित समाज-व्यवस्था को भारत की आबादी के सब विविध तत्वों पर लागू करने की उत्कण्ठा[1]।

जाति के विकास पर वाह्य प्रभाव—प्रश्न के इस उत्तरकालीन पहलू पर कुछ विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है, विशेषतः इस कारण कि यह कुछ सीमा तक औद्योगिक तथा विविध अन्य वर्गों के सामाजिक संघटनों के रूप में क्रमिक विकास को स्पष्ट करता है। यह प्रायः प्रतिपादित किया गया है कि जाति-व्यवस्था एक आभ्यन्तरिक प्राकृतिक विकास है। किन्तु सब परिस्थितियों का पूर्ण विचार करने पर प्रतीत होगा कि इस वक्तव्य में बहुत अधिक सुधार अपेक्षित है। सहज सामूहिक प्रवृत्तियों तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नियमित एकरूपता लाने की भारतीय मस्तिष्क की प्रवृत्ति के अतिरिक्त कमसे कम दो सबल क्रियाशील तत्वों का पता लगाया जा सकता है जिन्होंने इन असंख्य सामाजिक संघटनों के विकास में योग दिया है। मोटे तौर पर इनका वर्गीकरण धार्मिक एवं राजनीतिक तत्वों के रूप में किया जा सकता है।

---

1. तुलनीय ZDMG, जिल्द 51, पृ० 277 में ओल्डेनबर्ग के विचार।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) **धार्मिक प्रचार**––ब्राह्मण ग्रन्थ अपनी जाति के लिए विहित कर्तव्यों के पालन से प्राप्त पुण्य का वर्णन करते हुए कभी नहीं थकते । इस प्रकार आपस्तम्ब धर्मसूत्र[1] में हम पाते हैं : "अपने धर्म का पालन करने पर हीनतर वर्णों के पुरुष उत्तरोत्तर जन्मों में अगले उच्चतर वर्णों में उत्पन्न होते हैं[2] ।" गौतम धर्म सूत्र में इस प्रकार कहा गया है : "(विभिन्न) वर्णों और आश्रमों के (जो पुरुष) सदा अपने धर्म के अनुसार रहते हैं वे मृत्यु के पश्चात् अपने कृत्यों का फल प्राप्त करते हैं, इत्यादि··· ।" कौटिल्य कहते हैं कि "स्वधर्म पालन से स्वर्ग और अनन्तता की प्राप्ति होती है[3] ।" मनु[4] के अनुसार, "आपत्काल में चार वर्णों के धर्मों (कर्त्तव्यों) का सम्यक् पालन करने वाले परम गति को प्राप्त होते है ।" इसके विपरीत धर्मशास्त्र जाति-धर्मों की उपेक्षा करने वालों के जीवन में गम्भीर विपदाओं के आने की भविष्य-वाणी करते हैं । आपस्तम्ब[5] कहते हैं कि "स्वधर्म की अवहेलना करने पर उच्चतर वर्णों के पुरुष अगले हीनतर वर्ण में जन्म लेते हैं ।" मनु के अनुसार, "स्वधर्म से च्युत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र क्रमशः वमन की हुई वस्तुओं को खाने वाला उल्कामुख प्रेत, अमेध्य वस्तुओं और शव को खाने वाला कटपूतन प्रेत, पीव को खानेवाला मैत्राक्ष-ज्योतिक प्रेत तथा कीटभोजी कैलासक प्रेत बनते हैं[6] ।"

---

1. **आपस्तम्ब**, 2,11,10; 2,2,3 ।
2. **गौतम**, 11,29 ।
3. **अर्थशास्त्र**, अधि० 1, अध्याय 3 । मूलग्रन्थ के 'स्वधर्म' शब्द का आशय वस्तुतः किसी व्यक्ति के अपनी जाति के कर्तव्यों से है ।
4. **मनु**, 10,130 ।
5. **आपस्तम्ब**, 2.11, 11 ।
6. **मनु**, 12,71,–72 ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) **राजनीतिक शक्ति**—किन्तु जाति-धर्मों के समुचित संरक्षण के लिए ब्राह्मणों ने केवल इन शास्त्राज्ञाओं का ही आश्रय नहीं लिया। इन नियमों को भी कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने राजसत्ता को कुछ निश्चित अधिकार प्रदान किए[1]। उदाहरणार्थ, आपस्तम्ब राजा को जाति-धर्मों का उल्लंघन करने वालों को मृत्युदण्ड तक देने का आदेश देते हैं। गौतम भी राजा को ऐसे लोगों को दण्ड देने का अधिकार देते हैं[2]। कौटिल्य[3]प्रतिपादित करते हैं कि राजा प्रजा को कभी स्वधर्म से विचलित नहीं होने देगा। मनु[4] ने भी कहा है कि "(राजा) को वैश्यों और शूद्रों को अपने कर्म करने के लिए बाध्य करना चाहिए, क्योंकि इन दोनों (वर्णों) के अपने कर्मों से च्युत होने पर (सम्पूर्ण) जगत् क्षुब्ध हो जाता है।" विष्णु[5] और याज्ञवल्क्य[6] संहिताओं में भी इसी प्रकार के नियमों का निर्देश है। शुक्रनीतिसार[7] भी उसी स्वर में कहता है : "प्रत्येक जाति को अपने लिए विहित तथा पूर्वजों द्वारा आचरित धर्मों का पालन करना चाहिए, अन्यथा उसे राजा द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए।" राम द्वारा शूद्र शम्बूक का वध, जो रामायण में वर्णित है, एक प्रतिनिधिभूत उदाहरण के रूप में उद्धृत

---

1. **आपस्तम्ब,** 2,10,12–16; 2,11,1–4; 2,27,18 ।
2. **गौतम,** 11,31 ।
3. **अर्थशास्त्र,** अधि० 1, अध्याय 3 ।
4. **मनु,** 8,418 ।
5. **विष्णु,** 3,2 ।
6. **याज्ञवल्क्य,** 1,360 ।
7. अध्याय 4, परिच्छेद 4, श्लो० 82–83 । विनयकुमार सरकार का अंग्रेजी अनुवाद ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया जा सकता है। गौतमी बलश्री का नासिक गुहालेख भी जाति-सम्बन्धी नियमों में राजकीय हस्तक्षेप का एक मूर्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस अभिलेख में राजा गौतमीपुत्र के गुणों की सूची में इस तथ्य का भी समावेश है कि उसने चार वर्णों के संकर को रोका[1]।

इस प्रकार जाति-नियम प्रजा पर इहलोक और परलोक में दण्ड का भय दिखा कर लागू किए गए थे। अतः अन्य राजनीतिक अथवा औद्योगिक संघटनों के विपरीत यदि सामाजिक संघटनों ने क्रम से अधिकाधिक पूर्णता प्राप्त की और अब तक अपना अस्तित्व बनाए रखा तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। सामाजिक संघटनों पर आरोपित धार्मिक स्वरूप न केवल सम्पूर्ण देश में उनके द्रुत प्रसार को प्रत्युत उनकी चिरस्थायिनी ग्रहणशक्ति और कठोरता को भी भलीभांति स्पष्ट करता है, जिनके कारण वे श्रेणियों अथवा गणों के बाद भी दीर्घकाल तक जीवित रहे, यद्यपि इन तीनों का मूल समान सहज प्रवृत्तियों में निहित था।

§ १०

जातिनामक सामाजिक संघटन का स्वरूप एवं व्यवस्था—अब हम उस विकास का इतिहास समाप्त कर चुके हैं जिसने अन्ततोगत्वा भारतीय जनता को अनेक न्यूनाधिक संश्लिष्ट एवं कठोर सामाजिक संघटनों में विभक्त कर दिया। अब मेरे लिए केवल इन संघटनों के स्वरूप एवं व्यवस्था के विषय में कुछ और कहना शेष है।

इन संघटनों का आधार जन्म है, व्यवसाय नहीं—इन संघटनों का स्वरूप सम्प्रति साधारण ज्ञान का विषय है और यह मानना

1. एपि, इण्डि० जिल्द 8, पृ० 60–61।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निराधार नहीं है कि आधुनिक काल में नियमों के पालन में शिथिलता को छोड़ कर इसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। जन्म का बन्धन ही इस संघटन का आधार था और विशेषतः भोजन, विवाह तथा समाज के अन्य वर्गों के साथ सम्बन्धों के विषय में विहित अनेक नियम उसके सदस्यों को एक सूत्र में बाँधनेवाले प्रमुख तत्व थे। इन नियमों के अतिक्रमण के लिए अपराधी को अपराध की गम्भीरता के अनुपात से साधारण प्रायश्चित्त से लेकर संघटन से निष्कासन तक का दण्ड दिया जा सकता था। इन संघटनों में से अनेक औद्योगिक वर्गों से विकसित हुए थे। फलस्वरूप कुछ विशिष्ट व्यवसाय भी उनसे स्वभावतः सम्बद्ध माने जाने लगे हैं। किन्तु यह सन्दिग्ध है कि उन्होंने कभी भी इन सामाजिक संघटनों के निबन्धक तत्व अथवा आधार का काम किया हो। दूसरे शब्दों में यह सम्भव है कि आजकल की भांति कोई पुरुष अपनी जाति के विशिष्ट व्यवसाय को छोड़ कर अथवा अन्य व्यवसाय को अपना कर भी अपनी जाति से वंचित न होता हो। वह तब तक अपनी जाति में बना रहता जब तक उपरिलिखित नियमों का पालन करता रहता। इसके विपरीत इन नियमों के उल्लंघन के अपराध से वह इस कारण बरी नहीं किया जा सकता था कि वह निष्ठापूर्वक अपने आनुवंशिक व्यवसाय का अनुसरण कर रहा था। इसकी पुष्टि मनु के प्रायः उद्धृत वचनों (3,151 इत्यादि) से होती है। इनसे सूचित होता है कि उच्चतम वर्ण भी वर्ण-व्यवस्था के इस पहलू के प्रति पूर्णतः उदासीन था, यहाँ तक कि ब्राह्मण दूकान करने, मांस बेचने, सूदखोरी, पशु-पालन तथा रंगमंच पर अभिनय-जैसे व्यवसाय भी करते थे; किन्तु इतने पर भी उनकी जाति बनी रहती थी। ऐसा भी नहीं लगता कि वे किसी पाप से ग्रस्त माने जाते रहे हों, क्योंकि उनकी गणना अपराधों की लम्बी सूची में नहीं की गई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है (मनु, 11,1–71[1]), जिनके लिए प्रायश्चित करना आवश्यक था। मनुस्मृति में इस बात की भी अनुमति दी गई है कि जो व्यक्ति अपनी जाति के लिए विहित विशिष्ट व्यवसाय से अपनी जीविका चलाने में असमर्थ हो वह निम्नतर वर्णों के लिए निर्दिष्ट व्यवसाय का अनुसरण कर सकता है। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के व्यवसायों का अनुसरण कर सकता था; क्षत्रिय वैश्य के और वैश्य शूद्र के, जब कि समान परिस्थितियों में शूद्र हस्तशिल्प द्वारा अपना निर्वाह कर सकता था[2]। ये निस्सन्देह शिल्प और व्यवसायों की परिवर्तनीयता की ओर संकेत करते हैं, जो इस धारणा से पूर्णतः असंगत है कि व्यवसाय सामाजिक संघटनों का निबन्धक तत्व अथवा आधार था। यद्यपि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने जनता के निश्चित वर्गों के अन्तर्गत बड़ी सीमा तक व्यवसाय की स्थिरता को कायम रखा, किन्तु इस विशेषता का कारण सामाजिक संघटन नहीं प्रत्युत वह आरम्भिक औद्योगिक संगठन है जिससे उनका उद्भव हुआ।

प्राचीन धर्मशास्त्र जातियों को अन्य संघटनों से सम्बद्ध करते हैं[3]। इन सामाजिक निगमों का संगठन उसी योजना पर आधारित प्रतीत होता है जिसको श्रेणि-प्रभृति अन्य निगमों ने अपनाया

---

1. मनु 10,92 में यह अवश्य कहा गया है कि मांस बेचने से ब्राह्मण तत्काल जातिहीन हो जाता है, किन्तु मनु, 3,152 को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि यह नियम वस्तुतः लागू किया गया था।
2. **मनु**, 10,81–83; 98–99।
3. **याज्ञवल्क्य**, 1,361—कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान् जानपदांस्तथा— में यह विशेष रूप से विचारणीय है। तुलनीय **गौतम**, 11; मनु 8,41, 219–221।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था । श्रेणियों के सन्दर्भ में इस विषय पर पूर्ण विचार किया जा चुका है, जिसे यहाँ दुहराना आवश्यक नहीं है । गौतम धर्मसूत्र (11, 20) और मानवधर्मशास्त्र (8, 41, 46) में जातियों द्वारा विहित नियमों के प्रामाणिक स्वरूप का उल्लेख है । वे राज्य में पहली बार अपराधियों के मुकदमों के लिए नियमित न्यायालयों का काम करती थीं[1] तथा पृ० 42 (पाद टिप्पणी 2) पर उद्धृत श्लोक में इस प्रकार के संघटन पर धार्मिक स्वरूप का आरोप किया गया है ।

किन्तु इस सम्बन्ध में सबसे अधिक मनोरंजक तथ्य यह है कि इस प्राचीन संगठन की स्मृति आज भी विद्यमान है । मुखिया, कार्यकारिणी समिति और सभा अब तक भी विद्यमान हैं तथा उनमें से प्रत्येक के द्वारा प्रयुक्त शक्ति कानूनी रूप से वैध मानी जाती है । सेना ने इस संगठन के आधुनिक स्वरूप का अत्यन्त मनोरंजक विवरण प्रस्तुत किया है[2] । और उसको पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में वर्णित प्राचीन भारतीय निगमों के संगठनके साथ इसकी समानता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता ।

§ ११

सामाजिक जीवन में संघटित प्रवृत्ति के अन्य रूप—जातीय वर्गों की रचना के अतिरिक्त, संघटक गतिविधि सामाजिक जीवन में अन्य अनेक रूपों में भी अभिव्यक्त हुई । उनमें से प्रत्येक का विस्तार से वर्णन करना प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रयोजन के अनुरूप नहीं है । अतः यहाँ मैं कुछ प्रतिनिधिभूत उदाहरणों की ओर संकेत मात्र करूँगा ।

---

1. पृ० 62 पर दिए हुए उद्धरण देखिए । इन वचनों में व्यवहृत 'कुल' शब्द का आशय जाति के एक उपविभाग से ही है ।
2. सेना, **कास्ट्स**, पृ० 73, 83 । इस ग्रन्थ का पृ० 86 भी देखिए ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिक्षा-संस्थाएं--सर्वप्रथम शिक्षा के सम्बन्ध में नालन्दा विश्वविद्यालय-जैसे विशाल संगठनों से लेकर ग्राम की लघुतम संस्था तक में संघटित प्रवृत्ति सर्वत्र स्पष्ट थी । इस प्रकार लोसक जातक (1,234) से विदित होता है कि ग्रामवासियों ने एक अध्यापक को उसका व्यय देकर तथा उसके निवास के लिए एक कुटी की व्यवस्था करके नियुक्त किया । इसी प्रकार वाराणसी और तक्षशिला-जैसे नगरों में विशाल संगठन थे, जिनका प्रबन्ध अधिकांश में सार्वजनिक सहकारिता के द्वारा होता था । उदाहरणार्थ, हम उक्त जातक में पढ़ते हैं कि बोधिसत्व वाराणसी के विश्वविश्रुत अध्यापक थे । वे पाँच सौ युवा ब्राह्मणों को पढ़ाते थे । "उन दिनों वाराणसी के लोग निर्धन बालकों को भोजन की आवश्यक वस्तुएँ देते और उनके अध्यापन की निश्शुल्क व्यवस्था करते थे ।" तित्तिर जातक (3, 537) सार्वजनिक सहकारिता तथा इस संस्था के संघटित स्वरूप का एक अति सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है । उसमें कहा गया है कि "वाराणसी का एक विश्वविश्रुत आचार्य पाँच सौ युवा ब्राह्मणों को विद्याओं की शिक्षा देता था । एक दिन उसने सोचा: "जब तक मैं यहाँ रहूँगा मेरे धार्मिक जीवन में बाधाएँ आएंगी और मेरे शिष्य भी अपने अध्ययन में पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकेंगे । अतः मैं हिमालय की उपत्यकाओं पर वन में जाकर अपना अध्यापन कार्य चालू रखूँगा ।" उसने अपने अन्तेवासियों से इस बात की चर्चा की और उन्हें तिल, निस्तुष चावल, तेल, वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं को लाने का आदेश देकर वह वन में गया जहाँ उसने पत्तियों की झोपड़ी बनाकर रजामार्ग के निकट रहना आरम्भ किया । उसके विद्यार्थियों में से प्रत्येक ने अपने लिए एक कुटी बनाई । उनके सम्बन्धियों ने चावल आदि भेजा और ग्रामवासी यह कहते हुए कि "लोग कहते हैं कि एक आचार्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वन पर अमुक स्थान पर रहता है और विद्या पढ़ा रहा है" धान की भेंट लाए, और वनवासियों ने भी अपने उपहार दिए, जब कि एक व्यक्ति ने दूध के लिए एक दुधारी गाय और बछड़ा दिया ।" इस प्रकार की संघटित शिक्षासंस्थाओं की चर्चा जातकों में मिलती है । उदाहरणार्थ देखिए—4,391; 1,317, 402, 447, 463, 510; 3,122; 2,48; 5,128, 457 । इनमें से प्रथम दो उदाहरण स्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं कि विद्यार्थी सहभोजन करते और एक संगठित निकाय के रूप में अध्यापक के तत्वावधान में रहते थे, जब कि अन्तिम तीन उदाहरणों से स्पष्ट है कि इन संस्थाओं का प्रबन्ध आंशिक रूप से समाज के सम्पन्न सदस्यों के पुत्रों द्वारा दिए हुए शुल्क से होता था । यह उल्लेख्य है कि विद्या के इन केन्द्रों में केवल वेदादि धर्मग्रन्थ ही नहीं प्रत्युत विविध लौकिक कलाओं और विद्याओं का भी अध्ययन-अध्यापन होता था[1] ।

जातकों का यह विवरण ब्राह्मण-ग्रन्थों से उपलब्ध सूचना के पूर्णतः अनुरूप है । गुरुकुल में ब्रह्मचारी के जीवन के सम्बन्ध में प्राचीन धर्मशास्त्रों में विहित नियम जातकों में प्रतिबिम्बित शिक्षण-संस्थाओं के संघटित स्वरूप के पूरी तरह अनुकूल हैं ।

इसमें सन्देह नहीं कि नालन्दा विश्वविद्यालय-जैसी संस्थाओं का विकास तित्तिर जातक में आलेखित पद्धति पर हुआ था । उनका उद्भव सम्भवतः अति प्राचीन काल में ही हो चुका था । बृहदारण्यकोपनिषद् में पाञ्चालों की समिति का उल्लेख मिलता है । सन्दर्भ से स्पष्ट है कि वह एक शिक्षासंस्था थी ।

उपनिषदों के युग से लेकर नालन्दा और विक्रमशिला के

---

1. फिक, पृ०130 और आगे; जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, 1916, पृ० 17 और आगे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विनाश काल तक भारत में अनेक अन्य विश्वविद्यालय फूले-फले, किन्तु दुर्भाग्यवश उनके सम्बन्ध में हमारी जानकारी अत्यल्प है ।

दक्षिण भारत के विशाल शिक्षा संगठनों की चर्चा पहले की जा चुकी है[1], तथा इस प्रकार के उदाहरण विरल नहीं हैं । किन्तु नालन्दा विश्वविद्यालय भारतीय शिक्षण संस्थाओं का शिरोमणि था, जिसका कुछ विस्तृत विवरण समसामयिक चीनी यात्रियों की रचनाओं में प्राप्त होता है[2] ।

दस हजार सदस्यों के इस विशाल निकाय को शिक्षा के क्षेत्र में एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण तथा प्राचीन भारतीय जनता की सहज सामूहिक प्रवृत्तियों की सबसे अधिक सफल उपलब्धियों में से एक मानना पूर्णतः न्यायसंगत है ।

गोष्ठी–गृह, सामाजिक समागम इत्यादि—ये ही सहज प्रवृत्तियाँ मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद-जैसी लघु बातों में भी प्राचीनतम काल से ही दिखाई पड़ती हैं । ज़िमर ने स्पष्ट कर दिया है कि वैदिक काल में सभा, गम्भीर कार्य-कलाप समाप्त होने पर, आधुनिक गोष्ठी–गृहों का काम करती थी[3]। वेदोत्तर काल में हमें 'समाज' अथवा 'समज्जा' नामक संस्था की चर्चा मिलती है जो इसी प्रयोजन के लिए अभिप्रेत प्रतीत होती है । चुल्लवग्ग, 5,2,6 तथा

---

1. ऊपर पृ० 192 और आगे ।
2. **काइन्स आफ हुएन-त्सांग** (बीलकृत अंग्रेजी अनुवाद) पृ० 105–106, **वाटर्स आन युआन च्वांग**, जिल्द 2, पृ० 164–169; **इ–त्सिंग का विवरण** (जे० तकाकुसु का अंग्रेजी अनुवाद) पृ० 65 86, 145, 154, 177–78 ।
3. **अल्तिंदिशे लेबेन**, पृ० 172 और आगे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिगालोवाद सुत्तन्त[1] से यह स्पष्ट है कि नृत्य, गीत और संगीत के अतिरिक्त एक प्रकारके नाटकीय प्रयोग (अक्खान)[2] तथा नटों और ऐन्द्रजालिकों के अद्‌भुत प्रदर्शन भी इन लोकप्रिय संस्थाओं के कार्यक्रमों में सम्मिलित थे। जैन[3] तथा ब्राह्मण[4] ग्रन्थों के कतिपय वचनों से यह पूर्णत: स्पष्ट है कि ये समागम कुछ निश्चित स्थलों पर नियमित रूप से होते थे।

परवर्ती काल में ये सामाजिक समागम 'गोष्ठी'[5] कहलाने लगे। वात्स्यायन ने इसका वर्णन कुछ विस्तार से किया है[6]। यह आधुनिक काल के क्लबों से बहुत समानता रखती थी। गोष्ठी एक निश्चित भवन में जमती थी, जहाँ लोग संगीत, नृत्य, पान तथा साहित्य और कलाओं के विषय में विभिन्न प्रवचनों से अपना मनोरंजन करने के लिए सायंकाल एकत्रित होते थे। कभी:कभी उद्यानगोष्ठियों तथा किसी सदस्य के निवासस्थान पर पानगोष्ठियाँ भी होती थीं। ये

---

1. **ग्रिम्बलोट् 'सेप्ट सुत्तज पालिस'** पृ० 300।
2. तुलनीय **बुद्धिस्ट इंडिया,** पृ० 185।
3. 'समाज' का उल्लेख ऐसे स्थानों की सूची में है जहां जैन भिक्षु जा सकता था। (याकोबी, **जैन सूत्र,** जिल्द २, पृ० 177)।
4. भीष्म 'समाज' की गणना ऐसे स्थलों की सूची में करते है जहां विदेशी गुप्तचर पाए जाते हैं (शान्तिपर्व, 69,11)।
5. अमरकोष 'समज्या' को गोष्ठी का एक पर्याय बताता है। यह पालि 'समज्ज' का संस्कृत रूप प्रतीत होता है। इस प्रकार कई अर्थों में गोष्ठी पालि ग्रंथों के 'समज्ज' की प्रतिनिधि है। इन दोनों शब्दों को व्युत्पत्तियों से इन संस्थाओं की लोकप्रियता भलीभांति स्पष्ट है। इस प्रकार क्षीरस्वामी के अनुसार "समजन्ति मिलन्त्यस्यां समज्या" और "गावो नानोक्तयस्तिष्ठन्त्यस्यां गोष्ठी।"
6. **कामसूत्र,** अध्याय 4, पृ० 47 और आगे (चौखम्बा संस्करण)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्थाएँ स्पष्ट ही स्वस्थ मनोरंजन एवं विश्राम के लिए अभिप्रेत थीं और इस बात की सावधानी बरती जाती थी कि वे विद्वत्सभाओं अथवा ग्राम्य सभाओं में परिणत न हो जाएँ। निम्नलिखित श्लोक से यह बात स्पष्ट हो जाती है —

"नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया ।
कथां गोष्ठीषु कथयंल्लोके बहुमतो भवेत् ।"

अगले श्लोक से ज्ञात होता है कि उन्हें ईर्ष्या अथवा घृणा के केन्द्र बनने से बचाने के लिए उचित कदम उठाए जाते थे—

"या गोष्ठी लोकविद्विष्टा या च स्वैरविसर्पिणी ।
परहिंसात्मिका या च न तामवतरेद् बुधः ।।"

'स्वैरविसर्पिणी' शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है कि अधिक सम्मानित गोष्ठियाँ आधुनिक क्लबों की भांति अपने सदस्यों के निर्देशन के लिए नियम निर्धारित करती थीं।

इन संस्थाओं का एक और पहलू भी था। वात्स्यायन ग्रामवासियों को नागरिक जनों का अनुकरण कर गोष्ठी आरम्भ करने का सुझाव देता है। ये गोष्ठियाँ (संगीत, नृत्य, नाटकीय प्रयोग इत्यादि द्वारा) उनका मनोरंजन ही नहीं करती थीं प्रत्युत उन्हें उनके कार्यों में सहायता देतीं तथा उन पर अन्य उपकार करती थीं[1]। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस संस्था के संघटित स्वरूप का उपयोग सार्वजनिक उपयोगिता के, विविध कार्यों में भी किया जाता था।

समाजसेवा—प्राचीन भारत के संघटित जीवन की यह वस्तुतः एक महत्वपूर्ण विशेषता है। अर्थशास्त्र के ऊपर उद्धृत

---

1. "जनमनुरञ्जयेत् कर्म्मसु च साहाय्येन चानुगृह्णीयादुपकरयेच्चेति" (पृ० 57)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वचनों (पृ० 133–34) से यह स्पष्ट सूचित होता है कि उन दिनों लोग सार्वजनिक हित के कार्य करने के अभ्यस्त थे। बोधिसत्व के निर्देशन में तीस ग्रामवासियों की गतिविधि का निम्नलिखित विवरण प्राचीन भारत के लोगों की भावना का एक आदर्श उदाहरण माना जा सकता है।

"इन तीस पुरुषों को बोधिसत्त्व ने अपने साथ समान-चित्त बनाया। उनको पञ्चशील में प्रतिष्ठित किया और तब से वे उनके साथ पुण्यकर्म करते हुए विचरण करने लगे। और वे भी सदा बोधिसत्त्व के साथ पुण्यकर्म करते हुए शीघ्र जाग कर और अपने हाथों में छुरे, कुल्हाड़ियाँ और गदा लेकर यात्रा पर निकल पड़ते। अपनी गदाओं से वे उन सब पत्थरों को मार्ग से दूर हटाते जो चार राजमार्गों और ग्राम की अन्य सड़कों पर पड़े रहते थे; रथों के धुरों से अड़ने वाले वृक्षों को वे काटते, विषम स्थानों को वे समतल बनाते। उन्होंने पुल बनाए, जलाशय खोदे और मण्डप का निर्माण किया। उन्होंने दानधर्म किया और पाँच शीलों का पालन किया। इस प्रकार ग्रामवासियों ने बोधित्त्व की शिक्षाओं का अनुसरण किया और शीलों का पालन किया[1]।"

इस कथा के प्रसंग में कहा गया है कि उक्त पुरुषों ने एक विशाल सार्वजनिक कक्ष का निर्माण किया। अब वे उसके ऊपर रखने के लिए शिखर चाहते थे। उन्होंने उसे एक स्त्री के अधिकार में पाया, किन्तु वे किसी भी मूल्य पर उससे नहीं खरीद सके। स्त्री ने कहा "यदि आप मुझे इस शुभ कार्य में साझीदार बना सकें तो मैं आपको यह शिखर बिना मूल्य दे दूँगी।" इसे स्वीकार कर उन्होंने शिखर प्राप्त किया और भवन को पूरा किया।

---

1. जातक, जिल्द 1, पृ० 199।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह प्रासङ्गिक कथा प्राचीन भारत में पुरुषों और स्त्रियों को समान रूप से प्रेरित करने वाली संघटित भावनाओं को, किसी भी अन्य कथन की अपेक्षा, अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विशिष्ट शब्दावली (Glossary)

Account	लेखा
Joint account	सम्मिलित खाता
Agreement	सहमति, करार
Violation of agreement	संविद् व्यातिक्रम, करार का उल्लंघन
Alderman	ज्येष्ठक, जेट्ठक
Army of a guild	श्रेणिवल
Articles of Association	संस्था-धाराएं
Artisan	शिल्पी
Assembly	सभा
Legislative Assembly	विधान सभा
Banker	श्रेष्ठि
Barter	वस्तु-विनिमय
Carvan	सार्थ
Carvan-Chief	सार्थवाह
Coastal Trade	समुद्रतटीय व्यापार
Co-Operation	सहकारिता
Copper-Plate	ताम्रपत्र
Constitution	संविधान
Corporate	संघटित, संघटक
Corporation	संघटन, संघ
Corporation of artisans	शिल्पिसंघ
Political Corporation	गण
District Corporation	जिला संघ
Village Corporation	ग्राम संघ
Council	परिषद्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Buddhist Council	बौद्ध परिषद्
Council of Elders	अग्रजन-परिषद्
Council of Ministers, Privy Council	मंत्रि परिषद्
Town Council	निगम सभा (नासिक अभिलेख)
Communal gift	सांप्रदायिक दान
Department	विभाग
Democracy	गणतंत्र
Democratic	गणतंत्रात्मक, लोकसत्तात्मक
Distribution	विभाजन
Divisional administration	प्रादेशिक शासन
Economic	आर्थिक
Election	चुनाव, निर्वाचन
Endowment	धर्मदाय
Exchange	विनिमय
Export	निर्यात
Executive Officer	प्रबंध अधिकारी
Federation	संघात
Federal state	राज्यसंघ
Fixed deposit	अक्षयनीवि
Guild	श्रेणि, निगम
Chief of guild	श्रेणिमुख्य
Usages of a guild	श्रेणिधर्म
Inscription	अभिलेख, उत्कीर्ण लेख
Intermediary	मध्यस्थ
Internal Autonomy	आंतरिक स्वायत्तता
Irregular troops	चाट-भाट
International	अन्तरराष्ट्रीय
Import	आयात

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Interim	अंतरिम
Industry	शिल्प
Institution	संस्था
Joint family	सम्मिलित कुटुंब
Joint stock	मिश्रित पूंजी
Joint transaction of Business	संभूय समुत्थान (नारद स्मृति)
Justice	न्याय
Administration of justice	व्यवहार (दामोदरपुर अभिलेख)
Court of justice	न्यायाधिकरण
Law	विधि, कानून
League	संघ
Legal	वैध, कानूनी
Legal code	कानून संहिता
License	अनुमतिपत्र
Monarchy	नृपतंत्र
Monastery	संघाराम, विहार
Monopoly	एकाधिकार
Machine	यंत्र
Merchant	वणिक
Mint	टकसाल
Member	सदस्य
Nationality	राष्ट्रीयता
Obligation	दायित्व
Organisation	संगठन
People	जन
Parliament	लोकसभा
Partner	साझीदार
Partnership	साझा
Potter	कुंभकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Privilege	विशेषाधिकार
Privileged Class	विशेषाधिकारी वर्ग
Port	बंदरगाह
Public Works	सार्वजनिक(या लोक)निर्माणकार्य
Record Keeper	लेखपाल
Record Room	लेखदफ्तर
Registered	पंजीकृत
Regular	अबाधित
Regulation	विनियम
Representative	प्रतिनिधि
Republic	गणराज्य
Reserve fund	स्थायी कोष
Royal Charter	शासकीय आज्ञापत्र
Seal	मुद्रा
Secretariat	केंद्रीय शासन-कार्यालय
Society	समाज
Sovereign Power	प्रभुसत्ता
Store	भंडार
Store Keeper	भांडागारिक
Symbol	लक्षण, अंक
Syndicate	सभा
Territory	क्षेत्र
Trade	वाणिज्य, व्यापार
Trader	व्यापारी, वणिक
Trader's League	वणिकसंघ
Transaction	व्यवहार
Treasury	कोष
Treasurer	कोषाध्यक्ष
Tribute	उपायन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Unit	इकाई
Village headman	ग्रामणी, ग्रामपति
Village jury	पंचायत, पंचमंडली
Village tax collector	ग्रामभोजक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रम संख्या
प्राप्ति तिथि
State Museum Library, Lko.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh